CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद

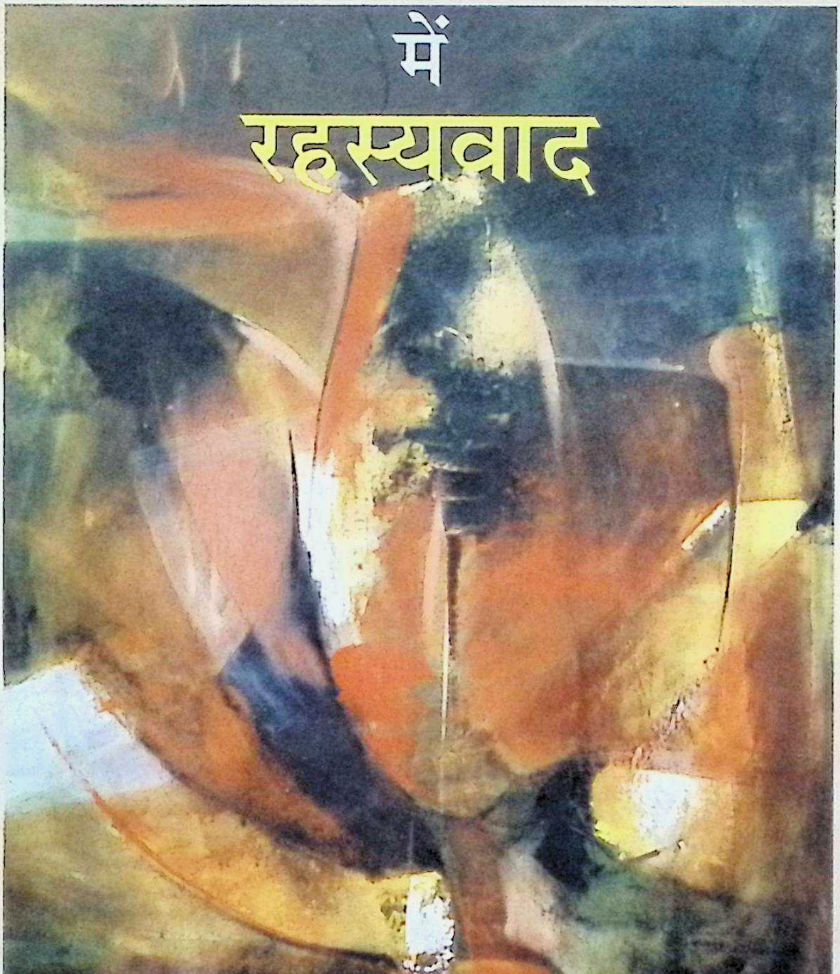

सम्पादक
कल्याणमल लोढ़ा
वसुन्धरा मिश्र

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारतीय एवं भारतीयेतर विचारधारा में रहस्यवाद अत्यन्त प्राचीन काल से ही आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक विवेचन के लिए सर्वमान्य रहा है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में तो धर्म, दर्शन, योग, अध्यात्म में यह सदैव विचाराधीन रहा।

आधुनिक विज्ञान ने अपनी नई गवेषणाओं से रहस्यवाद एवं रहस्यात्मक चिन्तन को ऊर्ध्वचेतना की नई दृष्टि दी है और अनेक वैज्ञानिकों ने इस पर विचार किया है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म की दृष्टि से रहस्यवाद का सम्यक् आकलन ही इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है।

यह ग्रन्थ रहस्यवाद का सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें विभिन्न भारतीय और भारतीयेतर साहित्यों में उपलब्ध रहस्यवाद को विषय विशेष की परिधि में नहीं आकलित किया गया है।

प्राचीन युग से लेकर अर्वाचीन युग तक रहस्यवाद की एक अविच्छिन्न धारा प्रवहमान रही है, जिसने धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति को प्रभावित किया, जो अविवाद्य है। प्राचीन और नवीनता का यह क्रमविकास प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य विषय है।

विभिन्न धर्मों की रहस्यात्मक परम्पराओं में समानता विद्यमान है चाहे वे किसी भी धर्म को मानते हों। सभी रहस्यवादी, आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही गोत्र के हैं, एक ही जाति के अन्तर्गत आते हैं। रहस्यवाद आत्मा का धर्म है और ब्रह्म का साक्षात्कार। मनुष्य जाति की सर्वोच्च उपलब्धि है अति श्रेष्ठ स्थान, आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर पहुँचना।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद

सम्पादक
कल्याणमल लोढ़ा
वसुन्धरा मिश्र

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

DHARMA, DARSHAN AUR VIGYAN MEIN

RAHASYAVAD

Edited by

Prof. K. M. Lodha

&

Vasundhara Mishra

ISBN : 81-7124-324-X

प्रथम संस्करण : 2002 ई०

मूल्य : 250.00

आवरण : रेखा के० राणा

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 353741, 353082

E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vecppl@satyam.net.in

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय-क्रम

अध्याय		पृष्ठ
प्रस्तुत ग्रंथ		v
दो शब्द	*गौरीशंकर कायाँ*	xi
1. रहस्यवाद : अध्यात्म और विज्ञान : आधुनिक दृष्टि	*कल्याणमल लोढ़ा*	1
2. अतीन्द्रियवाद	*प्राणगोपाल मुखोपाध्याय*	32
3. वैज्ञानिक रहस्यवाद का आदिकाल मिथक : उषा-सूक्त	*प्रकाश परिमल*	47
4. उपनिषदों में रहस्यवाद	*रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे*	58
5. रहस्यवादी दृष्टिकोण : एक विवेचन	*एस० राधाकृष्णन्*	75
6. रहस्यवाद का रहस्य और ज्योतिवाद	*शुकदेव सिंह*	81
7. संस्कृत-साहित्य में रहस्य-दर्शन	*जयशंकर त्रिपाठी*	96
8. आगमिक रहस्यवाद	*शीतलाप्रसाद पाण्डेय*	109
9. युगल उपासना का रहस्य	*भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'*	121
10. बौद्ध सिद्ध-काव्य में रहस्यानुभूति	*वसुन्धरा मिश्र*	148
11. जैन धर्म में रहस्यवाद	*पुष्पलता जैन*	161
12. सूफी मत : प्रेम का पथ	*मोबारक करीम जावहर*	180
13. मसीही धर्म में रहस्यवाद	*एलरिक बारलो शिवाजी*	197
14. सिख दर्शन एवं अध्यात्म में रहस्यवाद	*लखबीर सिंह 'निर्दोष'*	203
15. श्री अरविन्द का अतिमानस तत्त्व और चिन्मयपुरुष	*इन्द्रसेन*	218
16. धर्म और दर्शन में रहस्यवाद	*राममूर्ति त्रिपाठी*	257
17. रहस्यवाद और समाज	*गशमि स्कॉलेम*	262
18. आधुनिक भौतिक विज्ञान और प्राच्य रहस्यवाद	*वसुन्धरा मिश्र*	284
19. लेखक परिचय		302

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रस्तुत ग्रंथ

किसी भी ग्रन्थ का औचित्य सिद्ध करने के लिए अनुबन्ध-चतुष्ट्य आवश्यक है, जिससे उस ग्रन्थ का उद्देश्य, विषय-सम्बन्ध और प्रयोजन स्पष्ट हो सके—

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

—सदानन्द (*वेदान्तसार*)

ये अनुबंध-चतुष्ट्य हैं—अधिकारी, विषय, संबंध और प्रयोजन। प्रस्तुत ग्रन्थ के अधिकारी वे विद्वान् एवं समीक्षक हैं, जिन्होंने रहस्यवाद विषय पर अपना गहरा चिन्तन व्यक्त किया और प्रस्तुत ग्रन्थ में उसके औचित्य पर भी विचार किया। जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का प्रश्न है, उसे स्पष्ट करना आवश्यक है।

भारतीय एवं भारतीयेतर विचारधारा में रहस्यवाद अत्यन्त प्राचीन काल से ही आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक विवेचन के लिए सर्वमान्य रहा है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में तो धर्म, दर्शन, योग, अध्यात्म में यह सदैव विचाराधीन रहा। यों तो हिंदी और हिंदीतर साहित्य में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और उनका विवेचनात्मक अध्ययन अनेक दृष्टियों से किया गया है, अतः प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ की प्रस्तुति किस प्रकार नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है।

आधुनिक विज्ञान ने अपनी नई गवेषणाओं से रहस्यवाद एवं रहस्यात्मक चिन्तन को ऊर्ध्वचेतना की नई दृष्टि दी है और अनेक वैज्ञानिकों ने इस पर विचार किया है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म की दृष्टि से रहस्यवाद का सम्यक् आकलन ही इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है।

विषय-चयन की दृष्टि से यह ग्रन्थ रहस्यवाद का सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक और समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें विभिन्न भारतीय और भारतीयेतर साहित्यों में उपलब्ध रहस्यवाद को विषय विशेष की परिधि में नहीं आकलित किया गया है। डॉ० शोभारानी बसु ने अपने ग्रन्थ 'मॉडर्न इण्डियन मिस्टिसिज्म' के तीन खण्डों में इस पर पूर्णरूपेण विचार किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ का प्रयोजन यह भी है कि विभिन्न विचारों और अभिमतों के माध्यम से रहस्यवाद के संदर्भ और उनमें प्राप्त तथ्यों को समेटकर उन्हें 'घनत्व' प्रदान करना, जिससे एक क्रम शृंखला स्पष्ट हो सके। योगवाशिष्ठ (2-14-52) में लिखा है, "न विचारादृते तत्त्वं शायते साधु किञ्चन।" अर्थात् बिना विचारे किसी भी तत्त्व को अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। रहस्यवाद, रहस्यवादी चिन्तकों और योगियों पर कुछ विद्वानों ने यह आक्षेप भी किया है कि उनकी उपलब्धि नितान्त वैयक्तिक है, जिसकी प्रामाणिकता की परख नहीं हो सकती और न उनका कोई सामाजिक सरोकार है अथवा साहित्य और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संस्कृति के निर्माण में कोई योगदान। इस आक्षेप का उत्तर भी अनेक विद्वानों ने दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह और अधिक स्पष्ट और संसिद्ध है। प्राचीन युग से लेकर अर्वाचीन युग तक रहस्यवाद की एक अविच्छिन्न धारा प्रवहमान रही है, जिसने धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति को प्रभावित किया, जो अविवाद्य है। प्राचीन और नवीनता का यह क्रमविकास प्रस्तुत ग्रन्थ प्रतिपादित कर सकेगा, यह हमारी धारणा है।

विभिन्न धर्मों की रहस्यात्मक परम्पराओं में समानता विद्यमान है चाहे वे किसी भी धर्म को मानते हों। सभी रहस्यवादी, आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही गोत्र के हैं, एक ही जाति के अन्तर्गत आते हैं। रहस्यवाद आत्मा का धर्म है और ब्रह्म का साक्षात्कार। मनुष्य जाति की सर्वोच्च उपलब्धि है अति श्रेष्ठ स्थान, आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर पहुँचना।

सर्वोच्च ज्ञान यही है कि हम आत्मा को जानें·'आत्मानं विद्धि'। उपनिषदों में आत्मा मौलिक आत्मा, शुद्ध 'विद्या' के रूप में मानी गई है जो हमारी शारीरिक दशाओं और मानसिक घटनाओं से भिन्न है। आत्मा परिवर्तनों की धारा का आधार एवं चरम प्रकाश है जिसे हम देखते और सुनते हैं, चिन्तन और मनन करते हैं (छांदोग्य उपनिषद्, वल्ली 8, मंत्र 7-12)। आत्मा अहं से परे की वस्तु मानी गई है भौतिक शरीर तो उसका एक मुखौटा-मात्र है। आत्मा को चिरन्तन मौन दर्शक कह सकते हैं, जिसकी ज्योति की शक्ति को कोई नहीं बुझा सकता। सत्य, सुन्दर और शिव है जिसे हम अज्ञानवश नहीं देख पाते। इस अज्ञान पर ज्ञान का प्रकाश पड़ने पर हमारी चेतना जीवन के बुनियादी सिद्धान्तों से रू-ब-रू होती है। यही वह रहस्यात्मक गहराई है जहाँ आत्मा स्वयं को देखती नहीं है। यह गुप्त और गोपनीय रहस्य है। अनुभव की वह चरम स्थिति है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय की पारस्परिक स्थिति भी समाप्त हो जाती है। आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना 'आत्मानमात्मना' की स्थिति है।

इसे योग की सच्ची स्थिति कहा जा सकता है। गीता में कहा है, 'यो मां पश्यति सर्वत्र' और इसी कारण वह प्रिय में ही प्रत्येक वस्तु को देखता है, छान्दोग्य उपनिषद् में स्वयं का श्रेष्ठ प्रकाश ही अपने-अपने रूप में प्रकट होता है— 'परमज्योतिउपसमपद्य श्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' (VIII, 12.3)। इस रहस्य को विश्व के सभी धर्म, दर्शन मानते आये हैं, चाहे वह जैन, बौद्ध, ताओ, आदि कोई भी धारा क्यों न हो। अंत में, जीव के साथ जीवात्मा का जो सम्बन्ध है, उससे परिचय करना और उसको प्राप्त करने हेतु-पथ खोजना ही लक्ष्य रह जाता है।

आज के वैज्ञानिक युग में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अध्यात्म, नैतिकता और चेतना द्वारा ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। विज्ञान ऋत और सत्य की साधना को मानने लगा है। वह परब्रह्म संसार के अणु-अणु में व्याप्त है, इसी कारण संसार की हर वस्तु उसका अंश है, यही रहस्य हमें समझना है। यह आत्मानुभव की वह अवस्था है जहाँ पूर्ण ज्ञान में परिपूर्ण मिलन होता है, जहाँ हृदय की गुप्त तन्त्री मानो बज उठती है और जो प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और विस्मय के भाव से भरी होती है। इस सम्बन्ध में यह कहना संगत है कि वर्तमान युग में रहस्यवाद की वैज्ञानिक भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रस्तुत ग्रंथ में जहाँ रहस्यवाद के धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक पक्षों पर विवेकसंगत और प्रामाणिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है वहीं प्रसिद्ध स्वर्गीय प्राणगोपाल मुखोपाध्याय ने अपने 'अतीन्द्रियवाद' नामक लेख में यह निष्पादित किया है कि रहस्यात्मक अनुभूति यद्यपि अतीन्द्रिय है परन्तु वह अनुभव सिद्ध है। आज यह भी स्वीकार किया जाता है कि वेदों में भी रहस्यात्मक चिंतन के सूत्र विद्यमान हैं। प्रकाश परिमल ने 'वैज्ञानिक रहस्यवाद का आदिकाल-मिथक : उषासूक्त' नामक निबंध में इसकी गंभीर व्याख्या की है, साथ ही उषासूक्त के मिथक में रहस्यवाद की वैज्ञानिकता सिद्ध की है। प्रसिद्ध दार्शनिक रामचंद्र दत्तात्रेय रानाडे ने 'उपनिषदों में रहस्यवाद' में रहस्यवाद का सारगर्भित विवेचन किया है। इसी प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् ने 'रहस्यवादी दृष्टिकोण : एक विवेचन' में रहस्यवाद के प्रमुख तत्त्वों का विश्लेषण किया है।

डॉ० शुकदेव सिंह ने 'रहस्यवाद का रहस्य और ज्योतिवाद' में रहस्यवाद को विद्यारूपी अन्तर्ज्योति के रूप में विवेचित कर उसकी रहस्यात्मकता प्रतिपादित की है।

आचार्य जयशंकर त्रिपाठी ने अपने लेख 'संस्कृत साहित्य में रहस्य-दर्शन' में संस्कृत साहित्य में निबद्ध चिंतन प्रक्रिया द्वारा रहस्य-दर्शन की बात कही है और उसे अपनी मौलिक प्रतिभा से विवेचित किया है।

रहस्यवाद निगमागम के ग्रन्थों में प्रमुख चिंतन का विषय है। अपने सुचिन्तित निबन्ध 'आगमिक रहस्यवाद' में शीतलाप्रसाद पाण्डेय ने आगम ग्रन्थों में प्राप्त रहस्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है।

स्व० डॉ० भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने 'वैष्णव साधना में युगल उपासना' में रहस्यवाद की मार्मिक व्याख्या की है जिससे पता चलता है कि वैष्णव साधना में रहस्यवाद के बीजांकुर विद्यमान हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि एस०एन० दासगुप्त और एम०एन० सरकार ने भी वैष्णव रहस्यवाद के विवेचन में इसी दृष्टिकोण को रखा है।

'बौद्ध सिद्ध काव्य में रहस्यानुभूति' नामक निबन्ध में सिद्धों द्वारा गुह्य अभिप्रायवाली प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम से रहस्य-साधना के उपदेश पर प्रकाश डाला गया है।

डॉ० पुष्पलता जैन ने जैनधर्म में रहस्य की मीमांसा की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि जैन धर्म, दर्शन और साहित्य में भी अनेक मर्मी साधक और कवि हुए हैं।

इस्लाम की शाखा सूफी सम्प्रदाय जिसे 'प्रेम का पथ' कहा जाता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध सूफी विद्वान् एवं चिन्तक मौलाना मोबारक करीम जावहर ने 'सूफीमत : प्रेम का पथ' में इस पर विद्वत्तापूर्ण चिन्तन किया है।

प्रसिद्ध आचार्य एलरिक बारलो शिवाजी ने अपने निबन्ध 'मसीही धर्म में रहस्यवाद' में मसीही धर्म के स्वरूप और उसके रहस्यवादी तत्त्वों पर विचार किया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डॉ० लखबीर सिंह 'निर्दोष' ने 'सिख दर्शन एवं अध्यात्म में रहस्यवाद' निबन्ध में यह प्रदर्शित किया है कि निराकार ब्रह्म की उपासना में भी रहस्यवाद की आध्यात्मिक भूमि और उसकी दार्शनिक प्रतिपत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्तमान चिन्तकों, दार्शनिकों, योगियों में श्री अरविन्द का सर्वभावेन सर्वोत्तम स्थान है और उन्होंने मानवीय चेतना के विभिन्न स्तरों के विकास की गति की विवेचना करते हुए अतिमानस की भूमिका में एवं अन्य स्तरों पर आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण मानव चेतना का संश्लिष्ट रूप रहस्यवादी दृष्टि से विवेचित किया है। 'श्री अरविन्द का अतिमानस तत्त्व और चिन्मय पुरुष' में इन्द्रसेन ने इसी सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है।

'आधुनिक भौतिक विज्ञान और प्राच्य रहस्यवाद' में दोनों का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। आज पूर्वी और पाश्चात्य साहित्य में अनेकानेक विद्वान् विभिन्न दृष्टियों से रहस्यवाद पर चिंतन कर रहे हैं। इन ग्रन्थों की सूची और विवरणिका आश्चर्य में डाल देती है। इसी विचार-सरणी की एक कड़ी है रहस्यवाद। कुछ विद्वान् रहस्यात्मक अनुभूति को सामाजिक और लोकनिष्ठ सत्ता के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं करते। रहस्यवाद का यह भी एक प्रमुख पक्ष है। इस पर गशमी स्कॉलेम के निबन्ध 'रहस्यवाद और समाज' (नृतत्व तथा समाज दर्शन से साभार) में गम्भीरता से चर्चा हुई है।

समस्त विश्व आज भौतिकवादी अप संस्कृति से पीड़ित और संत्रस्त है। आज मानव वह मार्ग खोजना चाहता है, जहाँ व्यक्ति का रचनात्मक सम्बन्ध समाज से जुड़ा हो और साथ ही इसका सशक्त साधन कृत्रिम बौद्धिकता और दिग्भ्रमित मनुष्य को उच्च नैतिक अवधारणाओं से अभिमुख कराता हो। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन भी इन्हीं वैश्विक, नैतिक अवधारणाओं के पक्षधर थे और साथ ही मनोवैज्ञानिक फ्रायड, एडवर्ड और युंग भी। श्री अरविन्द ने मनुष्य की मांगलिक यात्रा के जो पाँच तत्त्व बताए हैं, उनमें अतिमानस तत्व महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने चेतना के इस ऊर्ध्व विकास को रूपायित किया है, जिसे समाजशास्त्रियों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। एक विद्वान् के शब्दों में—आज सबसे बड़ी आवश्यकता है मानव को मानवीय गुणों से सम्पृक्त करना, जिसे To human humanise nature कहा गया है। चेतना के इस ऊर्ध्वमुखी विकास का एक पक्ष रहस्यात्मक अनुभूति में स्वत: स्पष्ट है। अध्यात्म, नैतिक और चेतना की ओर जाना ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। यह बात आज के वैज्ञानिक युग में सिद्ध हो चुकी है। आज भौतिकविज्ञान भी इसे स्वीकार करने लगा है।

जिन विद्वानों को पत्र लिखकर निबन्ध मँगाए गए, उन्होंने अत्यन्त सहृदयता और सदाशयता से अपने आलेख भेजकर इस ग्रन्थ की गरिमा बढ़ायी है। रहस्यवाद के अध्ययन का विषय विस्तृत फलक लिए हुए हैं। अत: कुछ विद्वानों को यह ग्रन्थ अपूर्ण लग सकता है, क्योंकि निश्चय ही इसमें कुछ विषय छूट गए हैं। रहस्यवाद के अन्य अपेक्षित सन्दर्भों का ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में समाकलन करने का प्रयास किया जायेगा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हमें विश्वास है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद यह ग्रन्थ विद्वानों द्वारा स्वीकृत होगा और यही हमारे श्रम की सफलता होगी।

प्रसिद्ध और उदारमना उद्योगपति श्री गौरीशंकर कायाँ ने अपना आर्थिक संबल प्रदान कर ग्रंथ की प्रस्तुति से लेकर प्रकाशन तक सहयोग प्रदान किया। उनकी यह उदारता, उनकी सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक निष्ठा का ही प्रमाण है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने ग्रंथ के प्रकाशन का पूर्ण भार लेकर हमें अनुगृहीत किया, जिसके लिए उन्हें साधुवाद।

विजयादशमी : 2002 ई०

सम्पादक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दो शब्द

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि प्रसिद्ध विद्वान्, चिन्तक एवं शिक्षाविद् प्रो० कल्याणमल लोढ़ा तथा डॉ० वसुन्धरा मिश्र ने हिन्दी में रहस्यवाद से सम्बन्धित विषय पर 'धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया है।

'रहस्यवाद' आज एक बहुत चर्चित विषय है जिसका सम्बन्ध भौतिक-विज्ञान, साहित्य, धर्म, दर्शन, अध्यात्म और समाजशास्त्र से है। मुझे यह सूचना दी गई कि अनेक प्रख्यात और विश्रुत लेखकों ने अपना सक्रिय सहयोग देकर ग्रन्थ को विशिष्टता प्रदान की है। इस ग्रन्थ का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इस प्रकार का ग्रन्थ हिन्दी में प्राय: प्राप्त नहीं है। निश्चय ही सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के लिए अत्यधिक परिश्रम किया है। इसका प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी कर रहा है। इसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

कायाँ फाउंडेशन ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना अपेक्षित आर्थिक सहयोग दिया है क्योंकि मेरा विश्वास है कि ऐसे ग्रन्थ का प्रकाशन उपयोगी, आवश्यक और महत्वपूर्ण है। मैं आचार्य कल्याणमल लोढ़ा और डॉ० वसुन्धरा मिश्र को इस ग्रन्थ की प्रस्तुति के लिए धन्यवाद देता हूँ।

गौरीशंकर कायाँ
अध्यक्ष
कायाँ फाउंडेशन,
कोलकाता-२०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

1

रहस्यवाद : अध्यात्म और विज्ञान : आधुनिक दृष्टि

कल्याणमल लोढ़ा

रहस्यवाद जितना प्राचीन है उतना ही अर्वाचीन भी। उसका सम्बन्ध वैदिक युग से प्रारम्भ होता है। वहाँ यह आधुनिक चिन्तकों की रहस्यात्मक अनुभूति और साधना में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर है। पश्चिम में इसका प्रारम्भ मिश्र और यूनानी धर्म एवं दर्शन से माना जाता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग और भौतिकवाद में भी आज वैज्ञानिक उसे स्वीकार कर रहे हैं और यह माना जाता है कि विज्ञान अब एक अंध गली में आ गया है, जिसका निवर्तन केवल परम सत्ता और परम सत्य की मान्यताओं से ही सम्भव है। इसे ही 'वैज्ञानिक रहस्यवाद' की संज्ञा दी जाती है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म के साथ-साथ साहित्य और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में यह सर्वमान्य रचनात्मक शक्ति और सिसृक्षा के साथ-साथ मानवीय संस्कृति के उच्च मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं और सामाजिक जीवन से भी सम्पृक्त रहा है। यह कहा जाता है कि ऐसा कोई धर्म अथवा दर्शन नहीं है, जिसमें रहस्यवादी चिन्तन न हो Mysticism is the heart of every Religion. (Karel Warner)। कोई भी साहित्य ऐसा नहीं है, जिसमें रहस्यवादी कवि न हुए हों। डॉ० रघुवीर ने वैदिक मिस्टिसिज्म (Vedic Mysticism) (1938) में वेदों के रहस्यवाद सम्बन्धी ऋचाओं के उद्धरण दिए हैं।[1] अंग्रेजी में 'ऑक्सफोर्ड बुक्स ऑफ इंगलिश मिस्टिक वर्स' (डॉ० एम०एस० निकोलस) प्रसिद्ध है।[2] प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लेंक के अनुसार विज्ञान प्रकृति का अन्तिम स्वरूप उद्घाटन नहीं कर सकता, क्योंकि हम सभी वस्तुतः प्रकृति के रहस्य के ही अंश हैं।[3] जे०बी०एस० हेल्डेन के अनुसार विद्वान व्यक्ति अपना आचरण धार्मिक एवं विज्ञान दोनों के सिद्धान्तों से निर्धारित करता है।[4] अतएव आज आवश्यक है कि हम प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों के परिप्रेक्ष्य में रहस्यवाद पर विचार करें। कुछ आचार्यों ने रहस्यवाद को 'निर्गुण भक्ति' की संज्ञा देना उचित समझा है। उनकी सम्मति में रहस्यवाद शब्द संगत नहीं बैठता। मेरी धारणा है कि निर्गुण भक्ति भी सार्थक व सटीक नहीं है। अनेक आधुनिक विचारकों और विद्वानों ने सगुण भक्ति में भी रहस्यवाद पाया है। ज्ञान और भक्ति दोनों में रहस्यात्मक साधक सन्त मिलते हैं। महेन्द्रकुमार सरकार ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में 'भक्तिमूलक रहस्यवाद' पर विशेष विचार किया है। उनका

---

1. Here the deepest depths and highest altitudes are laid bare to the view of the understanding Soul. (Introduction).
2. There has been a continual under current of thought by which it has been not only tolerated but welcomed to have run across England.
3. उद्धरण Robert Barry : *A Theory of Every Thing*
4. Paul Davis, *God and the New Physics* (Quoted).

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कथन है कि वैष्णव मत में रहस्यवाद के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं, उन्हें नकारा नहीं जा सकता (पृष्ठ 51)। इसी प्रकार सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में 'भक्तिपरक रहस्यवाद' की विवेचना में तुलसीदास और मीरा को परिगणित किया है। डॉ० शोभारानी सरकार का मत है कि ''निर्गुण और सगुण उपासना दोनों में अन्ततः पार्थक्य समाप्त हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण भाव से उपासित हो अथवा सगुण से, अन्ततः है तो एक ही परम तत्त्व।'' श्रीमद्भागवत व श्री-गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति का संगम तीर्थ है। पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी कहा करते थे कि जप का अभ्यारोह दोनों में समान रूप से करना चाहिए। निराकार में साकार, निर्गुण में सगुण और सगुण में निर्गुण भाव रहता है। प्रसिद्ध श्लोक है—

सगुण शक्तियुक्तश्च निर्गुणः सुप्त शक्तिकः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणः क्रिया॥ (पूजा, पृ० 18)

शक्तियुक्त ब्रह्म सगुण हैं और शक्ति की सुप्त अवस्था में निर्गुण। निर्गुण होते हुए भी लीला हेतु गुण और क्रिया से संयुक्त होते हैं। स्वामी प्रेमानन्द ने 'पूजा-पद्धति' ग्रन्थ में निर्गुण और सगुण भाव को अपनाया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' निर्गुण है तो 'तद विजिज्ञासस्व तद ब्रह्म तद् ब्रह्मेति' सगुण (पूजा० पृ० 19)। ऐतरेय श्रुति में 'ॐ आविरावीर्म एधि' में आविः निर्गुण है और आवीः सगुण। रामकृष्ण परमहंस ने निर्गुण और सगुण में कोई अन्तर नहीं माना। उन्होंने ज्ञान (निर्गुण) और भक्ति (सगुण) दोनों का समन्वय विज्ञान में किया। स्वामी जी महाराज (एक प्रसिद्ध दार्शनिक योगी) ने बताया कि ब्रह्म निर्गुन-सगुण दोनों से परे हैं और रहस्यवाद इसी ब्रह्मभाव की साधना है। अतएव निर्गुण भक्ति में भी रहस्यवादी दोनों को समान रूप से स्वीकार करता है। रामकृष्ण ज्ञानी होते हुए भी अबोध शिशु की भाँति माँ काली के समक्ष फूट-फूट कर रोते थे। नाम माहात्म्य और लीला माहात्म्य दोनों एक ही ब्रह्म के दो रूप हैं। गीता में कहा गया है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (अध्याय 13, श्लोक 11)
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (अध्याय 13, श्लोक 14)

इसी प्रकार 'सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।'

(अध्याय 13, श्लोक 13)

रहस्यवाद 'रहस्य' अर्थात परम तत्त्व और 'वाद' अर्थात विचार के इन दो शब्दों का मेल है। वाद का अर्थ 'कथन' के समान है। न्यायदर्शन में 'वाद' एक प्रकार की कथा है। यह परवर्ती काल में सिद्धान्त के रूप में प्रयोग होने लगा है। श्री गीता (18-56) में श्री कृष्ण वेदमव्ययम् (परम पद) कहते हैं। ओघ निर्युक्ति में 'रहस्य' शब्द का अर्थ 'परमतत्त्व' है (160)। इस प्रकार रहस्य परम तत्त्व सम्बन्धी विचार है। रहस्य शब्द 'रह त्यागे' धातु से बना है। इसमें 'असुन' प्रत्यय जोड़ने पर 'रहस' शब्द बनता है—'सर्वधातुभ्योऽसुन'

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'दिगादिभ्यो यत' सूत्र के अनुसार यत् प्रत्यय लगाने पर रहस्य बनता है। 'रह देशेह च इति असुन प्रत्ययः हकार इन्त चान्ता देशः।' रहस्य का सामान्य अर्थ विजन, गुह्य, एकान्त आदि है। रहस्य शब्द 'रह्यते अनेन इति रहः', 'रहसि भवं रहस्यम्'। 'अभिधान राजेन्द्रकोश' के अनुसार 'रहः एकान्तस्तत्र भवं रहस्यम्' (खण्ड 6, पृ० 493)। एक अन्य ग्रन्थ में 'गुज्झं रहस्सं' अर्थात रहस्य का अर्थ 'गुह्य', 'गोपनीय' है। यही अर्थ 'अभिधान चिन्तामणि' में भी है। जैन मतानुसार रहस्य को 'अन्तराय कर्म' कहा गया है।[1] अमरकोष में 'रहस' का अर्थ विविक्त, विजन, रहः और एकान्त है। रहस्य का व्यावहारिक अर्थ तो एकान्त ही है। इसमें बहुव्रीहि समास है—'एक अन्तः यस्यसः एकान्तः'। 'रहस' और 'एकान्त' एक-दूसरे के पूरक हैं। जिसका एक ही अन्त हो वही एकान्त है। मेदिनीकोश के अनुसार 'रहस्तत्त्वे रमे गुह्ये' अर्थात रहस तत्त्व है 'सार'। हलायुध कोश में 'देशादन्यत्र रहोऽव्ययं शब्दान्तरं वास्ति सुरतवाचकम्' अर्थ है। पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी ने रहस्य को 'गुह्य', 'गुह्यादपि गुह्य' 'राजगुह्य' कहा है। उपनिषद् में भी यही अर्थ है। आत्मा का रहस्य भेदन करने के लिए चाहिए मर्मी दृष्टि, तभी ज्ञान की अथवा दृष्टि की यथार्थता पूर्ण होती है। वेदान्त के चार महावाक्यों का रहस्य भी मर्मी ज्ञानी ही अनुभूत करते हैं—'अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि' में रहस्यात्मक तत्त्व निहित है। नाद-बिन्दु के बीच एक रहस्य सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के कारण ही कला की अभिव्यक्ति है। पूज्यपाद ने 'रहस्यमय खग' की व्याख्या की है, जो एकायन है (पृ० 193, जपसूत्रम्, प्रथम खण्ड)। ऋग्वेद (2.29.1) में 'धृतव्रता आदित्य इषिरा आरे मत्कर्त रहसूरिवागः' कहा गया है। इसका सारांश है, गुप्त रहस्य की भाँति हमारे पापों को दूर करो। वह अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। 'धर्मस्य तत्त्वनिहितं गुह्ययाम्', 'ऋषयों मन्त्र द्रष्टार' । यों उपनिषद् शब्द भी रहस्यात्मकता का परिचायक है। 'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रमीमि' में ब्रह्म को गुह्य बताया है। श्रीभगवद्गीता (6.10) में

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

योगी (एकाकी) एकान्त में आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाए। पुनः 18-68 में 'य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति'। परम रहस्य को परम प्रेम से कहने वाला मुझे ही प्राप्त होगा। इसी अध्याय के 63-64 में 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया' और 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचा' कहा गया है। 'प्रत्यभिज्ञा हृदय' के मत में इस गुह्य परमतत्त्व को मापना उतना ही कठिन है, जितना पैर से सिर की छाया कों (760-61)। भारतीय चिन्तकों ने परमतत्त्व के प्रति जिज्ञासा और उत्सुकता का साधक में जागरित होना आवश्यक बताया है। डॉ० राधाकृष्णन रहस्यवाद को मानवीय प्रकृति का सतत अभ्यास कहकर उसकी उपलब्धि को आध्यात्मिक तत्त्व बताते हैं। वह एक जीवन पद्धति है। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के अनुसार इन्द्रियों से हम परम सत्य का संधान नहीं कर

1. रहस्यमन्तरायः तस्यशेषधात्ति त्रितयविनाशा विनाभाविनो भ्रष्ट बीजवन्निः शक्ति कृता घानि कर्मणो—*जैन सिद्धान्त कोश,* भाग 3, पृ० 407

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सकते। हमें विषयों को त्यागकर आन्तरिक अनुभूति का आस्वादन करना होगा। यही रहस्यवाद का मूल तत्त्व है। वास्तविक यथार्थ बाह्य जगत का आभास नहीं है। रहस्यवाद हमें विश्वातीत और विश्वात्मक दोनों का बोध कराता है (*पूर्व और पश्चिम के दर्शन का इतिहास*, प्रथम खण्ड, पृ० 20)।

रहस्यवाद का अंग्रेजी पर्याय 'मिस्टिसिज्म' है। परन्तु दोनों में मूल अन्तर है। 'मिस्टिसिज्म' का अर्थ 'रहस्य' 'रहस' से भिन्न है। 'मिस्टिसिज्म' व्युत्पत्ति की दृष्टि से ग्रीक धातु Mystes या Mustes से बना है, जिसका तात्पर्य जीवन-मृत्यु के रहस्यों की खोज करना है। जीवन-मरण की दीवारों का रहस्य-बोध करने वाले दीक्षित व्यक्ति को मिस्टिक कहा गया। यह शब्द वस्तुत: ग्रीक व रोमन सन्त एवं धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध है। श्री वी० चाझेकर ने इसके लिए 'गूढ़ गुंजन' शब्द का प्रयोग किया है। गुंजन में भाव-विह्वलता और आत्मिक अनुभूति की रहस्यात्मकता का गुंजन है (परानाद)। रोमन चर्चों में इसके पूर्व कंटेंप्लेशन (Contemplation) का प्रयोग होता था। सन्त अगस्तीन, ग्रेगोरी, बनार्ड में यही शब्द प्राप्त होता है।

एक अन्य कोश के अनुसार The augur amongst the Romans having taken the stand on the Capitoline Hill marked out with his wand the space in the heaven. This space has called Templum watching of contempulum was contemplation. मिस्टिसिज्म रहस्यानुभूति के अधिक निकट है। (आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के मतानुसार यह शब्द रहस्यवाद से अधिक 'रहस्यात्मक अनुभूति' के निकट है।) रहस्यवाद वस्तुत: स्वतन्त्र शब्द है, जहाँ एक ओर रहस्य सम्प्रदाय का प्रयोग मिलता है वहीं दूसरी ओर गुह्य ब्रह्म, गुह्य तत्त्व, गुह्य मार्ग आदि का भी है (*रहस्यवाद*, पृ० 13)। वेद, उपनिषद् ऋषि की 'निव्यावचांसि' गुह्यवाणी है। ऋग्वेद 1.164.39 में कहा गया है 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन देवा अधि विश्वे निषेदु: यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति च इत्तद्विदुस्त इमे समासते।' अविनाशी ऋचाएँ व्योम में व्याप्त हैं, उनमें सम्पूर्ण देव-शक्तियों का वास है, जो इस तत्त्व को नहीं जानता, उसके लिए ऋचाएँ क्या करेंगी, जो जानते हैं वे ही सदुपयोग करते हैं। पुन: 1.164.45 में वाणी के लिए परा, पश्यन्ती और मध्यमा को गुह्य बताया गया है। पुन: ऋग्वेद 1.170.1 में कहा है :

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति।

इन्द्र कहता है, जो आज नहीं, वह कल भी नहीं। जो हुआ नहीं, उसे किस प्रकार जानें। चित्त चलायमान है, उसे कौन जानता है, जो सर्वोच्च और अनन्य है। जब विचार से उसके समीप पहुँचा जाता है तब वह विलुप्त होता है। इस गुह्य तत्त्व को ही परम पद माना गया है। 'तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय: दिवीव चक्षुराततम्।' विद्वान स्तोतागण भी इस परम पद को प्रकाशित करते हैं, 'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवास: समिन्धत्तं। विष्णोर्य परमं पदम्' (1.22.21)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इससे यह स्वतः प्रतिपादित है कि भारतीय रहस्य चेतना पश्चिम के मिस्टिसिज्म से भिन्न है। इस पर विचार करने के पूर्व हम पश्चिम के इस शब्द और इसके प्रयोग एवं विकास पर भी विचार करें। ई० केयर्ड के मत में रहस्यवाद चित्त की मनोवृत्ति विशेष है, जिससे अन्य सारे सम्बन्ध, ईश्वर और आत्मा का पार्थक्य समाप्त हो जाता है।[1] पश्चिम के कुछ विद्वान मिस्टिसिज्म को एक 'स्वभाव' अथवा एक 'वातावरण' गिनते हैं, न कि धार्मिक मत अथवा दार्शनिक पद्धति (सी०एफ०ई स्पर्जन)। विलियम जेम्स ने इसे 'मस्तिष्क सम्बन्धी बौद्धिक चेतना' कहा है।[2] प्रिंगल पेटीसन के मत में यह सर्वोच्च सत्ता के प्रत्यक्ष सान्निध्य के सौभाग्य की प्राप्ति है।[3] मिस्टिसिज्म एक ऐसी दृष्टि है, जो सामान्य बुद्धि व ज्ञान की परिधि में समाहित नहीं होती। वह तो अन्तःप्रज्ञा से ही चरम सत्य का उद्घाटन करती है। वस्तुतः उसे एक प्रकार से प्रतीकों का वैपरत्य भी कहा जा सकता है। वह बौद्धिकता का निषेध है। रहस्यात्मक अनुभूति का सम्प्रेषण अथवा उसकी गहनता की सामान्यतः अभिव्यक्ति सम्भव नहीं।[4] पश्चिम के विचारकों ने उसे ईश्वरानुभूति और दिव्य प्रज्ञा कहा है। आध्यात्मिक विशिष्टता बताते हुए इसे ईश्वर से सम्बद्ध किया है, जो सामान्य बुद्धि से परे है।[5] पश्चिम में रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का प्रारम्भ योरोपीय काल से हुआ था। ग्रीक दार्शनिक रहस्य चिन्तक थे। वहीं पर उसका विकास हुआ। तदन्तर यहूदी रहस्यवाद पर भारतीय विचारों का प्रभाव परिलक्षित है। ईसाई धर्म में ईसामसीह की रहस्यात्मक प्रविधि का निरूपण करते हुए उसे ईसाई धर्म के ब्रह्म विज्ञान से सम्बद्ध किया है, जो 'नव्य प्लेटोवाद' से प्रभावित था, जिसका प्रादुर्भाव Pseudo Dionision Areo Pagita से हुआ।[6] इस दृष्टि से कारेल वारनर की स्पष्ट धारणा है कि योरोपीय रहस्यवाद मूलतः यूरोप का न होकर सार्वभौम चिन्तन का परिणाम था।[7] इसके परवर्ती विकास का स्वरूप निम्न दृष्टियों से हुआ।

1. ईश्वर से एकात्म जो परम सत्य की दिव्यता है।

2. रहस्यवादियों द्वारा रहस्यात्मक अनुभूतियों पर आध्यात्मिक व ब्रह्म वैज्ञानिक प्रभाव (Theological and Metaphysical) जो परम्परा से आया।

3. रहस्यात्मक पथ व प्रविधि का परिज्ञान जो अनुयायियों को दिया गया।

---

1. Mysticism is the attitude of mind in which all other relations are swallowed in relation of the soul to God.—Quoted by W.R. Inge : *Mysticism in Religion* ऐसी ही परिभाषा, R.D. Ranade : *Mysticism in Maharashtra* में भी दी गई है
2. Sensory Intellectual
3. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा *रहस्यवाद* में उद्धृत, पृ० 181
4. J.H. Randall Jr : *Philosophy : An Introduction*, p. 115
5. *The Readers Digest Great Encylopaedia*
6. Both may find in real Plato much congenial teaching that the highest good is the greatest likeness to God. xx That the greatest happiness is the vision of God.—W. R. Inge : *Christian Mysticism*, p. 79
7. *Mysticism and Indian Spirituality*, Karel Warner

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपर्युक्त तीनों को परिशुद्धिकरण (via purgativa), अन्तरचेतना की ज्योति (via illuminative) एकीकरण, (via unitiva) आत्मानुभूति कहा गया। इस स्थिति में प्रत्याश्रित तर्क अथवा ज्ञान मीमांसा की प्रथम इयत्ता में कोई अप्रमाणिकता नहीं रहती है। मानवीय अस्तित्त्व का मूल प्रत्येक के अस्तित्त्व से एकात्म है।[1]

योरोपीय रहस्यवाद में जादू विद्या (मेजिक) और रहस्य विद्या की तुलना की जाती है। कुमारी अंडरहिल ने इन्हें 'जादू का पथ और रहस्यवाद का पथ' कहा है। जी०बी० वेटर ने अपने ग्रंथ 'मेजिक एण्ड रिलिजन' (पृ० 157) में बताया है कि जहाँ इच्छाशक्ति ईश्वरावलम्बन चाहती है पर उसका प्रवर्तन जादूपरक (जिसे अथर्ववेद में यातुधान कहा गया है) विज्ञान से होता है।[2]

अब भारतीय रहस्यवाद के स्रोत एवं विकास पर विचार करें। कारेल बर्नर ने भारतीय रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा है कि वह सार्वभौम सर्वमान्य सिद्धान्तों का उन सभी संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में नूतन अभिनिवेश करता है। उसकी विशेषता परमतत्त्व और परमसत्य की अनुभूतियों का प्रामाणिक सन्निवेश है।[3, 4] ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इसका प्रथम प्रमाण मिलता है। मण्डल (9-83) में ऋषि आंगिरस कहते हैं, 'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः' अर्थात, हे मंत्राधिपति। आपके पवित्र अंश सर्वत्र विद्यमान हैं। तप से परिपक्व होकर ही साधक उसे प्राप्त करते हैं। इसी वेद के पुरुष, हिरण्यगर्भ और नासदीय सूक्त तात्त्विक विवेचन से परमतत्त्व की व्यापकता का निदर्शन करते हैं।

10.121.1 में मन्त्र है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

सभी उत्पत्तिशील पदार्थों का एक ही स्वामी परमात्मा हिरण्यगर्भ है। वही आत्मज्ञान का प्रेरक और बलदाता है। उनकी छत्रछाया अमृतस्वरूपिणी है। (य आत्मदाबलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषंयायस्य देवाः यस्य छायामृतं यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधेम॥) मण्डल (1.164.46) में 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं

---

1. The idea of the world as a living being is found in Plotinus and Origen definitely teaches us that our body consisting of many parts is yet an organism which is held together by one soul so the universe is to be thought as an immense living being which is upheld by God.—W.R. Inge, p. 29
2. मैजिक शब्द मागी लोगों से जुड़ा है। वे प्राचीन ईरानियों के पुरोहित थे, जो गुप्त शक्तियों के आधार पर अज्ञातत्त्व का अनुसंधान करते थे।—Elibahevi, *The History of Magic*, p. 79 (आचार्य परशुराम चतुर्वेदी से उद्धृत, पृ० 4) धर्म और जादू के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए द्रष्टव्य: S.K. Maitra, *Studies in Philosophy and Religion*
3. India offers us an example of a religious development whose phases are marked by the emergence of even renewed mystical experiences, ever freshly for mulated mystical doctrines. वही, पृ० 243
4. The end of human life to these mystics was a divine out flowering life is a movement from mortality to immortality, to the splendour of a divine.S.K. Maitra, *The Vision of India*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मातरिश्वान माहु:' एक ही सतरूप परमेश्वर का विद्वज्जन विविध प्रकार से वर्णन करते हैं। नासदीय सूक्त तो विश्वमान्यता प्राप्त कर चुका है। ऋग्वेद (10.129.1.2)

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत: प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्याकवयोमनीषा॥

'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्यान्यन्न पर: किं चनास।' उस समय एकमात्र ब्रह्म का ही अस्तित्व था, अन्य किसी वस्तु का नहीं। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेय संहिता अनेक देवतत्त्वों में व्याविष्ट एक परमतत्त्व की ओर संकेत करती है (32.1)। सर्वव्यापक परमात्मा ही स्वयं प्रकाशित है। उनसे ही सब काल प्रकट हुए हैं। परमात्मा की महिमा का वर्णन 'हिरण्यगर्भ: समवर्त्तताग्रे भूतस्यजात: पतिरेक आसीत्' (25.10) और (8.36) में 'यस्मान्न जात:' जिस परमात्मा से उत्तम कोई नहीं है, जो समस्त लोकों में व्याप्त है एवं (12.102) में 'माया हि सीज्जनिता य: पृथिव्या य: वा दिव, सत्य धर्माव्यानट' वे परमात्मा पृथिवी के सृजेता, सत्य धर्म के पालक आदिपुरुष हैं। डॉ० रघुवीर ने अथर्ववेद के कई मंत्रों में रहस्यवाद का प्रमाण दिया है, यथा 10-7-8 सूक्त और उच्छिष्ट ब्रह्म (11.9) में भी यही वर्णन है। वही स्तम्भ है (आधार), वही पूर्णकाम स्वयंभू और अमृत है। उस आत्मस्वरूप को जान लेने पर मृत्यु से मुक्ति मिलती है। सारा विश्व उसी का अंश है—'अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुत इयनोन:' (अथर्ववेद, 10.8.44)। वह ब्रह्म अपने ही रस में तृप्त रहता है। 'उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त' अद्‌भुत है। उच्छिष्ट अर्थात अवशिष्ट। यजुर्वेद (40.1) में परम सत्ता ने अपने अव्यक्त गुणातीत स्वरूप में, जो अंश त्याग दिया वह उच्छिष्ट अंश ही रूपात्मक सृष्टि है। ऋषि इसी को दिव्य दृष्टि से देखकर उस स्वरूप को प्रकट करते हैं। चेतनशील और जड़ सृष्टि दोनों उसी अवशिष्ट में हैं। उसी में नाम, रूप, लोक, लोकोत्तर अवस्थित है। (10.2.31-32) में कहा गया है—'अष्टा चक्रानव द्वारा देवानां पुरयोध्या तस्यां हिरण्य कोश स्वर्गोज्योतिषावृत:'[1]

ईशावास्य उपनिषद् का प्रथम मंत्र ही ब्रह्म की व्यापकता से प्रारम्भ है : 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत'—

हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
योसावादित्ये पुरुष: सोसवाहम्। ॐ खं ब्रह्म (यजु: 40.17)

वह 'अरणोरणीयान महतो महीयान' (कठ 2.20) है। वह ब्रह्मं तदेजति तन्नेजति तद्दुरंतद्वन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्यतदु सर्वस्यास्य बाह्यमत: दुहान्ति। यह ब्रह्म 'यतोवाचोनिर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीय ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक)। इसी ब्रह्म से 'तस्यमासा सर्वमिदं विभाति'।[2] वह तर्क से बोधगम्य नहीं होता 'नैषातर्केण मतिरापनेया नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्तयो न चक्षुषा'।

---

1. द्रष्टव्य : *ऋग्वेद* 8-58-2, *अथर्ववेद* 10.8.27, 13.4.29, 30, 32, 36, 39.41.42, 10.8.36, 19.51.1.2 *वैदिक मिस्टिसिज्म*, डॉ० रघुवीर में अनेक हैं।
2. उपनिषद् इसलिए है कि वह आत्म तत्त्व के समीप पहुँचा कर जो अद्वय ब्रह्म है वह द्वैतजन्य अविद्या का नाश करता है। यही उत्तम रहस्य है। गीता में 'भक्तोऽसि मे सखाचेति रहस्यं द्वयेनदुत्तमम्' आया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठ. 3.12)

ब्रह्म का यह एकात्मक स्वरूप 'सत्यंज्ञानमानन्दं' है। केनोपनिषद् (2.1) में ब्रह्म स्वयं रहस्यमय है, जो कहता है कि मैंने ब्रह्म को समझ लिया वह स्वल्पज्ञ है, जो यह कहता है कि मैं उसको नहीं जानता वही उसका ज्ञाता है 'अविज्ञात विजानतार्विज्ञातम् विजानताम्।' तैत्तिरीय में कहा गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार हृदय में होता है। इस हृदय में जो आकाश है, उसमें विशुद्ध प्रकाश ज्योति स्वरूप पुरुष रहता है। यह परमतत्त्व रहस्यमय पर आनन्दस्वरूप है।

भारतीय मनीषा ने हृदय के लिए कहा है—

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोष हृदयं
यस्मिन् सुरक्षिते सर्व सुरक्षितं स्यात्

सब कोषों की मंजूषा हृदय है उसी को सुरक्षित रखना है। परम प्रेमतत्त्व की अनुभूति हृदय से, श्रद्धा से सम्भव है।

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदम् त्रैतत्समर्पितम् (मुंडक 2.1) ब्रह्म आविः हृदय में विराजमान है। इसीलिए गुह्य चरम में विद्यमान होने से गुहाचर नाम वाला है। कठ (2.12) में भी यही कहा है 'तं दुर्दशं मनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।' अज्ञात-कठिनाई से जानने योग्य गुहरेष्ठवं अथवा गहरी खाई, हृत्प्रदेश में विद्यमान है। मैत्रायणी उपनिषद् में 'अनन्तः रश्ययस्तस्य दीप वद्यः स्थितो हृदि... ब्रह्मलोक मतिक्रम्यतेन यान्ति परां गतिम्।' हृदय में स्थित दीपवत की जो अनन्त रश्मियाँ हैं उनमें एक सूर्य मण्डल को भेदकर उठती हैं और उसी से ब्रह्मलोक का अतिक्रमण कर परमगति की प्राप्ति होती है। (6.30) 'हृदये चित्त संविद।' 'संविद' का अर्थ है 'आभ्यन्तरज्ञान'। हृदय आत्मा और शरीर का संधिस्थल है। वही प्रकाशशील है। (बृहद् श्रुति 3.20) हृदय में ही सबकी प्रतिष्ठा है 'हृदयेन हिरूपाणिजानाति हृदयेह्येव रूपाणि प्रतिष्ठानि भवन्तीत्येव मे वैतद् याज्ञवल्क्य।' श्रद्धा हृदय में ही प्रतिष्ठित हैं। चेतना अर्थात हृदय स्थित स्व प्रकाश दीपवत रश्मि है जो उर्ध्वगमन करती है 'यः सर्वभूत चित्तज्ञो यश्च सर्वहृदिस्थितः'। (लिंगपुराण 2.9.51)

यही प्रेम की अग्नि है, जो मंगलदीप बनकर प्राणों में आलोक की रश्मियाँ विकीर्ण करती है। छांदोग्य व तैत्तिरीय श्रुति में ब्रह्म का अत्यन्त रहस्यमय वर्णन किया गया है। ब्रह्मानन्द वल्ली (4. घ) में 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कदाचनेति।' ब्रह्म को जाननेवाला जो आनन्दस्वरूप है वह नहीं डरता है। आनन्दलोक में सभी कामनाओं की पूर्ति होती है; वहाँ अमरत्व है। ऋग्वेद (9.11, 3.11) में 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्चमुदः प्रमुदः आसने।' तैत्तिरीय श्रुति में आनन्द की अभूतपूर्व व्याख्या मिलती है। 'अन्योन्तर आत्मानन्दमय।' आनन्द आत्मा। पुनः 'रसो वै सः।' रस ह्वेवायं लब्धानन्दो भवतिं (वही, 2.7)। बृहदारण्यक में ब्रह्म को परमानन्द रूप में अवस्थित कहा है (4.3.32)। कैवल्योपनिषद् में 'आधारमानन्द म खण्डबोध यस्मिल्लय याति पुरत्रं यं च' (14) शतपथ ब्राह्मण 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' (10.3.5.14) तेज बिन्दु उपनिषद् के अनुसार—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मैव सर्व चिन्मात्र ब्रह्म यात्रम् जगत्रयम्।
आनन्द परमानन्द मन्यत्किञ्यिन्न किञ्चन। (6.1.42)

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—'चिदानन्देच्छत्रा विज्ञान क्रिया शक्ति रूपत्वे।'

अध्यात्मोपनिषद्—'भावानन्दपीयूष पूर्वब्रह्म महार्णवे।' (28.66)

पंचकोशों के आधार पर ब्रह्मानुभूति का विवेचन भारतीय प्रज्ञा का अनुपम उदाहरण है। अन्नमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश में ब्रह्मप्राप्ति का सन्धान है। वाणी जहाँ से लौट आती है, मन जहाँ तक पहुँच नहीं पाता, वह आनन्द रूप ब्रह्म जो सत्, चित, आनन्द स्वरूप है, उसे जो जान लेता है वह कभी भयभीत नहीं होता। वह सगुण-निर्गुण, आकार-निराकार दोनों को हृदयंगम कर लेता है। इसी से कहा है 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कदाचनेति।' आनन्दमय कोश में विचरण करने वाला ब्रह्म को ही आधार मान लेता है, यही परमतत्त्व है। योगसाधना की चरमता चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध (योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः) जो ब्रह्म को सत् समझता है, वह ब्रह्म की सत्ता से स्वयं सत् हो जाता है। श्रुति के अनुसार साधना की यही चरमता, परमता एवं दिव्यता है 'रसो वै सः।' यही रहस्यानुभूति का दिव्य रस है—परम रस।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम्।
नाना नादा प्रवर्त्तन्ते संस्त्रवेच्चन्द्र मण्डलम्॥
ततः प्रस्त्रवते सातु संस्पृष्टा शीतलां सुधाम्।
पिवन्नेव सदायोगी सोऽमरत्व हि गच्छति॥ (योग शिखोपनिषद्)

परमानन्द की इस उच्चतम दशा को तैत्तिरीय में 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' कहा गया है। एक मनुष्य आनन्द से लेकर सौ प्रजापतियों के आनन्द के बराबर एक ब्रह्मानन्द है जो 'ते ये शतम् प्रजापते आनन्दा सः एक ब्रह्मण आनन्दः' (तैत्तिरीय ब्रह्मानन्दवल्ली, अष्टम अनुवाक्)। यही परमपद की रहस्यात्मक अनुभूति है। एम० शिवराम ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आनन्द : एक अनुभूति' (Ananda : An Experience) में इसका विशेष विवेचन किया है। आनन्द को इसीलिए 'स्व' के स्वरूप का सन्धान कहा गया है। अपने 'स्व स्वरूप' का सन्धान ही आनन्द की भूमा है—असीम और अखण्ड। आनन्दानुभूति में केवल उसका बोध होता है, जिसकी सम्प्रेषणीयता असम्भव है। यही रहस्यात्मक अनुभूति है—पराप्रकृति एवं योगसाधना की सर्वोत्तम स्थिति।[1] यही समाधि की अन्तर्शक्ति है। श्री गीता में अर्जुन की जिज्ञासा है

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

---

1. Yogis or mystics after experiencing Ananda, later attempt to describe their unique and inaffable experience. Quite a few of such utterances are paradoxical, beyond the ken of our reasoning minds. If what one sees cannot be explained with present stage of human knowledge one has to label such things as mystical or super natural. ....We cannot comprehend. The experiences and the experienced have used in to nondual awareness. M. Sivaram—*Ananda*, p. 2-3

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री कृष्ण कहते हैं

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (श्रीगीता 2.72)
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (2-55)

ऐसे ब्रह्म ज्ञानी प्रस्थित प्रज्ञ को 'एत ह वाव न तपति कि महं साधुन व्याखम् किं महं पापम करवमिति। स च एवं विद्वानात्मान स्पृणुते उभे ह्येष एते आत्मानं स्प्रणुते च एवं वेद।'

पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मान्द जी ने इस ब्रह्मानन्द की 'जपसूत्रम्' में विशद विवेचना 'अरुंधती-दर्शन न्याय' से की है। "सर्वश्रुति प्रसिद्ध आनन्द रूप आकाश है, वही सब द्वन्द्व का परम स्थान है, जिसका योग-वियोग नहीं होता उसी आनन्द व्योम में तुम (शक्ति) अप्राकृत सान्द्र-मनोरम शशिकला रूप में उदित हुई, जो पूर्ण और परम है। उस ज्योतिर्व्योम में तुम्हारी ज्योति आन्तर और बहिर्विश्व में महान भास्वर रूप में प्रकाशित है" (जपसूत्रम्, प्रथम खण्ड, पृ० 224)

'पातंजल योग दर्शन' में 'वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् सम्प्रज्ञात्।' (1.17) आनन्दानुगत समाधि वितर्क विचार से हीन होती है। योगी की शान्ति ही परम आनन्ददायक है। ऐसा सम्प्रज्ञान आनन्दानुगत समाधि का फल होता है। ऐसी समाधि आनन्द विकल है अर्थात आनन्द से अतीत किन्तु निरानन्द नहीं। आनन्दानुभूति ही समाधि है। 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः' (पातञ्जल 3-11)। सर्वार्थता एकाग्रता का यथाक्रम क्षय और उदय चित्त का समाधि परिणाम है। यह समाधि ध्यान का चरम उत्कर्ष है, जो चित्त की सर्वोच्च अवस्था है। सर्वार्थता अर्थात अनुक्षण सर्व विषयग्राहिता या विक्षिप्तता, एकाग्रता एक विषय में स्थितशीलता है। आगे पुनः समाधि चित्त की एकाग्रता का निदर्शन है 'ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः' (3-12)। यह समाधि ध्यान का चरम उत्कर्ष है, जो चित्त स्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (3.3)। श्यामदेव के अनुसार समाधि चित्त की एकाग्रता में समाहित होने वाला चित्त अर्थों का उन्मीलन कर सकता है, जो स्वाभाविक शब्दों की परिणति है। यही शब्द-चैतन्य अर्थ चैतन्य बन जाता है। एकाग्रता अर्थात ध्रुवास्मृति अथवा आत्मस्मृति। एकाग्रता में सत्य स्वरूप अर्थ प्रकाशित होता है। उसका लक्षण है 'यस्ते एकाग्रचेतसि सद्‌भूतमर्थ प्रद्योचति।' पुनः योगशास्त्रानुसार 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (1-3)। ज्ञानवृत्ति की एकतानता ध्यान है।

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही एकत्र संयम कहे जाते हैं और 'तज्जयात्प्रज्ञालोकः'। इसी से 'समाधि प्रज्ञा' का आलोक होता है। 'ध्यानं निर्विषयं मनः' मन को निर्विषय करना ही ध्यान है। ध्यान का वास्तविक स्वरूप है (श्रीमद्‌भागवत के एकादश स्कंध, अध्याय 14 है)

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाधं द्रव्य ज्ञानक्रियाभ्रमः॥ (11-46)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसी से रहस्यवादी योगी को ब्रह्म के तीन स्वरूप-कला, बिन्दु और आत्मरूप दर्शन होते हैं (द्रष्टव्य, योगशिखोपनिषद्, अध्याय 5)। इस पर पीछे और विचार करेंगे।

महेन्द्रनाथ सरकार ने अपने ग्रन्थ 'दि मिस्टिकल एक्सपीरियन्स एण्ड समाधि' में रहस्यानुभूतिजन्य समाधि का विश्लेषण किया है। उन्होंने रहस्यानुभूति का आधार दार्शनिक प्रयास कहा है (पृ० 27)। उनकी सम्मति में भी चित्त की एकाग्रता ही समाधि है पर वह बुद्धिजन्य है। ज्ञान और प्रज्ञा दोनों ही बुद्धि की अनन्य विशेषताएँ हैं।[1] ज्ञान कभी-कभी अवरोधात्मक भी होता है। इन्होंने समाधि के दो रूप बताए हैं। पातंजल योगशास्त्र का अष्टांग योग और द्वितीय सांख्य योग। असम्प्रज्ञात समाधि ही सर्वोत्तम है। ब्रह्म चैतन्य की समाधि में चेतना विश्व-चेतना से एकाकार होती है। वेदान्तानुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही समाधि के हेतु हैं। मधुसूदनाचार्य ने 'सिद्धान्त बिन्दु' में इस प्रकार की समाधि का विवेचन किया है। साधक नरहरि ने बोधसार में रहस्यात्मक अनुभूति और चेतना की जीवनमुक्त योगी में सात भूमियाँ बतायी हैं—मुमुक्ष साधना, (संस्कारों का प्रभाव), विचार (श्रद्धा का परिपुष्ट होना), तनुयानस (सत्य की खोज), सत पत्ति (अविधा और विषयों के बंधन का त्याग), असंशक्ति (ब्रह्मज्ञान अमृतत्त्व), महानिद्रा (गहन सुषुप्ति), परम पुरुष (परमतत्त्व का बोध, आत्मसाक्षात्कार सर्वरूप स्थिति)।

श्री रामकृष्ण परमहंस ने भक्ति और ज्ञान का समन्वय करते हुए साधना के तीन स्तर निरूपित किए हैं—ज्ञान, अज्ञान का निःशेष होना और विज्ञान। साधक का अंतिम लक्ष्य सच्चिदानन्द की उपलब्धि है 'तन्मात्र संज्ञकः जानाणुः।' मन और हृदय का सन्धिस्थल आभ्यन्तर और बाह्य जगत है।

भारतीय रहस्यवाद के विभिन्न भेद भी विद्वानों ने किए हैं, जिनमें श्री एस०एन० दासगुप्त का विवेचन विशेष प्रयोजनीय है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में 'याज्ञिक रहस्यवाद' 'उपनिषद्' में रहस्यवाद, योगप्रधान रहस्यवाद, 'बौद्धधर्म में रहस्यवाद और भक्तिमूलक रहस्यवाद' का वर्गीकरण किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि याज्ञिक रहस्यवाद कोई उच्चकोटि का नहीं है परन्तु यहीं से भारतीय प्रज्ञा ने स्वस्थ चिंतन प्रारम्भ किया।[2] विद्वानों ने यह विभाजन प्रायः स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इस वर्गीकरण का आधार योरोपीय विद्वानों की धारणा है। यज्ञ- प्रधान संस्कृति के लिए रहस्यवाद का प्रयोग भ्रामक और चिन्त्य है। अनेक वैदिक ऋचाएँ

1. Samadhi is concentration of Chitta. It is a discipline of Buddhi (or the Chitta). It is finally passing into the transcendent calm, through discriminative of Prakriti and Purush. To reach the finer wisdom requires courage and boldness to face the transcendence and denial of the psychic knowledge and to welcome the self effulgent and self complete Purusha, he is eternally free.... Samadhi is a stage in evolution of our inner consciousness.
2. The five manitypes. I have described however may be regarded as fundamental and though very much could have been said in the way of elaboration and illustration. (Preface)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आध्यात्मिक और ब्रह्मानुभूति का प्रमाण हैं। कारेल बर्नर के शब्दों में 'रहस्यानुभूति और धारणा, ध्यान, समाधि सभी वर्गों में रहस्यवादियों का लक्षण और विश्वात्मा से एकात्म लक्ष्य रहा है।'[1]

रहस्यवाद का और भी वर्गीकरण किया गया है। राजेन्द्र सिंह रायजादा (रहस्यवाद, पृ० 24-31) में आत्मा, ईश्वर और प्रकृति रहस्यवाद के तीन भेद माने हैं। डॉ० भगवत-स्वरूप मिश्र ने भावनात्मक और साधनात्मक भेद किए हैं। शोभारानी बसु ने भक्तिमूलक, बौद्धिक और क्रियात्मक भेद किए हैं। अन्य भी हैं उन सब पर विचार अपेक्षित नहीं।

रहस्यानुभूति का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते समय साधना के विकास और उन्नयन का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध लेखिका अंडरहिल का मत है कि रहस्यवादी को अपनी यात्रा के दौरान अवसाद के विभिन्न सोपानों अथवा उसकी दशाओं से गुजरना पड़ता है। ये इस प्रकार हैं—परिवर्तन, आत्मबोध, प्रबोधन (ज्योति), समर्पण और योग। इन दशाओं में मर्मी की अनुभूति में परिष्करण और परिवर्धन के साथ-साथ अनुशासन (शिष्ट का शासन), अभिभावन और शुद्धिकरण होता है। सांसारिक विषयों से निर्लिप्तता और असंगति नितान्त आवश्यक है। यही भारतीय दृष्टि से 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' वृत्ति है।[2] प्रबोधन में ईश्वर-सत्ता का सान्निध्य रहता है। मनुष्य में तीन मानसिक तत्त्व मुख्य हैं— चेतन, संवेदन और संकल्प। रहस्यवाद ईश्वर के साथ एकता का स्पष्ट संवेदन है। यह अपने मूल रूप में संवेदन-मात्र है। —फलेइडरर का मत। बट्रेण्ड रसेल ने इसे आस्था (अथवा श्रद्धा) कहा है, जो संवेदन का मूल है। लामा गोविन्द इसे 'प्रातिभ अनुभव' कहते हैं, जिसमें संवेदन स्वतः समाहित है।

अनुभूति और संवेदन के साथ-साथ हम प्रबोधन को भी लें। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार संकल्प मन से बड़ा है, मनन के पश्चात वही वाणी का रूप लेता है और संकल्प को ब्रह्म मानकर जो उसकी उपासना करता है वह निर्वाणगति प्राप्त करता है। पुनः कहा गया है

स्व शरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम्।
क्षीण दोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृत्ताः॥

❑ ❑ ❑

1. Indian Religion Tradition provides us with concrete illustration of the thesis about the universality of mysticism and is over all structural unity across cultural boundaries, *Mysticism and Indian Spirituality*, p. 243
2. चित्त की पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन सभी भूमियों में योगी समाधि प्राप्त कर सकता है।

समाधि स्वेच्छाधीन सौन्दर्य है। यह योगशास्त्र में सबीज समाधि में सर्वोच्च भाव अस्मिता-मात्र या अहंभाव-मात्र में समाहित होता है। समाधि सिद्ध होने पर इच्छा, क्रिया और ज्ञानशक्ति का उत्कर्ष होता है। एकाग्र चित्तभूमि में समाधि हो और उससे यदि प्रज्ञा पूर्ण हो तब वही प्रज्ञा चित्त में स्थायी रूप से अकम्प और अखण्ड रहेगी। पुनः कहा गया है कि 'तीव्र संवेगानामासन्न समाधि लाभः समाधि फल च भवतीति' (21)। पातंजल योगदर्शन (संवेग अर्थात वैराग्यमूलक साधन कार्य में कुशलता और तत्कृत अग्रसर भाव।)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अकल्पितोद्भवंज्योतिः स्वयं ज्योतिप्रकाशितम्। (महायोग विज्ञान, पृ० 343)

यह प्रबोधन बिना कल्पना के प्रकट होता है—स्वयं प्रकाशित। कला रूप ब्रह्म प्रबोधन के अनन्तर रहस्यवादी बिन्दु रूप ब्रह्म ज्योति का दर्शन करता है, जिसे देखते हुए रहस्यवादी साधक तद्रूप हो जाता है। इसके पश्चात् आत्मा रूप ब्रह्म का दर्शन होता है। शिव संहिता में इसके लिए कहा गया है—'हत्पुण्डरीक मध्यस्थं चैतन्य ज्योतिरव्ययम्।' और इसके पश्चात योगी परमतत्त्व परमपद प्राप्त करता है। 'अन्तःकरण मध्येतु ज्योतिरात्मा प्रवर्तते' (महायोग विज्ञान, पृ० 345)।

आधुनिक मनोविज्ञान में इसका आधार चार प्रकार से निरूपित हुआ है—चेतना, संवेदन, अनुभूति और मानसिक वृत्ति। आर०एल० नेटलशिप ने चेतना को प्रमुख गिना है।[1] यह चेतना बौद्धिक चेतना से नितान्त भिन्न है। भारतीय मनीषियों और आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने चेतना की सारगर्भित व्याख्या की है और उसे विशिष्ट स्वप्रकाशत्व गिना है। तर्क भाषा में 'मानस प्रत्यक्ष' कहकर उसे प्रमाणनिरपेक्ष और स्वयंसिद्ध गिना है। चेतना में परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील रहस्यमय तत्त्व विद्यमान रहते हैं। चेतना का सामान्य अर्थ है 'ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति।' श्री गीता के अनुसार 'इच्छा द्वेष सुख दुःख सहातश्चेतना वृत्ति।' वाचस्पत्य में इसे 'चेतना नामाधिष्ठान मनोदेहश्मेन्द्रियः' कहा है। हलायुध में आत्मा बताते हुए 'चेतन चैतन्य विद्यतेऽस्य इतिः' और चिति स्वतन्त्र विश्व सिद्धि 'हेतु' है। यही जगत के सभी रूपों का आश्रय है। एक विद्वान के अनुसार चेतना बुद्धि और भाव का समग्र रूप है (विशेष द्रष्टव्य : 'प्रसाद दृष्टि : सृष्टि' ग्रन्थ में मेरा लेख)। डॉ० लक्ष्मी शुक्ल लिखती हैं, "जब संवेदनाएँ चित्त में प्रवेश करती हैं तब उसमें संस्कार पड़ते हैं और वे क्रमशः स्मृतिचिह्न अथवा उसके विषय बन जाते हैं।" चेतना में काल, ज्ञान और अनुभूति की स्मृति एक साथ चेतना के कारण अनुभूत होती है। भारतीय मनीषियों ने चेतना के दो स्तरों पर बल दिया है—अति चेतना और प्रज्ञा चेतना। प्रथम भौतिक है और दूसरी आधिभौतिक (भारतीय मनोविज्ञान, पृ० 114)। प्रज्ञा चेतना का समष्टि रूप विश्वचेतना है, जो विश्वात्मक और विश्वातीत एवं देश और कालातीत है। श्री अरविन्द के अनुसार जब मानस विश्वात्मा का प्रत्यय पाता है, तब जड़-चेतन का भेद समाप्त होकर वह विश्वातीत बन जाता है। ब्रह्म अपने को विविध क्रमानुगत चैतन्य में व्यक्त करता है, तब व्यष्टि और समष्टि का अन्तर निःशेष हो जाता है। यही आत्मचेतन स्व-प्रकाश है। श्री अरविन्द ने इसको पाँच संज्ञाओं से स्पष्ट किया है—उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, प्रतिभा मानस, ऊर्ध्व मानस और अति मानस। इनमें अतिमानस ही उच्चतम है। चित्त की समापत्ति है। पूज्यपाद स्वामी ज़ी समापत्ति के लिए कहते हैं, 'जो विष है वही अमृत है, जो अमृत है वही विष है।' इस प्रकार तादात्म्य सामरस्य की उपलब्धि होती है और यही समापत्ति है (द्रष्टव्य : जपसूत्रम् 2 खण्ड एवं योगसूत्र समाधिपाद-सूत्र

1. True Mysticism is Consciousness. —W. R. Inge, *Mysticism and Religion*, p. 25

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

2 खण्ड में समाधि को 'स्फटिक मणि' कहा है)।

श्री दुर्गा सप्तशती (पंचम अध्याय) में भगवती के लिए 'या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते' कहा है। आधुनिक विज्ञान ने चेतना की नूतन व्याख्या की है। 'क्वाण्टम फिजिक्स' के सिद्धान्त ने मानवीय चेतना की जड़ें व्यष्टि में सीमित न करके समस्त सृष्टि प्रक्रिया के साथ सम्बद्ध की हैं (डाना जोहर, दि क्वेण्टम सेल्फ)। रहस्यवाद में अनुभूति इसी चैतन्य से जुड़कर अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक इरविन स्क्रोण्डन्गर ने भी बताया है कि चेतना और स्मृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वह वस्तुजगत में सर्वत्र व्याप्त है।[1] विख्यात चिन्तक रॉबर्ट बेरी के अनुसार चेतना उच्चतर भूमिका में समाहित होती है, जिसे सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। यह वस्तुत: अन्त:प्रज्ञा है जिसे हम सामान्य चेतना से नहीं माप सकते। रहस्यवादी चेतना अल्पकालिक भी होती है पर वह कालातीत एवं अतीन्द्रिय रहती है; उसका ऐक्य सभी वस्तुजगत से होता है और वह विश्वात्मक चेतना हो जाती है, जो वस्तुत: आत्मसाक्षात्कार ही है। यही ब्रह्मानन्द की स्थिति है (योगशास्त्र में चित्तशक्ति को 'स्वबुद्धि संवेदन' कहा है)। यही परम अनुभूति प्रज्ञा है—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' अथवा अभिनव गुप्त के अनुसार 'प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता प्रज्ञा।' इस स्तर पर अचेतन, अवचेतन और सचेतन की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। यही अध्यात्मिक विकास की पूर्णता है—परम सत्ता का उद्भावन।[2] इसे ही श्री अरविन्द ने अतिमानस की संज्ञा दी है। लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक पाल डेविस ने लिखा है 'रहस्यवादी मार्ग वस्तुत: आन्तरिक शान्ति से भी महत है। वह आनन्द में स्थैर्य प्राप्त कर उच्चतम भावना प्राप्त करता है।' भावना अर्थात, पुन:-पुन: अनुसन्धान 'भावना पुन: पुनरपि सन्धानम्' (वागेश भट्ट)। यही योग शब्दावली में निदिध्यासन है 'अनवरत मनु चिन्तनम्'। रहस्यवाद तत्त्वत: संवेदन की तीव्रता और गम्भीरता से साधक को विश्वभावना से संयुक्त करता है और वह अपने इष्ट के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। इसे ही मनोविज्ञान प्रातिभ अनुभूति (Intuitive experience) कहता है। आइन्सटीन ने इसी चेतना को 'वैश्विक धार्मिक संवेदना (भावना)' कहा है। पाल डेविस का पुन: मत है कि रहस्यवादी पुन:-पुन: बताते हैं कि वे विश्व और ब्रह्म (ईश्वर) से ऐक्य की अनुभूति कर अभिभूत हो जाते हैं और

1. Consciousness is linked up with certain kind of events in organised living matter namely with certain living functions... when the same string of events repeats itself in the same way very often shot up with consciousness.... consciousness is the tutor who supervises the educator of the living substance. It is associated with the bearing of the living substance. *What is Life : Mind and Matter*, p. 99
2. पश्चिम में इधर एक नया आन्दोलन 'न्यू एज' चला है। इसमें चेतना के आध्यात्मिक स्तर को महत्त्व दिया गया है। एफ०सी० हेपोल्ड के अनुसार We are in the midst of one of the evolutionary mental and spiritual leaps.... around us is an enlargement of human consciousness—a widening of perception and growth in the collective soul of mankind. This is seen by some as evolutionary process.—श्री अरविन्द का आरोह सिद्धान्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वही वास्तविकता का पवित्र विजन है, जिसकी प्रतीति प्रीतिकर प्रभावी और शक्तिसम्पन्न करती है। एक अन्य वैज्ञानिक केन विलबर का कथन है कि ''रहस्यवादी की चेतना सत्य और ऋत का प्रत्यक्ष बोध करती है, जिसमें यह आवश्यक नहीं कि प्रेक्षाध्यान ही किया जाए। इसकी प्रतीकात्मकता और तात्विकता अहं और इदं (I consciousness and World Consciousness) से कालातीत एवं देशातीत हो जाती है।'' रॉबर्ट बेरी ने चेतना के तीन स्तर बताए हैं—सामान्य चेतना, चेतना और विश्वचेतना। रहस्यवादी सामान्य से अन्ततः विश्वचेतना के स्तर पर पहुँचता है और वह विश्वात्मक एवं विश्वातीत होती है; और तो और, वैज्ञानिकों को भी किसी 'असाधारण क्षण' में यह प्रातिभ ज्ञान होता है। पाल डेविस के मत में चेतना की ऊर्ध्वगति से ही विश्वात्मक आत्मबोध सम्भव है।[1] स्क्रोडिन्गर ने तो चेतना को दार्शनिक और नैतिक अवधारणाओं से सम्पृक्त कर यह बताया है Deus Factumsum मैं ब्रह्म हो गया हूँ (अहं ब्रह्मास्मि)। सूफी रहस्यवादी मंसूर ने भी यही कहा था कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' चेतना की यह विकसनशीलता साधक का जगत, ब्रह्म अथवा परमसत्ता के साथ तादात्म्य है। रहस्यवाद की मूल संहति है कि प्रत्येक पदार्थ अन्य सभी पदार्थों से अविच्छिन्न भाव से संयुक्त है। रॉबर्ट बेरी के अनुसार इस चेतना का सतत विकास ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्य करने की ओर अधिक से अधिक होता है और यह तथ्य अनुभूति करने वाले रहस्यवादी चिन्तकों ने बताया है। रहस्यवादी चेतना ही हमें विज्ञान और तथाकथित दर्शन की सीमाओं से परे ले जाती है।[2] यही आधुनिक शब्दावली में 'वैज्ञानिक रहस्यवाद' है। एक सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ 'एन इनवर्ड जर्नी इनटू कन्शसनेस' (An Inward Journey into Consciousness : Charles A. Borox) में विभिन्न धर्मों के दार्शनिक विवेचन में चेतना के आध्यात्मिक विकास का निरूपण किया है। श्री अरविन्द ने इसे आत्मा का संशुद्धिकरण और एक दृष्टि से सांस्कृतिककरण कहा है। छांदोग्य श्रुति (6.15, 3.15.1) में यह अधिक स्पष्ट है—जिसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमदेवता में लीन हो जाती है वह आत्मा 'तत्त्वमसि' हो जाती है और यही चेतना की उच्चतम स्थिति है। 'अह्मैवेदं सर्वम्' 'मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही भूमा हूँ।' इस चेतना का विकास 'ममैवासो, तस्मैवाहम्, स एवाहम' 'मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो और तुम और हम एक हैं।' दूसरे शब्दों में 'इच्छति, जानाति और यतते' कहा है (द्रष्टव्य : बृहदारण्यक 7.25, छांदोग्य 2.1.1, 1.3.14)।

रहस्यात्मक अनुभूति में भी वाक् साधना आवश्यक है। अभिव्यक्ति बैखरी में होती है जो पूर्णतः प्रतीकात्मक है। पर वह वहीं समाप्त नहीं होती। बैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती और परा तक उसकी यात्रा है। रहस्यवादी योगी की साधना का क्रम महत्त्वपूर्ण है। बैखरी शब्द निष्पत्ति वाली है, मध्यमा श्रुतिगोचर, पश्यन्ती अर्थ द्योतिका और परा वाणी तो जानी

1. Mystic path is a way to such understanding. वही, पृ० 228–229
2. As our consciouness evolves towards an increasing state of preparedness to receive communion with God, none of the absolute Truth is revealed through God's messengers. Mystical consciousness is the only route beyond the limits to which science and philosophy can take. *A Theory of Almost everything*, chapter Mystical Consciousness

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही नहीं जाती, वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद (ध्वनि) है। बैखरी 'विश्व विग्रहा:' है। इसके अतिक्रमण के पश्चात 'आन्तर शब्द' का समाश्रय होता है। बैखरी श्रवण, मध्यमा मन्त्रभूमि आत्मप्रकाश (हृदयस्थ) है। यही हिरण्यमय शब्द है। इसमें नादमय चिद्रश्मियाँ हैं और इसे व्यक्ताव्यक्तता कहा जाता है। पश्यन्ती दिव्य वाक् है, वह स्वप्रकाश रूप है। इच्छाशक्ति पश्यन्ती, ज्ञानशक्ति मध्यमा और क्रियाशक्ति बैखरी है। पश्यन्ती अमृत कला है, परा 'महेशी' है और 36 तत्त्वों के विकास की भूमि। यजु: ने इसे 'परास्य शक्ति विवधैव श्रूयते' कहा है। परमयोगी की यह अखण्ड आनन्दानुभूति है। 'स्वरूप ज्योति रेवान्त: परा: वागनपायिनी।' रहस्यवादी की अनुभूति अपनी चरम अवस्था में परा हो जाती है, अभिव्यक्ति मध्यमा और बैखरी में होती है। सारी प्रतीकात्मकता का यही क्रम है। सन्तों, साधकों, योगियों ने इन चारों का निदर्शन किया है। परा में चैतन्य की उच्चतम विश्वात्मक एवं विश्वातीत स्थिति है, अवरोह में वह पश्यन्ती-मध्यमा से बैखरी तक आती है। रहस्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में यह क्रम आरोह-अवरोह-अभ्यारोह की दृष्टि से विचारणीय है। गोपीनाथ कविराज ने इसका सांगोपांग विवेचन किया है। पूज्यपाद स्वामी जी ने जपसूत्रम् (6 खण्ड) में भी नादतत्त्व में योगानुभूति की व्याख्या की है। साधनात्मक एवं भावात्मक साधना में यह प्रयोजनीय है—साधनात्मक में विशेष।

रहस्यानुभूति में 'ऋत' विशेष अर्थ रखता है। ऋत समस्त ब्रह्माण्ड में एक शाश्वत अपरिवर्तनीय नियम है, वही सृष्टि की गतिशील शक्ति है, जिससे जड़-चेतन सभी उसका पालन करते हैं। स्वामी हरिहरानन्द ने ऋत को 'साक्षात विज्ञानमूलक यथार्थ ज्ञान' से भिन्न कहा है। साक्षात ज्ञान पूर्ण और अखण्ड है वह अनुभूयमान भाव पदार्थ है। ऋत देश कालातीत ऋतम्भरा प्रज्ञा है। ऋक् (4.23.8) में कहा है कि ऋत के पास अनेक शक्तियाँ हैं और उसकी प्रार्थना दुष्कर्मों को नष्ट करती है और सद्बुद्धि प्रदान करती है। अथर्ववेद (12.1.1) में सत्य, ऋत, बृहत ऋत को चित्त कहा गया है 'ऋतस्थ पन्था।' परम तत्त्व की उपलब्धि का मार्ग। पुन: कहा गया है 'ऋत च सत्यंचाभीद्दात तपसोऽध्य जायत।' पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी कहते हैं, 'द्वन्द्व भाव से जो सब रूप, आकृति और यन्त्र गोचर हो रहे हैं उनका शोधन और सम्पूरण करते हुए सत्य तक पहुँचना होगा।' यही महानारायण उपनिषद् (5.5) में 'सत्यं च ऋतं च' कहकर व्याख्यायित हुआ है। कठ के अनुसार ऋत निरपेक्ष और सत्यसापेक्ष है। ऋत परिस्थिति पर आश्रित नहीं रहता। 'ऋत विबन्तौ सुकृतस्य लोकं गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' (3.1)। तैत्तिरीय में भी ऋत और सत्य को भिन्न गिना है। ऋत ही संवित है, सर्वसाक्षी, परम, निर्विकल्प। जड़-चेतन सबमें यह नियम परिव्याप्त है। इससे ही योगी अपनी अनुभूति प्राप्त करता है। ऋत की साधना ही रहस्यात्मक अनुभूति की विशिष्टता है। रहस्यवादी अपनी अनुभूति में ऋत-संवित-सर्वसाक्षी-निर्विकल्प की अनुभूति करता है। (द्रष्टव्य : भारतीय दर्शन, खण्ड 1, पृ० 70, राधाकृष्णन्, ऋत का विवेचन)। स्वामी हरिहरानन्द जी ने ऋत और सत्य की व्याख्या करते हुए सत्य को 'शब्द यथार्थमूलक ज्ञान' कहा है और ऋत को 'साक्षात विज्ञानमूलक यथार्थ ज्ञान' से भिन्न कहा है। वह वाक्यातीत है। शाब्दिक विज्ञान शब्द के पश्चात जो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वही ऋत है। 'ऋत पिवन्तो सुकृतस्यलोके' में ऋत साक्षात अनुभूयमान भावपदार्थ है। संक्षेप में शब्दज्ञान अपूर्ण, खण्डित है और ऋत पूर्ण अखण्ड और साक्षात ज्ञान है। रहस्यवादी ऋत की साधना करता है जो शब्द विज्ञानमूलक यथार्थ से परे है। ऋत ही ऋतम्भरा प्रज्ञा है (बांग्ला-निबन्धावली, पृ० 24)।

बर्ट्रेण्ड रसल ने इसे ही 'विश्वपरक भावना की अनुभूति' कहा है। हर्मन रेण्डल के शब्दों में रहस्यात्मक चेतना व आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक होती है, जिसका अपना वैशिष्ट्य है। मनोवैज्ञानिक अर्नेष्ट जोन्स का अभिमत है कि यही प्रतीकात्मक पद्धति अनायास और स्वतः प्रवर्तित होती है।[1] इन प्रतीकों का वर्गीकरण भी किया गया है। ये रहस्यात्मक प्रतीक विधान मनोवैज्ञानिक धरातल पर चेतना के विशिष्ट और अनुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम होते है, जिन्हें हृदय के द्वारा 'आत्मा का अनुसन्धान' कहा गया है।[2] इनमें प्रतीक प्रायः प्रेमप्रधान होते हैं। इस प्रकार रहस्यवादी चेतना का विकास सहज जिज्ञासा से प्रारम्भ होकर परमतत्त्व के ऐक्य और उसकी उपलब्धि तक की सतत यात्रा का उपक्रम है। अलौकिक रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति में भी लौकिकता रहती है। रहस्यवाद आध्यात्मिक जीवन का पर्यावरण है और चेतना उस पर्यावरण का मूलाधार है। वह जीवन-पद्धति है जिसमें भीतर और बाहर द्वैत वैषम्य विश्वचेतना की समरसता में परिणत होता है। यही 'यत्' और 'तत्' का रहस्य है। यह आध्यात्मिक स्थिति और चेतना में अनुभूति और अभिव्यक्ति (यदि है) तो कोई विसंगति नहीं रहती। जड़ और चेतन का सर्वात्म समन्वय ही समष्टि चैतन्य की अनिवार्यता है। रहस्यवादी चेतना का सम्बन्ध अन्तःप्रज्ञा से है, पर वह बौद्धिक न होकर असाधारण अनुभूति से अभिव्यक्त होती है। वह शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होकर भी सामान्य शब्दार्थ से परे है। प्राध्यापक फिलिप व्हील राइट ने दो प्रकार की भाषा बताई है—व्यंजनात्मक, निगूढ़ात्मक और अभिधामूलक। साधक कवि आदि प्रथम का प्रयोग करते हैं। रहस्यात्मक अनुभूति की भाषा निगूढ़ात्मक होती है (उदाहरण, कबीर की भाषा उलटबासी, दृष्टिकूट पद, सिद्धों की सांध्य भाषा आदि)।

चेतना के इस विवेचन के अनन्तर अब हम संवेदन (भावात्मक बोध) का संक्षेप में विश्लेषण करें। महाभारत में संवेदन का प्रयोग परमात्म ज्ञान के लिए हुआ है। 'संवेदन चैव यथाभनन्ति तस्मिन हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे' (उद्योग पर्व, 43-55)। महोपनिषद् में कहा गया है कि संवेदन को छोड़कर सकल पदार्थों की कोई अन्य सत्ता नहीं है 'सत्ता सर्वपदार्थाना नान्या संवेदनादृत' (5-47)। अन्नपूर्णोपनिषद् में संवेदन अलौकिक ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नाड़ी के संस्पर्श से प्राण स्पन्दन होकर चित्त को संवेदन बनाता है, तब सूक्ष्म शरीर सभी पदार्थों में प्रादुर्भूत होता है। योगवासिष्ठ के अनुसार संवेदन रूप नेत्र से जगत का अवलोकन किया जाता है, अर्थात वह आन्तरिक ज्ञान है (निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्ध 627)। इसी ग्रन्थ में संवेदन को चेतना का अभिन्न अंग गिना है, उसके व्यापक

---

1. Dr. Padma Agarwal, *Symbolism : Psychological Study*, p. 148
2. Mysticism is religion of the heart, where heart is touched, there should be divine ecstacies.—Spencer

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरूप का विवेचन करते हुए संसार के सभी पदार्थों की स्थिति संवेदन के अनुसार होती है (वही, 207–27)। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में संवेदन को ज्ञानात्मक कहा गया है 'यदेव स्मृति संवेदनम् तदेव अनुभव संवेदनम्' (1.7.5)। आचार्य अभिनव गुप्त ने स्वसंवेदन ज्ञान को ही स्वीकार किया, जो स्मृति संवेदन का अनुभव है। 'स्मृति लक्षणे संवेदने संवेदनम् अनुभवरूपम् संवेदनम् ज्ञानम् संवेदनम् स्मृति ज्ञानम्।' इस संदर्भ में रहस्यात्मक संवेदन स्पष्ट हो जाता है।[1]

आधुनिक मनोविज्ञान में संवेदन का विवेचन किया जाता है। वाल्टर टी॰ स्टेस के मत में रहस्यवाद में संवेदन से एकता का बोध होता है और यह संवेदन अन्तिम सत्य की ओर अग्रसर करता है। मनोवैज्ञानिक फ्लेइ इटर के अनुसार रहस्यवाद ईश्वर के साथ एकता का स्पष्ट संवेदन है ब्रह्मत्व के साथ जीवन का पूर्ण तादात्म्य। यही पवित्र संवेदन है।[2] आइन्सटीन ने भी रहस्यवाद को मूलत: संवेदन गिना है। यही मत बर्ट्रेण्ड रसल का है। रहस्यवाद तत्त्वत: संवेदन है।[3] आज मनोविज्ञान में जिस 'एक्स्ट्रा संवेदन' की चर्चा होती है, उसमें अतीन्द्रिय दृष्टि का भी विवेचन उपलब्ध है। यह भी रहस्यवाद की अतीन्द्रिय दृष्टि का परिणाम है।[4] डॉ॰ धीरेनमोहन दत्त का कथन है कि रहस्यवादी संवेदन और प्रातिभ ज्ञान से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए समष्टिबोध की ओर अभिमुख होता है।[5] यह समष्टि बोध रूपान्तरण की प्रक्रिया है। आज का विज्ञान-मनोविज्ञान इस रूपान्तरण की वैज्ञानिक व्याख्या करता है जिसका साधार 'ध्यान योग' है। विज्ञान के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क में आ॰एन॰ए॰ नामक एक रसायन होता है, जो संवेदना और चेतना की परतों पर छाया रहता है। यही रसायन रूपान्तरण का हेतु है। इसको कम अधिक किया जा सकता है। यह अतीन्द्रिय अनुभूतियों का भी एक कारण है। जीव शास्त्री जेम्स ओलइस ने इसका प्रयोग किया है—इस प्रयोग से चूहे भय रहित और आश्वस्त हो गए—निडर।

डॉ॰ पद्मा अग्रवाल ने धार्मिक रहस्यवाद के प्रतीकों का वर्णन किया है। धार्मिक रहस्यवाद का मुख्य प्रयोजन अपने स्व को ईश्वरीय सत्ता के साथ तादात्म्य करना है और यही आनन्द की चरम स्थिति है और यही रहस्यवादी का एकमात्र लक्ष्य है। यह रहस्यात्मक अनुभूति केवल संवेदन से नहीं होती, तात्कालिक प्रातिभ ज्ञान से भी होती है। प्रतीकों को मनोविदलता या मनोविकारों का परिणाम और अचेतन प्रक्रिया कहा जाता है, जो अब

---

1. प्रसाद ने कामायनी को 'चेतना का सुन्दर इतिहास' कहा है। श्रद्धा का उद्देश्य है 'पूर्ण हो मन का चेतनराज' अर्थात प्रत्यभिज्ञ होना ही शुद्ध चैतन्य का बोध है। प्रत्यभिज्ञ हृदय में 'चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित विश्वमय:।' इससे अहंचेतना और इदंचेतना का द्वैत नष्ट हो जाता है। (द्रष्टव्य—*प्रसाद दृष्टि और सृष्टि, मेरा निबन्ध*)
2. डॉ॰ वेदज्ञ आर्य, *कामायनी* की पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर।
3. Mysticism in essence is a certain depth and intensity of feeling. *Mysticism & Logic*, p. 3
4. Eric Bern : *A Guide to Psychiatry and Psychoanalysis*, p. 391-393
5. Dynamic religion is source of mystic intuition and identity with life. It is supra intellectual and a plunge into the living source of intelligence.—*The Chief Contents of Contemporary Philosophy*, p. 280-287

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अमान्य है। रहस्यवादी किसी भी दृष्टि से मनोविदल नहीं होता। फ्रायड ने अपनी परवर्ती रचनाओं में इसे स्वीकार नहीं किया और 'इडइगो' के स्थान पर इसे 'सुपर इगो' गिना है। इसका कारण है कि रहस्यवादी ईश्वर में ही अपनी अस्मिता खोजता है और इस स्तर पर सुपर इगो चरम विकास की भूमिका पर उपलब्ध कर पूर्णता प्राप्त करता है।[1] यहाँ सुपर इगो द्वारा इगो प्रतिभासित होकर आक्रामक वृत्ति की ऐन्द्रिक संवेदना से मुक्त हो जाता है।[2] आज जिस धार्मिक यूटोपिया (Religious Utopia) की चर्चा चल रही है, उसका मूल भी हमें अध्यात्म और धर्मसम्मत रहस्यवाद में ही खोजना होगा। इसी प्रकार प्रचलित नया शब्द 'वैज्ञानिक रहस्यवाद' (बुलेटिन ऑफ एटॉमिक साइन्टिस्ट, मार्च 1974, पृ० 38) के अनुसार जड़ और चेतन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बताया गया है। कार्ल पापर कहता है, 'ब्रह्माण्ड सतत क्रियान्वित है और इसका केन्द्र मानव है।' आज विज्ञान इसी पूर्ण मानव की धारणा का पोषक है। यही ज्योति सम्पन्न सनातन अखण्ड भाव है। संवेदनात्मक ज्ञान से इन्द्रियों और पंचप्राणों से परे तन्मात्राओं से विशिष्ट उसका अस्तित्त्व अव्याहत और अपरिमेय है, उसकी प्राणधारा अखण्ड है, सृष्टि की अनुपम सत्ता, अखण्ड चेतना और आशा और उल्लास आनन्द का अनवरत प्रवाह है। यही 'वैज्ञानिक रहस्यवाद' का सार-तत्त्व है। अन्नमय कोश उसका अथ है तो आनन्दमय कोश उसकी इति। वही 'स्व स्वरूप विश्रान्ति' है, आत्म साक्षात्कार ही उसका ध्येय है। मनुष्य एक सूक्ष्माण्ड है तो एक ब्रह्मांश भी (फ्रेगमेंट इन टोटेलिटी)। अपूर्णता से पूर्णता ही उसका यात्राक्रम है। वह प्रच्छन्न ब्रह्म है 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'। पिण्ड ब्रह्माण्ड से एकाकार हो जाता है, व्यष्टि समष्टि से। रहस्यवादी जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में इस तदाकारता में विराट पुरुष को देखता है एवं परम तत्त्व का सन्धान करता है। 'इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि' अब मैं वही हूँ। डेविड फ्राले (वामदेव शास्त्री) कहता है, 'एक के बिना अनेकत्व सम्भव नहीं। वह एक ब्रह्म ही अपने संकल्प से अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है, 'रूपं रूपं प्रति रूपोवभूव।' एक नहीं होता, तो अनेक नहीं होते।[3] यह विश्वात्मा ही रहस्यवादी की प्रज्ञात्मक विशिष्टता है। यही संविति है, मानवीय जीवन की उच्चतम स्थिति। विज्ञान आज मानवीय चेतना की इसी खोज की पहचान और परख कर रहा है। यही एक दृष्टि से वैज्ञानिक रहस्यवाद है अथवा धार्मिक यूटोपिया का सन्धान। मनस्तत्त्व वैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि जड़ और चेतन की सामञ्जस्यपूर्ण सन्धि में चेतना का विकास, अनुभूति की गहराई नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर निर्धारित है न कि कृत्रिम बौद्धिकता अथवा भौतिकता पर। रहस्यवाद की नैतिक अवधारणाओं में ही समाजशास्त्री आज लोककल्याण की मांगलिक प्रवृत्ति की परिपूर्णता पाते हैं। बायो

1. Indeed in the more kind of religious experience is to be found possibly the most perfect of all forces of altruistic surrender in which ego secures to have lost its petty individuality with all its fears and worries of personal existence and to have become an integral part of the more embracing universal whole in tune with the infinite.—J.C. Flugel, *Man, Morals and Society*. p. 186
2. डॉ० पद्मा अग्रवाल, पृ० 262
3. *उत्तिष्ठ कौन्तेय*, अनुवादक केशव प्रसाद कायाँ, पृ० 79

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डाइवरसिटी के अनुसन्धानों ने इसे परिपुष्ट किया है। जेम्स जीन्स ने यह स्वीकार किया कि वैश्विक शक्ति ही मानवीय चेतना का विकास और नियमन करती है। विश्व एक यन्त्र नहीं चैतन्य शक्ति है।[1] आधुनिक विज्ञान का नया शब्द है 'बटरफ्लाइ।' यह समूचे ब्रह्माण्ड में जड़-चेतन का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करता है।[2] पॉल डेविस कहता है, विश्व की कोई वस्तु एक-दूसरे से पृथक् नहीं है।[3] निःसन्देह आज विचारधारा प्रज्ञादर्शन और अध्यात्म के अधिक निकट आ गई है। 'एकोवशी सर्व भूतान्तरात्मा, एक रूपं बहुधायः करोति।' नित्यों में वही एकमात्र नित्य है। चेतन में वही एकमात्र चेतन है। अनेक में वही एक है। 'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।' आज विज्ञान मानव का यही रूप स्वीकार कर रहा है।[4]

भारतीय रहस्यवाद और योगियों पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनका आत्म साक्षात्कार अथवा तज्जन्य उपलब्ध परमपद, परमशांति, परम आनन्द नितान्त वैयक्तिक मुक्ति है, जिसका बृहत समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह केवल वैयक्तिक मुक्ति है। नोबेल पुरस्कार प्राप्त विद्वान स्विटजर ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलेपमेण्ट' में एवं हीलर ने ग्रन्थ 'प्रेयर' में ये आक्षेप लगाए हैं। इनके अतिरिक्त ओटो रुडोल्फ ने 'मिस्टिसिज्म ईस्ट एण्ड वेस्ट' में जिस रहस्यवाद के मार्ग Inward Way and the Way of Unity का प्रतिपादन किया है, उसमें भी प्रायः यही आक्षेप है। बर्गसाँ ने भी रहस्यवाद के दो भेद किए हैं : पूर्ण और अपूर्ण। इनमें भारतीय रहस्यवाद को अपूर्ण गिना है, क्योंकि उसमें व्यापकता नहीं है। डेविड फ्राले (वामदेव शास्त्री) ने अपने ग्रन्थ अवेकन इंडिया (Awaken India) में रहस्यवाद के दो नए भेद किए हैं—दैवी रहस्यवाद और आसुरी रहस्यवाद। उनका कथन है—Mysticism can be divided into two basic types—Pure and Impure (दैवी और आसुरी). Pure Mysticism is dominated by सत्गुण and promotes love, peace, selflessness and compassion and is based on yogic principles of non-violence, truthfulness, tolerance selfcontrol, meditation and asceticism. Asuric exists for promoting power, domination and projects a subtle powerful ego and praise, violence, aggression, intolerance, anger, hatred, pride and vengence. (page 134).

यह विभाजन भी तर्कसंगत नहीं है। यह सही है कि कुछ भ्रष्ट योगी अपनी साधना का दुरुपयोग करते हैं पर वे पूर्णतः रहस्यवादी नहीं कहे जा सकते। वे आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सकते और सही अर्थ में रहस्यवादी भी नहीं हैं। भारत में कुछ

---

1. 'दि ग्रेट डिजाइन' ग्रन्थ में चौदह वैज्ञानिकों का सर्वसम्मति से प्रस्ताव।
2. Hoyel के अनुसार A super intellect operating within the physical universe and manipulating our physical and biological cosmic environment. (*Vitalism*, National Bureau of Standard America, 1984)
3. Supermind is at the universal order Harmony and Order of the cosmos is evidence for a metaphisical elosight.—Paul Davis, *The Cosmic Blue Print*
4. आज मानव चेतना के नए विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है, जो सामान्य और संकीर्ण चेतना से नितान्त भिन्न है। यही विकसित चेतना मानव जाति को भयमुक्त करेगी और अज्ञान पाशविकता और नृशंसता से मुक्त करेगी। (*कॉस्मिक कंशसनेस*, किशोर गांधी में उद्धृत)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तान्त्रिक इसी श्रेणी में आते हैं। वामदेव शास्त्री ने एक 'आक्रामक रहस्यवाद' का भी उल्लेख किया है। वह आसुरी रहस्यवाद का ही एक अंग है। ये आक्षेप नितान्त भ्रान्त धारणाएँ हैं। आज विज्ञान में 'बटरफ्लाइ' के सिद्धान्त से समस्त सचराचर जगत के प्रत्येक पदार्थ के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध में यह प्रमाणित किया है कि सभी तत्त्व एक-दूसरे से बँधे हैं, किसी में अलगाव या निस्संगता नहीं। 'बटरफ्लाइ' सिद्धान्त बताता है कि यदि एक तितली पीकिंग में उड़ती है तो उसकी प्रतिक्रिया आगामी मास में न्यूयॉर्क में होगी।[1] रॉबर्ट बेरी कहता है कि आज प्रत्येक वस्तु अन्य सभी से सम्पृक्त है। जो एक व्यक्ति करता है वह कैसा भी, कहीं भी करे, उसका प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर पड़ेगा, चाहे वह कितना भी अल्प अथवा क्षणिक हो।[2] अतएव योगी की साधना और उसकी अनुभूतियों का प्रभाव तो समाज और संस्कृति पर पड़ता है। वह वैयक्तिक नहीं होता। भारतीय रहस्यवादियों का जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व इसका पुष्ट प्रमाण है। शोभा-रानी बसु ने अपने ग्रन्थ 'मॉर्डन इण्डियन मिस्टिसिज्म' (तृतीय खण्ड, पृ० 1072) में भारतीय मूल भाव को 'सर्वभूत हिते रता:' एवं 'सर्वत्र सुखी भवतु लोक:' कहा है। हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा का यही मन्तव्य है—

ॐ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वः यः सर्वः सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो देवस्तमै सर्वात्मने नमः॥

जिनमें सब हैं और जिससे सब हैं, जो सब हैं, जो सर्वत्र हैं और जो सर्वमय देव हैं उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है। जो विद्वान उपर्युक्त आक्षेप करते हैं, वे पूर्वग्रह और संकुचित दृष्टि से ग्रस्त हैं और आक्षेप उसी के परिणाम हैं।[3]

सैद्धान्तिक निरूपण के अनन्तर हमें अब रहस्यवादी की जीवन-पद्धति पर भी संक्षेप में विचार करना चाहिए। व्यक्तित्व की अन्त:प्रक्रिया में वह अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति के साथ-साथ वह पूर्णता का सहज और समर्थ साधक बन जाता है। जैसा कि पूर्व में कहा है, बैखरी से परा तक का आभ्यन्तर क्रम विराट मानवीय चेतना का सोपान बनकर शब्दों से परे अर्थ की व्यंजनात्मकता और दुरूहता में शिवत्व और सौन्दर्य का सन्धान कर परम सत्य को उपलब्ध करता है और अभिव्यक्त। इस अन्तरात्मक रहस्यमयी आध्यात्मिक स्थिति में दोनों में कोई विसंगति या वैषम्य नहीं रहता। 'प्रमाणाद्य प्रवृत्तेः सर्व जनागोचरं प्रमात स तत्त्व परं तत्त्वम्।' रहस्यवादी का यह अवबोधन-उद्‌बोधन भी अनन्य है। प्रकृति सर्व व्यापक सत्ता की शाश्वत प्रतिकृति बन जाती है—उसके रूप का प्रतिरूप। उसका अप्रतिम सौन्दर्य उसे आकृष्ट करता है। जिज्ञासा से

1. New Mathematics of Chaos Theory 'The notion that a butterfly stirring the air today in Peiking can transform storm systems next month in NewYork.'
2. Everything is connected with everything. Everything that any one of us does no matter now initial it seems has some impact on the rest of the world, no matter now infinite-simal.—*The Illusion of Separateness*
3. The (mystic) experience is never a wiser's hoard ...but a guiding light and pillar of support to others. It is the individual microcosm developing into the national, rather universal macrocosm.—Padma Agarwal, 3rd Volume, p. 95

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रारम्भ हुई इस यात्रा का उपक्रम विरह-मिलन, उल्लास-अवसाद, प्रतीक्षा के साथ-साथ एकाकीपन और प्रेम की अथक प्रवहमानता में विद्यमान रहता है। यह पथ सुगम नहीं है। सभी रहस्यवादियों ने इस यात्रा की चुनौतियाँ व कष्ट झेले हैं, पीड़ा और कसक सही है। इसे ही आत्मा की अन्धकारमय रात्रि Dark light of the Soul कहा है। अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की अपूर्णता का बोध विरोधाभास उत्पन्न करता है। यही वह अतृप्ति है, जिसके कारण चेतना, संवेदना, प्रबोधन के नित नूतन सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। एक ओर अज्ञता है तो दूसरी ओर प्रिय-मिलन की असमर्थता का परिणाम। विरह भी है और मिलन भी। इमसें जागृति, आकर्षण, प्रेम, विरह परिष्करण, उदात्तता, प्रतीक्षा-मिलन सभी समाहित हैं। 'बलिहारी वा दु:ख की जिन प्रिय दियो बताय।' रहस्यवादी तत्त्वत: संवेदन की तीव्रता, चेतना की समर्थता और मनोवृत्ति की गम्भीर आदर्श भावना से वह प्रत्येक वस्तु में अपने प्रिय के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाता। मनोविज्ञान की भाषा में यही प्रातिभ अनुभूति है। यही भावातिरेक की चरम अवस्था है। आत्मपरिष्करण की, जहाँ विरह में मिलन, आनन्द और भूमा सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। श्री परमानन्द सरस्वती कहते हैं, 'अलख अनुभूति और चेतना, संवेदना का यह विचित्र संसार अन्त:करण को विभिन्न तरह से आन्दोलित एवं अभिभूत करता है। रहस्यों का दिगन्त प्राणों में कल्पनाएँ उद्‌भूत करता है।' अन्त:करण की संवेदनाओं को बटोरकर साधक दिव्य रस का अनिर्वचनीय आस्वादन करता है। एकान्त साधना में, जीवन के विरामहीन संघर्ष में, अजस्त्र प्रेम के प्रवाह और प्राणों की प्रभा में ज्ञात-अज्ञात रूप से मर्मी असीम आनन्द प्राप्त करता है, यही समाधि है। जब प्रेम के प्रवाह में वह प्रभा नहीं देख पाता, तब उसकी पीड़ा या विरह भावना तीव्रतम हो जाती है। रहस्यवाद में भक्ति-विरहासक्ति और तन्मयता का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दादू कहते हैं, 'प्रीति न उपजै विरह बिनु प्रेम भगति क्यों होई।' डायोनिसस ने कहा था, 'परमात्मा से आत्मा का अत्यन्त गुप्त वाग्विलास ही रहस्यवाद है। यह चाहे प्रियतम का हो अथवा प्रियतमा से मिलन का हो अथवा विरह का।'

वह कैसा क्षण रहा होगा जब रामकृष्ण परमहंस अपनी आराध्य माँ काली के समक्ष अपनी अबोधता के लिए रोते थे। वह रुदन केवल रुदन नहीं था। उसमें प्रेमजन्य अथाह करुणा थी। यही तो रहस्यमय अनुभूति एवं संकल्प की कसौटी है। योगी कभी संयोग में उल्लसित होता है तो कभी वियोग में प्रतिहत। संयोग-वियोग दोनों से परे वह कभी एकात्म की भूमिका पर पहुँचकर प्रियतम से प्रेमालाप करता है। जागतिक प्रपंचों से दूर वह अपने आराध्य को ही पूर्ण रूप से समर्पित रहता है। रात्रि के अन्धकारपूर्ण नैराश्य के पश्चात उष:बेला में सूर्य की तेजोमयी रश्मियाँ उसे आश्वस्त करती हैं, यही सुषुप्ति से जागृति है। स्वप्न में भी वह अपने आराध्य के साथ रमण करता है और अन्त में तुरीयावस्था में अभेदतत्त्व प्राप्त कर परम शान्ति-लाभ। इस सम्बन्ध में मारग्रेट मेरी ने एक पत्र लिखकर बताया था, 'उस दिव्य त्राणकर्त्ता ने मुझसे कहा मैं तुझे एक नई विभूति दूँगा। वह विभूति कि मैं कभी तेरी दृष्टि से ओझल नहीं होऊँगा और सदैव मेरी उपस्थिति का अनुभव करेगी' अर्थात 'जो बिछुड़े हैं, प्यारे से भटकते दरबदर फिरते,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या।' यही आध्यात्मिक यात्रा की उत्कृष्ट पहचान है। जलालुद्दीन रूमी ने इसी को जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि कहा है। रहस्यवादी की तो एकमात्र इच्छा है :

आप्यायन्तु ममङ्गानिवाक् प्राणश्चक्षुः श्रोतमधो।
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि।

❑ ❑ ❑

विश्व जीवन विमोहनच्छबिः कोऽसिदेव यदुदेसि मे पुरः।
त्वां पिवामि हृदयेन निर्भरं तिष्ठ तिष्ठ सविधेक्षणं मम॥

अपने आराध्य की मूर्ति देखखर वह अवाक् है।

अहो निमग्र स्त्व रूप सिन्धौ पश्यामि नान्तं न च मध्य मादिम्।
अवाक् निःस्पन्दतरो विमूढः कुत्रास्म कोऽस्मीति न वेदिम् देव।

यहाँ पूर्ण तन्मय अवस्था है अनुभूति की पराकाष्ठा।

आराध्य के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ उसे आकर्षित नहीं करता। सभी स्थान, सभी भाव, सभी अनुभूतियाँ, सभी स्मृति केवल आराध्य की है। क्योंकि 'यत्र यत्र मनोयति तत्र तत्र त्वस्वरूपम्।' एवं 'सर्व शिवमय जगत्।' कबीर की रहस्यात्मक अनुभूति का यहाँ एक उदाहरण देना चाहूँगा। वे कहते हैं

जमथै उलटि भया है राम दुख विसरया सुख किया विश्राम
बैरी उलटि भये हैं मीता, साषत उलटि सजन भये चीता

(कबीर ग्रन्थावली, पद 6)

यही वास्तविक प्रज्ञा है जहाँ यम राम होता है एवं बैरी मित्र। प्रसिद्ध विद्वान इन्ज के शब्दों में Mystic enjoys a dyings life not a living death. ईसाईमर्मी एखार्ट ने भी ऐसी ही बात कही है। ऐसी अनुभूति में सभी घास, सभी पत्ते, प्रस्तर, लता-लतिकाएँ, काष्ठ सभी में वही दृष्टिगत होता है। भारतीय ऋषि की तो और भी अद्भुत अनुभूति है

वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा।
यत्रैव चित्ते समुदेत्ति भक्तिस्तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्त्तिम्॥

'जित देखो तित श्याममयी है।' आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में ऐसी चिर स्थायी सम्बन्ध की दृढ़ भावना ही वस्तुतः वह आधारशिला है, जिसपर किसी रहस्यवादी साधक के जीवनादर्श की मूल भित्ति का वास्तविक न्यास किया जा सकता है। यह भावना उसके जीवन में प्रत्येक क्षण विद्यमान रहती है (रहस्यवाद, पृ० 109)। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'रहस्यवाद' में ऐसे अनेक उदाहरण दिए हैं।

सभी देशों के रहस्यवादी मनीषियों का जीवन-दर्शन, उनकी अनुभूति, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, संवेदना, संकल्प, प्रबोधन और आत्मबोध अपने मूल में प्रायः समान हैं। कुमारी अण्डरहिल ने रहस्यवाद के सोपान गिनाए हैं—परिवर्तन, आत्मज्ञान, प्रबोधन, समर्पण और संयोग। रहस्यवादी इस मार्ग में अवरोध करनेवाली बाधाओं को निरस्त कर उनका अनुशासन, अभिभावन और उनका शुद्धिकरण करता रहता है। सूफी मतानुसार इस यात्रा को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'मुकामात' कहा गया है और ये सात गिनाए हैं—अबूदियत (अनुताप), इश्क (प्रेम), जुहद (त्याग), मारिफत (ज्ञान), वज्द (भावावेश), हकीकत (वास्तविकता) और वस्ल (संयोग)। इनमें कुछ उपर्युक्त ईसाई सोपानों के समान हैं। यह भी विचारणीय है कि सूफी मत का 'फना' (मिलन) और बौद्ध सिद्धों के निर्वाण में कितना साम्य है। 'फना' के साथ 'बका' का भी प्रयोग होता है। 'फना' अभावात्मक है और 'बका' भावात्मक। भारतीय सूफी चार मंजिलें सूफीमार्ग की मानते हैं—नासूत, मलकूतकी, मारिफत और हकीकत। प्रथम शरीअत का पालन करता है, दूसरी में भौतिक इच्छाओं का त्याग, तृतीय (मारिफत) में परमात्मा से मिलन की बाधाएँ निरस्त होती हैं। साधक की यह अवस्था जबरूत है, अन्तिम हकीकत में जिसे लाहूत कहते हैं, परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म में वज्रयान एवं बौद्धतन्त्रों का रहस्यवाद भिन्न है। महायान और हीनयान दोनों में भी भिन्नता है। महायान ने बोधिसत्त्व की भावना का कम समावेश किया—त्रिकाम, दशभूमि, निर्वाण आदि। महायान में निर्वाण आनन्दमय है तो हीनयान में दुःखभाव रूप में (विशेष डॉ० शशिभूषण दासगुप्त का ग्रन्थ 'इन्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म')। डॉ० रमा चौधरी ने अपने ग्रन्थ 'वेदान्त और सूफी दर्शन' में दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। सूफीमत वस्तुतः निराकार की उपासना है। गुरु नानक का भी यही दर्शन है। जैनधर्म निर्वाण अर्थात आत्मा को कर्मविपाक से मुक्तकर निर्जरा द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। महावीर उत्तराध्ययन (23/03) में कहते हैं, 'जिसे महर्षि प्राप्त करते हैं वह स्थान निर्वाण है, अबाध है, सिद्धि है, लोकाग्रह, शिव और अनाबाध है।'

कुछ विद्वान रहस्यानुभव की एकता स्वीकार नहीं करते। डॉ० याकूब मसीह ने अपने ग्रन्थ 'समकालीन दर्शन' में इसकी विशद व्याख्या 'रहस्यानुभव और ई कथन' के अन्तर्गत की है। उनके मतानुसार रहस्यानुभव ईश्वरवादी और सर्वेश्वरवादी के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। सर्वेश्वरवादी का अनुभव मूक और अनिर्वचनीय होता है और परमसत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ईश्वर सर्वव्याप्त है। ईश्वरवादी का अनुभव भावप्रधान होता है और पूर्णतः अकथनीय नहीं होता (पृ० 266-268)। मुझे दादूदयाल की यह उक्ति ही सटीक लगती है, 'जे पहुँचे वे कह गए सब की एकै बात। सबै सयाने एक मत सबकी एकै जात॥' मैंने यहाँ तो केवल संकेत ही दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न लेखों में इस पर विस्तार से विचार-विमर्श है। (विभिन्न दर्शनों सांख्य, अद्वैतवाद, वेदान्त, विशिष्टाद्वैत, न्याय, वैशेषिक आदि को छोड़ दिया है।)

यह कहना संगत होगा कि रहस्यवाद केवल धर्म, दर्शन और अध्यात्म तक ही सीमित नहीं है। विज्ञान के नूतन आयामों एवं अधुनातन सिद्धान्तों में भी यह सुचिन्तित और परिलक्षित है। 'वैज्ञानिक रहस्यवाद', 'चेतना की नवीन प्रतिपत्ति', 'धार्मिक यूतोपिया' इसके प्रमाण हैं।

इधर वैज्ञानिकों ने भौतिकी और रहस्यवाद के पारस्परिक संबंध का प्रामाणिक अध्ययन किया है। सोमर फील्ड इसे 'अटोमिस्टिसिज्म' (ATOMYSTICISM) अर्थात

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परा विद्या कहता है। अनेक वैज्ञानिकों के इस अध्ययन का आधार उपनिषद है॥ स्ट्रोगिंडर, एन बोहर, जोन ए ह्वीलर, अमित गोस्वामी, एफ कापरा, ए०डी० रीनकोर्ट, टालबोट, वर्नर, हाइजनबर्ग, ओपन हामर, पाल डेविस, रोबर्ट बेरी आदि प्रमुख है। आज आचार्य जगदीशचन्द्र बोस के अनुसंधानों को आधार बनाकर नई विवेचनाएँ स्पष्ट हो रही हैं। सन् 1901 में ही आचार्य बोस ने बताया ता कि वस्तुजगत और मानवीय मनस में कोई अन्तर नहीं है। उनका कथन था 'In many investigations, on the action of forces on matter, I was amazed to find boundary lines vanishing and to discover points of contact ad emerging between living and nonliving. Same consciousness pulsates in man, plants and even metals in various ways. They respond in the same way to the external stimulus as conscious human beings.' (Lecture 1901 in British Association)

इस निष्कर्ष के परिप्रेक्ष्य में ही आगे वैज्ञानिकों ने चेतना की सर्वव्यापी स्थिति पर गवेषणा की। इरविन स्कोन्डर ने कहा 'चेतना में बहुत्व अथवा भिन्नता नहीं है वह समष्टि का एकात्म है।' 'सर्वखलु इदं ब्रह्म' (छांदोग्य) अथवा 'ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत' संसार गतिमान है। गति अणु-अणु के भीतर है, अतः गति देनेवाला भी अणु-अणु में व्याप्त है। बर्नर हाइजनवर्ग ने अपना 'इक्वेशन' इसी आधार पर बनाया था। डाना जोहर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि ताओ आव फिजिक्स' में लिखा है, 'All phenomena in the universe are as integral parts of all inseparable whole.' माइकेल टालबोट कहता है 'The fields which govern matter and mind are part of a continnum.' आगे चलकर मानवीय मस्तिष्क को 'होलोग्राम' की संज्ञा दी गई। Brain is a hologram, Any piece of hologram will reconstruct the entire image. (Holographic Paradigm K. WILBER)

एक वैज्ञानिक के अनुसार 'One atom in this universe cannot move without dragging the whole world along with it.' आर्थर कोइस्लर ने 'होलोन' शब्द का विशिष्ट प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है Holon describes the sub atomic particle since each particle reflects the whole. होलिज्म का यह सिद्धान्त व्यष्टि और समष्टि की चेतना का प्रमाण है, जिसमें उपनिषद का 'रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव' स्पष्ट है। इसी से 'थ्योरी आव एव्री थिंग' का सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ। केन० विलबर का यह कथन रहस्यवादी चैतन्य को अधिक स्पष्ट करता है। इसके अनुसार 'In the mystical cousciousness, reality is apprehended directly and immediately without any mediation meaning, any symbolic elaboration. xxx Subject and object become one in timeless and spaceless act that is beyound and and beyond all forces of mediation. The central teaching of mysticism is this 'reality is one.'

यही वस्तुतः 'रहस्यात्मक अनुभूति' है जिसको आज विज्ञान सर्वशः स्वीकार कर रहा है। इस सबका सार है 'The whole process of evolution fromAlpha to Omega, from first biological cell to christ is the process of christogenesis.' होलीज्म का सिद्धान्त है कि अणु से लेकर सम्पूर्ण समष्टि का आरोह मानव जीवन और मानस में पूर्णतः स्वसंभूत है—Fundamental principle of the universe is the cre-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ation of the wholes i.e. complete and self contained systems (Chamber 20th centrury Dictonary).

भारतीय मनीषा ने उपनिषदों में शताब्दियों पूर्व यही प्रमाणित किया था। रोबर्ट ओपन हाइमर का यह मंतव्य प्रसिद्ध है 'If we ask for instance, whether the position of the electron remains the same we must say No, if we ask whether the electron is at rest we must say No, if we ask whether it is in motion we must say No. This is just a parallel statement of ' ईशावास्य उपनिषद

तदेजति तन्नेजतितद्दूरे तद्वन्तिके
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः (5)

रहस्यानुभूति, आध्यात्मिक साधना एवं चेतना के अतिमानस-अतीन्द्रिय स्वरूप को समझने के निमित्त यहाँ अद्यतन वैज्ञानिक गवेषणाओं का उल्लेख भी प्रासंगिक है, जिसके द्वारा हम रहस्यानुभूति को वैज्ञानिक स्तर पर भी निरूपित कर सकते हैं। आज विज्ञान यह प्रतिपादित कर रहा है और वैज्ञानिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि God won't Go Away as He is in our Brain. न्यूरोथियोलॉजी की नई वैचारिकता ने मानवीय अध्यात्म की नूतन खोज की है और अनुसन्धान कर इसके प्रमाण एवं उदाहरण दिए हैं। सद्यः प्रकाशित ग्रन्थ 'रिलिजन इन माइण्ड' में योग के 'निदिध्यासन' के आधार पर यह निदर्शित किया गया है कि अध्यात्म चेतना किस प्रकार आशा-उल्लास और रचनात्मक ऊर्जा के साथ-साथ अतीन्द्रिय लोक में ले जाती है, जिसे आज की भाषा में 'वैज्ञानिक रहस्यात्मक चेतना' कह सकते हैं। एलेक्स ग्रे के अनुसार "Call it a mystic experience or a spiritual moment even a religious epephany ... instant of Grace as a proof of reality beyond comprehension of our senses." आज वैज्ञानिक इस गुत्थी को सुलझाना चाहते हैं कि यह आध्यात्मिक अनुभूति क्या ईश्वरीय देन है अथवा मानवीय मस्तिष्क की योगात्मक साधना का सन्धान। In mystic experience the content of the mind fades and sensory awareness drops out so you are left only with pure consciousness. यही योग की भाषा में 'मधुमती भूमिका या सविकल्प समाधि' है। इस सम्बन्ध में प्रो० माइकेल परसिंजर गहन गवेषणा कर रहे हैं। उनके अनुसार पाँच में चार व्यक्तियों की रहस्यात्मक अनुभूति भौतिक अनुभवों से परे एक पारदर्शी, अव्यक्त और दिव्य तात्विक अनुभूति थी। दूसरे वैज्ञानिक आन्द्रेन्यूवर्ग ने भी Why God Won't Go Away ग्रन्थ में यह निष्कर्ष निकाला कि When people have spiritual experiences, they feel they become one with the universe and lose their sense of self. .....Unless there is a fundamental change in the brain, religion and spirit will be there for a long time.

ये वैज्ञानिक गवेषणाएँ भारतीय योगशास्त्र में योगी की साधना और उसकी रहस्यात्मक एवं परमसत्ता के बोध का आध्यात्मिक निरूपण ही है, जो आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों ने ध्यानयोग से प्रमाणित किया था। आज विज्ञान उसी की सम्पुष्टि कर रहा है। श्वेताश्वतर में कहा है—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ते ध्यान योगानुगता अपश्यः देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्टत्येकः (1.37)

ऋषियों ने ध्यानयोग से देखा कि वह देवात्म शक्ति अपनी महानता से निगूढ है और दिखती नहीं। वह देवात्मा भी अधिष्ठाता है, काल से लेकर आत्मा तक। पातंजल योग शास्त्र का अष्टांग योग और 'षट्चक्र निरूपण' तो विदित ही है। मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक की जिस साधना का वर्णन किया गया है वह आज विज्ञानसम्मत है। यही सम्प्रज्ञात योग योगी को होता है। सविकल्प समाधि चित्त में समाधि प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। यही मधुमती प्रज्ञा है और कुण्डलिनी योग का उद्देश्य है। उसे मस्तिष्क में ले जाना और यह क्रिया धारणा एवं प्राणायाम से ही सम्भव है। यही पश्यन्ती वाक् है। अनाहत के द्वारा ही कुण्डलिनी को क्रमशः दीर्घकाल के अभ्यास द्वारा मस्तिष्क में उठाना पड़ता है। यहाँ नाद ही घनीभूत होकर बिन्दुता, सूक्ष्मता प्राप्त करता है। शिव शक्ति का योग। इसके ऊपर निर्वाण चक्र सहस्रार है जो ब्रह्मरन्ध्र में हैं। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अष्टदल हृदय है और यही निर्विकल्प समाधि (परानन्द) है (द्रष्टव्य-विभूतिपाद एवं हठयोग प्रदीपिका)। वैज्ञानिक एक न एक दिन कभी इसे भी पूर्णतः स्वीकार करेंगे। अब उनका मार्ग प्रशस्त है। पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी ने उपर्युक्त वैज्ञानिक निरूपण का ऐसा ही उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'यन्त्रम्' एवं निबन्ध 'षटकोण यन्त्र' में किया है और बताया है कि आज का विज्ञान अब 'प्रज्ञान' बनेगा। डॉ० न्यूबर्ग ने अपने ग्रन्थ में मस्तिष्क का जो चित्र दिया है और विभिन्न लम्बों (lobes) के परिवर्तनों का साधना में प्राप्त अनुभूति के द्वारा स्पष्ट किया है। (ये भारतीय योगसाधना के ही लम्ब हैं।) Brain scan of people in prayer or deep meditation have revealed the neurological under pinnings of religious states such as transcendence, vision, enlightenment and feeling of awe. वह इस साधना को (हमारे योगशास्त्रानुसार) वैश्विक ऐक्य, धार्मिक अवधारणा, अलौकिक बिम्ब विधान और आनन्दानुभूति बताता है। कठोपनिषद् (6.10.14) में यमराज कहते हैं—

यदा पञ्चावधिष्ठन्तेऽज्ञानानि मनसासहा बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्

❑ ❑ ❑

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदिश्रिता अथ मृत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

जब पंचेन्द्रियाँ बाह्य विषय से प्रत्याहत होकर मन के साथ अवस्थान करती हैं तब स्वबोध शून्य हो जाता है और वही परम गति है। आत्मरूप पदार्थ प्रतीयमान होते हैं। विमल हृदय में आत्मसूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है और अलौकिक बिम्बविधान और आनन्दानुभूति को क्रमशः बताता है। पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ 'यन्त्रम्' में इसका ही सटीक निरूपण विभिन्न लम्बों के आधार पर किया है और इसके प्रायः वे ही चित्र दिए हैं जो वैज्ञानिक न्यूबर्ग ने अपने अद्यतन प्रयोगों से। इनका अधिक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। सम्भवतः कुछ विद्वानों को यह प्रस्तुत सन्दर्भ में विषयान्तर लगे पर मेरे विचार में इसका प्रासंगिक और संक्षेप विवेचन आज धर्म और अध्यात्म की वैज्ञानिक सत्यता के साथ-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साथ यह भी प्रमाणित करता है कि न तो ईश्वर मरा था, न मरा है, न मरेगा। रूबिन्स्टीन रिचार्ड (1966) ने कहा था कि बीसवीं शताब्दी ईश्वर, धर्म और अध्यात्म की मृत्यु की सदी है। जे०जे० थॉमस ने धर्म और अध्यात्म का विरोध करके कहा था, Love of God is the root of all evils. Religion is the tragedy of mankind. इसके विरुद्ध आज की वैज्ञानिक गवेषणाएँ सशक्त प्रमाण हैं। विज्ञान की 'न्यूरोथियोलॉजी' ने पुनः रहस्यवाद का नूतन अध्ययन तो किया, पर भारतीय प्राज्ञ पुरुषों की सहस्रों वर्ष तक किए गए सिद्धान्तों और आध्यात्मिक योग की भी पुष्टि की है।

परिशिष्ट

वर्तमान युग में चिन्तक धर्म के स्थान पर आज अध्यात्म का प्रयोग कर रहे हैं— अनेक ग्रन्थ *साइन्स एण्ड स्पिरिट्यूलिटी*, डॉ० हरि गौतम, *साइन्स एण्ड स्पिरिट्यूलिटी*, स्वामी रंगनाथानन्द *Indian Journal of Spirituality*

As one nation India exists in the world of spirituality. (Annie Besant)

The Whole basis of Indian mind is its spiritual and an inward turn spiritual and cultural oneness. (Shri Aurobindo)

Vision of oneness multiplicity of faith is a source of Indian spiritual strength which no other nation possesses. (Kewal Motwani)

The moral, intellectual and aesthetic morals are the tenets—Righteousness, consciousness, Feeling, Thinking and Willing. all interdependent Each of these has a special relation with spiritual activities. (Percy Dearmen—*Art and Religion*)

Awareness of the unity and mutual interrelation of all things and events—the experience of all phenomena in the world as manifestation of a basic oneness are parts of the cosmic whole. Separation is an illusion. Samadhi is mental equilibrium. Modern Physics say the same interrelated and interdependent, Quantum theory reveals the same. (F. Capra)

Language to communicate inter experience transcends linguistics. We cannot speak about. (Sujuki)

The specially moral being is only attained through such a transcendence for the idea of the good lies beyond being. (Plato)

Modern Physics leads us to the view of the world which is very similar to the views held by the mystics of all ages and traditions. (F. Capra)

The problem of language encountered by the Eastern mystics is exactly the same as the problems of the modern physicist faces. These statements are paradoxical. (*The Law of Physics*)

The Great spiritual traditions of both east and west all agree that one becomes a fully open human being by realising one's grounding in the universal principles of life. This transpersonal context, which one can realise directly is finally what may provide complete self knowledge and give strength and depth to one's life and allow human beings to live in greater harmony with another.

John Welwood & the Lueeting Of Ways Exploration
in *East & West Psychology*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(ii) There is always a small groups of men who teach religion from experience. They are called mystics and these mystics, in every religion speak the same tongue and teach the same truth. This is the real science of religion.

Vivekanand-Complete Works
Vol. VI (Ed. Six) p. 81

Mystical experience is necessary to understand the deepest nature of things, we need a dynamic inter play between mystical intuition and scientific analysis (F. Capra—*The Tao of Physics,* p. 324)

Eastern rather than western insights is perhaps the most outstanding phenomenon of our times. (A.D. Reincourt—*The Eyes of Shiva,* p. 171)

The most beautiful emotion we can experience is the Mystical. In this sense only I belong to the ranks of devoutedly religious men. **Einstein became a cosmic man.** He turned towards a religious spiritualisation of our understanding of life (Dialogues with Scientists and Sages by Rane Weber, p. 203)

Science and religion will meet and shake hands. (Swami Vivekananda) *Complete Works*, Vol. 2 p. 140

Mental properties belong to a separate world-world2, and meaning comes from still higher world 3. Consciousness is extra cerebral. The higher transcendents but includes the lower and not vice versa. Life transcends but includes matter; mind transcends but includes life. Soul transcends but includes mind and spirit transcend but includes soul.

(*Quantun Question*, Ken Willber p. 16)

Science seems to be signalling not only the end of a century but the end of the science as we know it. (Fred Alan Wolf : *Introduction to the Self Aware Universe*.)

Paralles between modern Physics and Eastern Mysticism are most striking and we shall often encounter statements where it is almost impossible to say whether they have been made by physicists or by Eastern Mystics. xxx Then the mystics and the physicists arrive at the same conclussion. The harmony between their views confirms the ancient. Indian wisdom the Brahman, the ultimate reality without is identical to Atman. The reality within. (F. Capra, *The Tao of Physics*, p. 323)

The life of yours, which you are living is not merely a piece of existence, but in certain sense the **whole is that sacred mystic formula Tat TWAM ASI.** I am this whole world.

(Erwin Schrodinger *Mind and matter*, p. 931)

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद
2. उपनिषद्
3. श्रीमद्भगवद्गीता
4. पातञ्जल योगदर्शन, स्वामी हरिहरानन्द
5. जपसूत्रम्, खण्ड 1-6, स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

6. महायोग विज्ञान
7. भारतीय दर्शन (1-2 भाग) डॉ० एस राधाकृष्णन्
8. रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
9. रहस्यवाद, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी
10. पूजा : स्वामी प्रेमानन्द
11. हिन्दी काव्य की रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ, ब्रजमोहन गुप्त
12. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, विश्वनाथ गौड़
13. रहस्यवाद और हिन्दी में उसका स्वरूप, सद्गुरु शरण अवस्थी
14. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
15. आनन्दघन का रहस्यवाद, डॉ० सुदर्शना
16. काव्य में रहस्यवाद—बच्चूलाल अवस्थी
17. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम खण्ड)
18. रहस्यवाद और हिन्दी कविता—प्रेमनारायण टण्डन
19. रहस्यवाद—राजेन्द्र सिंह रायजादा
20. कबीर ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा
21. कबीर ग्रन्थावली—भगवतस्वरूप मिश्र
22. सूफी सम्प्रदाय—रामपूजन तिवारी
23. बौद्ध दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव
24. वाग्दोह—कल्याणमल लोढ़ा
25. वाक्तत्त्व—वही
26. वाग्विभव—वही
27. वाग्द्वार—वही
28. समकालीन दर्शन
29. षटकोण एवं श्रीयन्त्रम्—स्वामी प्रत्यगात्मानन्द
30. शिवानन्द स्मृति ग्रन्थ—शिवानन्द लाइफ सोसाइटी
31. उत्तर मीमांसा—स्वामी परमानन्द सरस्वती

Modern Indian Mysticism (1-3)—Shobha Rani Basu
Mysticism—E. Under Hill
History of Eastern and Western Philosophy
Mind and its Control—Shivanand
Selected works of Acharya S.C. Mukherjee
Hindu Mysticism—S.N. Dasgupta
Vedic Mysticism—Raghuveer
Mystcism in Religion—W. R. Igne
Christian Mysticism—do
Religion in Modern Mind—W. T. Stace

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Mysticism in East—Otto Rudolph
The Act of Creation—Arther Koester
What is Life—E. Schrodinger
God and the New Physics—Paul Davis
The Cosmic Blue Print—do
The Theory of Everything—Robert Barry
Studies in Indian Thought—Harold C. Coward
A Journey into Consciousness—Charles A Burox
Mysticism and Indian Spirituality—Karel Warner
Vedic and Sages—David Frawley
Studies in Philosophy—S. K. Maitra
The Vision of India—do
Ananda—M Sivaraman
Philosophy : An Introduction—Barnes Noble
The Tao of Physics—F. Capra
The Eye of Siva—A.D. Renicourt
Order out of Choos—Ilya Pregogine
Mysticism and New Physics—Talbot
The Self Aware Univers—An Amit Goswani

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

2

अतीन्द्रियवाद

प्राणगोपाल मुखोपाध्याय

अतीन्द्रियवाद को स्वभाववादियों, सन्देहवादियों, विज्ञानवादियों या दार्शनिकों का ही मत नहीं मान लेना चाहिए। साधारण स्वभाववादी और जड़ विज्ञानवादी हमें जो सूचनाएँ देते हैं, अधिकांशतः वे कपोल-कल्पित या मनगढ़न्त हैं। विचार और बुद्धि सत्य को जानने के यन्त्रमात्र ही नहीं, बल्कि वे मन के विषय को प्रकाशित करने के यन्त्र भी हैं जो कागज-कलम की तरह सहयोगी हो सकते हैं। कागज-कलम का लिखित विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसी प्रकार का सम्बन्ध विचार और बुद्धि का है, फिर भी वे यदा-कदा प्रकृत सत्य को इंगित करते हैं। दार्शनिकों का मानना है कि प्रकृत तत्त्व या वास्तविकता किसी पिंजरे में बन्द फड़फड़ाते हुए पक्षी की भाँति है। सन्देहवादी प्रायः गति को ही समझते हैं, स्थिति को नहीं। सत्य में स्थिति और गति दोनों ही हैं। मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? जीवन का लक्ष्य शारीरिक-मानसिक उत्कर्ष के साधन और तदुपयोगी विविध कला-कौशल का आविष्कार करना ही नहीं, अपितु एक उच्च अनुभूति को प्राप्त करना तथा सुन्दर भुवन के साथ एकात्मकता की स्थापना करना भी है। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वयं सृष्टिकर्ता ने मनुष्य के साथ सद्भाव, धर्मभाव और सौन्दर्य अनुभूति के सूत्र जोड़े हैं।

जीवन के तीन रहस्य माने गए हैं—भाव का रहस्य, दुःख का रहस्य और सौन्दर्य के आकर्षण का रहस्य। इन तीनों रहस्यों में ही सत्य, शिव और सुन्दर का संस्पर्श निहित है। सत्य, शिव और सुन्दर के द्वारों से ही प्रकृत तत्त्व की खोज करनी होगी। ये तीनों जब एकाकार हो जाते हैं, तब हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। महासत्य की प्राप्ति के पक्ष में प्रधान बाधा है, मिथ्या एवं 'मैं' का अहंकार। यह अहंकार दैहिक, प्राणिक और मानसिक भूमि पर आधारित होता है। इसे दूर करना बहुत कठिन कार्य है। यह पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा ही सम्भव है जो प्रेम के बिना नहीं हो सकता। प्रेमास्पद के चरणों में अपने-आपको समर्पित कर देने पर ही एकात्मता की अनुभूति हो सकती है। ज्ञान और ज्ञेय के बीच एक बड़ी दूरी है, फिर भी गम्भीर साधनरूपी भूमि पर ही प्रेम की मूर्ति प्रतिस्थापित हो सकती है।

अतीन्द्रिय अनुभूति को ही लेखक अपरोक्षानुभूति मानता है। अपरोक्ष अनुभूति ज्ञाता और ज्ञेय का मिलन है जो अहैतुकी और उसके सन्निकट होती है। स्वयं को प्रत्यक्ष देखने के मध्य यदि बिन्दु-मात्र भी स्वार्थ का भाव रहे तो अनुभूति अपरोक्ष नहीं मानी जाती। जैसे हमारी आँखों और सूर्य के प्रकाश के मध्य भी एक पृथकता होती है। संजीवबाबू के **पलामू** के वक्तव्य में श्रोताओं ने समझा कि मैं निश्चय ही **पलामू** गया हूँ किन्तु वास्तव में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मैं वहाँ कभी नहीं गया। सम्भवत: संजीवबाबू के ग्रन्थ को पढ़कर मैंने अनुभव किया कि प्रत्यक्ष और अनुभूति दोनों ही परोक्ष हैं। अपरोक्ष रूप में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच किसी भी प्रकार का मध्यवर्ती व्यवधान नहीं रहता। यदि कुछ होता भी है तो न होने के बराबर। यह अनुभूति लौकिक नहीं होती। यह केवल भक्त और भगवान के बीच ही सम्भव है। लौकिक अनुभूति में कभी-कभी आस-पास होती है।

इस अनुभूति की प्राप्ति के उपाय क्या हैं? प्रथमत: मिथ्या अहंकार दूर होता है। बाद में परम तत्त्व के साथ प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित होना, फिर उसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक लालसा जाग्रत होना और उसके बाद ही उसको न पाने पर मन 'शून्नायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेण' में करुणा की धारा में बह कर भक्त के हृदय में प्रवेश करते हैं और भक्त भी भगवान के हृदय में प्रवेश करते हैं।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने इसी प्रेम की बात कही है—उनके अनुगत प्लोटिनस ने उसे **प्लेटोनिक प्रेम** (Platonic Love) कहा। प्लेटो द्वारा कहा गया यह प्रेम दैहिक नहीं है। 'शेषेर कविता' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मन के इसी रूप की व्याख्या की है। अमित राय के मत से लावण्य का विवाह नहीं होता है बल्कि पत्नी चिरकाल तक नववधू की तरह रहने पर मधुर रहती है एवं देहस्पर्श से कलुषित हो जाती है। यही भाव 'शेषेर कविता' में भी आया है परन्तु वैष्णव कवि इस मत से सहमत नहीं हैं।

नीरवता या एकाकीपन भारतीय साधना का एक प्रधान अंग है। जहाँ भारतीय साधक एकाकी हो साधन-भजन और भोग सबको साथ लेकर करते हैं, वहीं पाश्चात्य साधक साधन-भजन सबको साथ लेकर करते हैं लेकिन भोग एकाकी करते हैं। भारतीय ऋषियों के एकाकीपन में एक गहन आत्म समाहित का भाव निर्दिष्ट होता है। भारतीय साधक अपने चारों ओर एक गम्भीर निर्जनता की सृष्टि करते हैं।

हम जिसे प्रत्यक्ष ज्ञान की संज्ञा देते हैं वह ठीक नहीं है। साधारण मनुष्यों के लिए प्रत्यक्ष विषयों में, जगत से सम्बन्धित किसी भी ज्ञान को प्राप्त करना असम्भव-सी बात है किन्तु संसार में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इन्द्रियजनित ज्ञान की इस संकीर्णता को अपने अन्त:करण में अनुभव करते हैं और स्वल्प ज्ञान से ही तृप्त होकर नहीं रहना चाहते। वे उस अज्ञात सत्य को न जानने के कारण अस्थिर हो उठते हैं एवं किस प्रकार के उपायों से उसे प्राप्त किया जा सकता है, उसके अनुसन्धान के लिए तत्पर हो जाते हैं। जिनमें भी इस जिज्ञासा की जागृति सही रूप में होती है वे इन्द्रियजनित ज्ञान का सुख-बोध नहीं प्राप्त कर पाते एवं सत्य के पूर्ण रूप को प्राप्त न करके भी उसके अन्वेषण के लिए, चाहे किसी भी उपाय से हो, उनके प्राण छटपटाते हैं। अन्तत: वे आंशिक भाव से भी इसको प्राप्त करने में लगे रहते हैं।

इस सनातन मतवादों के बीच तीन प्रधान प्रकार माने गये हैं—(1) **स्वभाववाद** (Naturalism), (2) **विज्ञानवाद** (Idealism) (3) **सन्देहवाद** (Scepticism)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वभाववादी मत—स्वभाववादी मत के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष का यथावत् फल है जो विभिन्न श्रेणियों में सजाया हुआ होता है। इनके अनुसार जगत् और दृश्य भी सत्य हैं। हमारे इन्द्रियगण पूर्ण रूप से ज्ञान न देने पर भी जितना देते हैं उतना सत्य है अर्थात ये ज्ञान के एकमात्र स्रोत हैं एवं इसके पूर्ण परिमार्जन के लिए ज्ञानप्राप्ति का एकमात्र उपकरण है। इस सिद्धान्त से प्राणों की भूख नहीं मिटती, ज्ञान-पिपासा निवृत्त नहीं होती। प्रतीत होता है कि इसके पीछे कुछ अज्ञात वस्तु रह गयी है। कोई रहस्य जो अनुद्घाटित रह गया है मानो हृदय के अन्तरतम स्थान से आवाज आती है कि जगत जिस प्रकार का दिखाई पड़ रहा है, उसका यह स्वरूप वास्तविक नहीं है। साधारण मानव-बुद्धि हमारे भीतर जगत के स्वरूप के विषय में भी संशय पैदा करती है।

विज्ञानवादी मत—स्वभाववादी जिस प्रकार जगत् को दृश्य प्रपंचक के माध्यम से सत्य को खोजने का प्रयत्न करते हैं, उसी तरह विज्ञानवादी भी मनस-तत्व का विश्लेषण करके सत्य के अनुसन्धान के लिए तत्पर रहते हैं। एक अभिभूत भाव से सत्य को पकड़ने के लिए दौड़ते हैं और दूसरे अध्यात्म भाव से उसको प्राप्त करना चाहते हैं। विज्ञानवादी मत में सारा विश्व उसी 'विश्वनाथ' के महाभाव की अभिव्यक्ति-मात्र है। हमलोग संसार में ध्रुवसत्य के रूप में दो वस्तुएँ देखते हैं—एक अहं, दूसरा इदं। एक सृष्टा, दूसरा दृश्य। विश्व इसी अहं और इदं, सृष्टा और दृश्य की मिश्रित युग्म मूर्ति है। अखण्ड ज्ञान, अखण्ड विज्ञान ही सत्यस्वरूप है और खण्ड ज्ञान, खण्ड विज्ञान उसकी छायामात्र है।

दार्शनिक सन्देहवाद—दार्शनिक सन्देहवादियों का कहना है कि बाहरी जगत हमारे मन में भावों की जो अमिट छाप छोड़ता है उसके अतिरिक्त उसके स्वरूप के विषय में हमें कुछ और जानना आवश्यक नहीं रह जाता और यदि हमारा मन बुझ जाता है तो जगत् भी हमारे लिए बुझा-सा हो जाता है। उस समय हम केवल इस मानसिक ज्ञान की ही खबर रख सकते या दे सकते हैं। इसके बहिर्जगत का क्या स्वरूप है उस विषय की कल्पना करना भी धृष्टता होती है। जब हम जगत की खबर सत्य-सत्य नहीं दे पाते हैं तो परम सत्ता की खबर, सत्य के स्वरूप की खबर, वह है या नहीं, कह भी सकते हैं, बुद्धि के चक्कर में भी पड़ सकते हैं अर्थात दर्शन के सत्यस्वरूप के अनुसन्धान के लिए दौड़ना-मात्र विभिन्न कारणों या कल्पित सिद्धान्तों से परिपूर्ण खाँचों के चारों ओर तत्वसन्धान के कठफोड़वे की तरह व्यर्थ ही घूमने के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

जो सहज इन्द्रियों के प्रत्यक्ष रूप में विश्वास करते हैं वे प्राय: स्वभाववादी या जड़वादी हैं और जिनमें परमतत्व के लिए अनुसन्धान-वृत्ति अंकुरित होती है वे विज्ञानवादी हैं और जो विचारपन्थी हैं वे प्राय: सन्देहवादी। साधारण लोगों के लिए विश्वास का आश्रय लेने के सिवाय कोई और रास्ता नहीं है। बुद्धि पर आश्रित सत्यानुसन्धानकारी प्राय: तीन अन्ध या रुद्ध पथ प्राप्त करते हैं—

1. या तो वे जगत के इस प्रतीक रूप को सत्य मान लेते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

2. अथवा सत्य के विषय में एक मनोहर कल्पना की सृष्टि करते हैं किन्तु सत्य को वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

3. या इस जटिल न्याय के गोरखधन्धे में पड़ कर सन्देहवादी या अज्ञेयवादी हो जाते हैं।

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य—हमने देखा कि चाहे दर्शन हो या विज्ञान, वह हमें तत्त्व स्वरूप के निकट ले जाकर भी वहाँ नहीं पहुँचा सकता। प्रकाशित अंश में अंधकार का अंश ही अधिक रहता है। मानव-जीवन में केवल शारीरिक अथवा बुद्धि का उत्कर्ष ही मूल लक्ष्य नहीं है, इसके अतिरिक्त भी मनुष्य कुछ और चाहता है। वह केवल उत्पादनरत यान्त्रिक देह ही नहीं है बल्कि दिव्य कल्पना का सृष्टिकारी प्राणी भी है। जीवन-यात्रा का सुखपूर्वक निर्वाह करना या उसके सदुपयोगी कला-कौशल का आविष्कार करना ही जीव-जगत का लक्ष्य ही नहीं है वरन एक परम अनुभूति, एक भुवनसुन्दर के साथ सम्पर्क स्थापित करना उसके जीवन का प्रधान उद्देश्य है। इस जन्म में भगवान ने जो सद्भाव, धर्मभाव, परमभाव का समग्र रूप दिया है वह इसी भावधारा के विकास का परिणाम है अतः हमें यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है कि जड़वादी की अपेक्षा भाववादी धारा ही अधिक समीचीन है।

जगत के तीन महारहस्य

शिव सुन्दरी का यह महारहस्यमय कोहरा और उसके प्रति मन के इस अज्ञात आकर्षण और अचिन्त्य भावप्रवणता को ही रहस्यज्ञान या मिस्टिसिज्म कहा गया है। जगत का यह महारहस्य विशेषकर तीन प्रकार से हमारी दृष्टि को आकर्षित करता है। प्रथम—भगवत-प्रेम या धर्म का रहस्य, द्वितीय—वेदना या दुःख का रहस्य और तृतीय—सौन्दर्य का रहस्य।

किसी अनजाने देश की खबर इन तीन पथों से ही होकर हमारे पास आती है। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के मध्य में ही हम उस गुप्त परमपुरुष का वास्तविक परिचय प्राप्त करते हैं और यही उस परमपुरुष का सत्यमय प्रकाश भी है। यहीं पर उस सत्यशः सत्यम् का, उसी परम सत्य का, उसी सत्य स्वरूप का आवरण या अवगुंठन कुछ उन्मुक्त होता है एवं इस कारागार में स्थित जीव बिजली के क्षणिक प्रकाश की तरह उसका दर्शन प्राप्त कर मुग्ध होता है।

मानव-मन जितना ही इस सौन्दर्य से भरे रहस्य विज्ञान के मध्य गम्भीर भाव से प्रविष्ट होता है उतना ही वह द्रष्टा एवं दृश्य के मध्य एक अपूर्व ऐक्य भाव को लक्षित करता है एवं जब यह समता परिपूर्ण हो उठती है तभी उल्लास का आविर्भाव होता है। सौन्दर्य तब एक अभिनव महिमा से मण्डित हो उठता है और उस क्षण की अनुभूति में मानों परम का स्पर्श मिल जाता है। मनुष्य उस समय एक श्रेष्ठ उन्नत भूमि पर पहुँचता है और साथ-साथ उस स्पर्श का अनुभव किए बिना नहीं रह सकता। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारण कहा गया है कि सुन्दर ही सत्य, सत्य ही सुन्दर है। सौन्दर्य की विशेषता इसी कारण है कि वह प्रीतिकर के साथ-साथ परम का प्रत्यक्ष विषय भी होता है।

सत्य का पथ—जिस पथ पर सत्य का अनुपम अनुभव होता है, उस पथ का परिचय होना आवश्यक है। इस पथ के दो प्रधान उपदेश हैं—एक तो उसे खोजने से ही पाया जा सकता है, सत्य स्वरूप के लिए प्रकृत क्षुधा (Hunger for reality) आवश्यक है। सत्यत: जिसके भीतर यह क्षुधा जागृत होती है उसके लिए इसकी प्राप्ति निकटवर्ती होती है। दूसरा, आत्मा और परमतत्व एक होने के कारण ही एकदूसरे को जानने की अपेक्षा रख सकते हैं। जीवन असीम होने पर भी स्वगृह या स्वलोक में वापस आने की उसमें एक स्वत: प्रवणता रहती है। एक होमिंग इन्सटिंक्ट (Homing Instinct) रहती है। ज्ञानी और अज्ञानी सभी मनुष्य उसको खोजते हैं, जो बहुत ही स्वाभाविक भी है। फिर भी देश या लोक अभी भी उनकी दृष्टि के बाहर की वस्तु है। महापुरुषगण केवल सत्य की बात कह कर चुप हो जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। वे अपने जीवन के द्वारा भी उसका प्रमाण देते हैं। वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि (1) मनुष्य का ज्ञान केवल इन्द्रिय सीमारेखा से ही निबद्ध है, अथवा (2) विचार की सीमारेखा द्वारा संकीर्ण, अथवा (3) साधारण मनुष्य की अनुभूति के प्रस्फुटन की सीमारेखा से आबद्ध ही होता है। अनुभूति का यही रूप उसके लिए पूर्णत: असम्पूर्ण होने के कारण परिग्रहित होता है। उनके ज्ञान की भित्ति न केवल न्याय के तर्क या युक्ति का तर्क-वितर्क ही है बल्कि वह जीवन की जीवन्त परिपूर्ति भी है।

रहस्यज्ञ और रहस्य-विद्या के विशेष लक्षण

प्रवृत्तिवाद और विवृत्तिवाद—संसार में ये दो मतवाद चले आ रहे हैं—एक युक्तिवाद दूसरा मुक्तिवाद। एक शक्तिवाद दूसरा भक्तिवाद। एक का कार्य है लेना, दूसरे का कार्य है देना। एक का कार्य है भोग, दूसरे का त्याग। जिन्हें भोग चाहिये वे हैं असुर और जिन्हें त्याग चाहिये वे हैं देवता। इसी कारण वर्तमान जगत में यही दो सम्प्रदाय मिलते हैं। अंग्रेजी में इसे ही मैजिक और मिस्टिक (Magic and Mystic) कहते हैं। Magic wants to get, Mystic wants to give. इन दोनों की व्याख्यायें इस प्रकार की गई हैं—जहाँ करतबी प्राप्ति की इच्छा करता है वहीं रहस्यवादी देने की इच्छा रखता है। यही प्रवृत्ति और निवृत्तिवाद जगत के सबसे आदि विचारमार्ग हैं जो अभिकेन्द्रित और अपकेन्द्रित (Centripetal and Centrifugal) शक्ति के रूप में जुड़े हुए हैं। इन दोनों क्षेत्रों में हम इच्छाशक्ति और उसके साथ होने वाले प्रभाव से भिन्न-भिन्न आकार में रूपान्तरित हो दृष्टिगोचर होते हैं। यही इच्छा-शक्ति जब प्रीति से मिलती है तो वह त्याग और बुद्धि के साथ मिलकर भोगी हो जाती है। इच्छा जब प्रीति से मिलने की ओर बढ़ती है तब वही इन्द्रियातीत हो कर उस परमदेव के साथ जुड़ जाती है, जब कि बुद्धि के साथ संयुक्त होने पर वह विषय का विश्लेषण कर उसका सार संग्रह कर उत्कर्ष का आरोहण लेकर स्वयं का भोग बढ़ाती है। एक को चाहिये इन्द्रिय का मार्जन और दूसरे को चाहिये इन्द्रिय का अतिक्रमण।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रवृत्तिवाद की विशिष्टता

प्रवृत्तिवाद की परम विशिष्टता यह है कि वह कितने ही उत्कर्ष कोटि के साधनों का उपयोग क्यों न करे, उन सभी के मूल में आत्मभोग की ओर जाने की उन्मुखता होती है, यही आत्मेन्द्रिय प्रीति की आकांक्षा है। यही काम, यही 'सेल्फ सीकिंग ट्रान्सेण्डेण्टेलिज्म', यही इसके विभिन्न रूप हैं, फिर वह चाहे मन्त्रों के माध्यम से हो, स्तवन के माध्यम से हो या योग के लिए हो, उसका मन कम्पास के काँटे की तरह उसी भोग की ओर अभिमुख रहता है। इसी कारण उसे स्वतन्त्रता, स्वाधीनता एवं स्वतन्त्र स्वाधीन हो भोग उपकरणों का संग्रह करने की इच्छा रहती है। वह न केवल निपुण बुद्धि के परिचालन में ही तत्पर प्रतीत होता है बल्कि सत्य को भी स्वयं की स्वार्थसिद्धि के लिए खोजता है।

निवृत्तिवाद की विशिष्टता

निवृत्तिवाद, प्रवृत्तिवाद का ठीक विपरीत है। प्रारम्भ से ये प्रेम को ही जीवन का कर्णधार मान लेते हैं। इसी कारण इसकी समस्त प्रेरणा के मूल में कृष्णेन्द्रिय प्रीति की ही आकांक्षा होती है। इसके भीतर से 'मैं/मेरा' भाव सदैव के लिए विलुप्त हो जाता है। यह मस्तिष्क और बुद्धि द्वारा चालित न होकर हृदय द्वारा, प्रीति द्वारा चालित होता है। इसी कारण यह अपने को भूल जाते हैं, और स्वार्थ की सीमा से बाहर जाना चाहते हैं एवं सर्वतोभाव से आत्मबलिदान देने की इच्छा रखते हैं, उसमें अपना कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार अतीन्द्रिय अनुभव का परम सुख स्वयं अनुभव करके कृतार्थ होगा ऐसी उच्च आकांक्षा, ऐसे उच्च स्तर का भोग, ऐसा सूक्ष्म-सुपरिमार्जित-शुद्ध-पवित्र-मांगलिक भोग भी नहीं रख पाता, स्वर्गसुख की कामना भी उसके चित्त में मुहूर्त भर के लिए भी नहीं आती है। वह स्वयं के भूले हुए हृदय को खोल प्रेम के स्रोत में बहता जाता है। जब कि यह हृदय तरल सुख-दुःख की अनुभूति का केन्द्रमात्र ही नहीं है बल्कि यह उसी उत्स का मूल है जहाँ से प्राणों का प्रवाह निर्गत होता है जो सूक्ष्म अनुभव और गंभीरतम ज्ञान का मर्मस्थल भी है, साथ ही प्रीति गृहीता धृति और हृदय उस व्यक्ति की सत्ता का अन्तरतम पवित्र स्थान है। इसी कारण अतीन्द्रियवादी की यह अनुरक्ति ईश्वर की परानुरक्ति है जिसका एकबार ही भाग्यक्रम में उदय होने पर उस परम को न प्राप्त करने तक की निवृत्ति ही नहीं है बल्कि जो किसी प्रकार की बाधा-विघ्न को नहीं मानता, जो अपने लक्ष्य की ओर पागल की तरह अभिमुख होता है, जो अहैतुक एवं तुरन्त ही होता है (अव्यवहृत), यह वही प्रेम है, जो गहन और जीवन्त है, अलस या उद्वेगजनित नहीं है (Deep and vital love and not a mere ideal or sentimental one) विचारपन्थियों के साथ प्रेमवाद का विरोध इसी बिन्दु पर होता है क्योंकि विचारपन्थी तार-तार कर विश्लेषणों के बीच रुचि रख सकते हैं किन्तु आनन्द को उन्मादी नहीं बना सकते और प्रेमवादी के लिए यही आनन्द एकमात्र उपजीव्य है। इसको छोड़कर वह क्षणभर भी नहीं रह पाता है। इस मैजिक और मिस्टिसिज्म (Magic and Mysticism) को हम ऐश्वर्यविज्ञान का पथ और प्रेमविज्ञान का पथ कह सकते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनादिकाल से परमतत्व के लिए मानव में इन दोनों की जो स्वाभाविक क्षुधा रही है वह उसी का परिचायक है।

अतीन्द्रियवादी लक्षण

अतीन्द्रियवाद क्या है, इसे समझने की आवश्यकता है। यह उसी परमतत्व के साथ उस अपरिच्छिन्न महासत्य का संयोग विज्ञान (Science of ultimate) है, अतीन्द्रियवादी वही हैं जिनका इस रूप में साक्षात सम्बन्ध होकर परम के साथ संयुक्त होता है। वे इस ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर परम परितृप्ति की प्राप्ति करते हैं, जिनका ज्ञान केवल वाचनिक नहीं बल्कि सत्य की उपलब्धि है।

यह निर्दिष्ट करना कठिन है कि यह ज्ञान कहाँ तक ऐन्द्रिक ज्ञान का विस्तार है या कहाँ वह सत्य की सीमा का अतिक्रमण कर असीम राज्य में पहुँचता है जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। दोनों अवस्थाओं के बीच किसी भी प्रकार की सीमारेखा खींचना बहुत ही कठिन कार्य है। इसी कारण इस पथ के यात्री किस उद्देश्य को लेकर चलते हैं, उनका गन्तव्य कहाँ है, उनका मानचित्र एवं अधिसाधनों पर विचार करना आवश्यक है।

उनका लक्ष्य—जो इस सत्य-पथ के यात्री हैं, उनका लक्ष्य है सज्ञान में पुरुषोत्तम के साथ मिलना, अज्ञान में नहीं। अतीन्द्रियवादी के लिए यह मिलन एक परिपूर्ण मिलन है। पूर्ण ज्ञान में, पूर्ण भाव में जागते हुए यह मिलन स्वतन्त्र मिलन है।

महाभाव या महाविद्या का स्थान—इस हृदय के भीतर इस चैतन्य चन्द्रिका के उज्ज्वल प्रकाश में महाभाव की सृजनकारी शक्ति, महाविद्या की प्राणशक्ति का उत्स है। कभी-कभी कोई एक वस्तु इस मर्मस्थल में आघात करती प्रतीत होती है, मानो कोई सचेतनता का शूल बिंधता है या हृदय की एक गुप्त तन्त्री बज उठती है, सहस्त्रों माधुर्य-कर्ण बिखर उठते हैं एवं प्राण मानो किसी गम्भीर सुषुप्ति या आत्मानुभाव से जग कर इस सम्पूर्ण सृष्टि के रहस्य की गोपन परिकल्पना का आभास प्राप्त कराता है। तब एक अद्भुत महासत्य को इंगित करता हुआ शान्ति का मिलन गीत, प्रत्येक पदार्थ के भीतर से बहता है एवं चिन्तन में प्रेम, भक्ति, श्रद्धा और विस्मय को जागृत करता है। तभी जीवन में महाप्रसारण का भाव आता है, व्यष्टि की सीमारेखा मानों टूट जाती है, अनुभव मानों इन्द्रियों का राज्य त्याग कर आत्मस्वरूप के उत्तुंग शिखर के शीर्षभाग में जाकर उपनीत होता है और अल्प समय के लिए विश्वप्राण के साथ मिल जाता है।

व्यवहार जगत में जिस प्रकार कलाकार साधारणतः अदृश्य सौन्दर्य में स्थित माधुर्य का अनुभव करते हैं, साधारण व्यक्ति जिसे नहीं समझ पाते, ऐसे सत्य के स्पर्श का वह अनुभव करता है। अत्यन्त सूक्ष्म छन्दमय स्पन्दन का समूह मानो उसके हृदय की प्रत्येक तन्त्री में बज उठता है। अतीन्द्रियवादी उसी प्रकार परमार्थ जगत में रहते हैं, जिस प्रकार अन्य किसी लोक में निवास करने वाले मानो सत्य की खण्डित मूर्ति को छोड़कर सत्य के पूर्ण राज्य में विचरण कर रहे हों। यही उनकी दृष्टि है, पूर्णांग दर्शन है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कई बार संगीत में भाषा की अपेक्षा भाव अधिक परिपुष्ट भाव से उजागर होते हैं, इसी कारण जो अतीन्द्रियवादी हैं वे कई बार गीतों के माध्यम से ही स्वयं के भावों को संचारित करते हैं। तभी देखा जाता है जो साधक सुकण्ठ होते हैं, जो साधक गायक होते हैं वे जगत को एक साथ ही आन्दोलित कर देते हैं। प्राण जगाने की महाशक्ति प्राण की संजीवनी-शक्ति है। यह नाद (Rythmic Harmony) ही जगत में एक अद्भुत प्रभाव को फैलाता है। इसी कारण वैदिक युग में गीत ही प्राणों के प्रधान माध्यम थे, यह प्रमाणित है। इसी कारण स्वर-साधना को इतना उच्च स्थान दिया गया है। स्वर, ताल और लय के साथ अतीन्द्रिय अनुभव का प्रगाढ़ सम्बन्ध है, जिसे जाना जा सकता है, फिर भी प्राय: यही पाया गया है कि जहाँ भी यह गम्भीर अनुभव जाग्रत होता है वहाँ पर भाषा स्वत: छन्दमय हो उठती है।

महापुरुषों के अतीन्द्रिय अनुभवों की जब बात आती है, उनकी प्राणस्पर्शी भाषा कानों में रस घोलती है और वह प्राणों को आन्दोलित करती है, नचाने लगती है। इसीलिए श्रोता के मन-मानस में भी एक अद्भुत उल्लास के भाव दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो उस परम तत्त्व के बिलकुल पास पहुँच गए हों और उस परम रहस्य के द्वार पर आकर उपनीत हुए हों। सेण्ट मार्टिन ने ठीक ही कहा है, 'समस्त अतीन्द्रियवादी एक ही भाषा में बात करते हैं क्योंकि वे सभी एक ही जगत से आते हैं।'

विलियम जेम्स ने अतीन्द्रियवाद के चार लक्षण बताये हैं—**(1) अवर्णनीयता** (Ineffability), **(2) विशुद्ध बौद्धिकता के विकास का भाव** (Noetic (Purely intellectual) Quality), **(3) क्षणिक स्थायित्व** (Transiency) एवं **(4) शान्ति की स्थिति** (Passivity)। ये सभी सम्पूर्ण लक्षण हैं। इसी कारण इसके स्थान पर और चार लक्षण निर्देशित किये गये हैं। (1) मिस्टिसिज्म (Mysticism) यह मनगढ़ी धारणा या उधार में ली हुई धारणा-मात्र नहीं है। यह एक वास्तविक अनुभूति है, जीवन की अमूल्य परिणति है; एक अचल स्थिति नहीं है, पूर्ण सचल स्थिति है।

(2) इसका लक्ष्य अमृत प्रदान करता है, यह आत्मलोक, बैकुण्ठलोक, विश्वातीत लोक है, यही अतीन्द्रियभूमि है। यह जागतिक कर्त्तव्यों से विरत नहीं है, यह सत्य है किन्तु इसकी आत्मा सदैव परम तथा नित्य तत्वों से युक्त होती है।

(3) यह 'एकमेवद्वितीयम्' है किन्तु मात्र एक निर्विशेष तत्व नहीं है, वास्तविकता है। यह पुरुषोत्तम है, स्वयं भगवान् है (A Living and Personal Object of Love)। इसके आकर्षण का मूलसूत्र ही प्रेम है।

(4) जीवन्त और ज्वलन्त मिलन ही सत्य का पूर्ण विवर्धित होना है। यह केवल बुद्धि का ही सूक्ष्म अनुभव, आनन्द, भावों की तीव्र लालसा या आकांक्षा नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त और भी कुछ है। एक नये अनुभव-केन्द्र का प्रस्फुटन है जिसके फलस्वरूप समाधि या श्री भगवान के साथ मिलन की प्राप्ति होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यही ज्ञानोदय और अनुभव की प्राप्ति है। यह महाप्रकाश में अचानक प्रवेश नहीं है, बल्कि सत्य की ओर क्रमशः अग्रसर होते हुए परमसत्ता के साथ प्रगाढ़तम मिलन है। जितना ही वह इस पथ पर अग्रसर होगा उतना ही वह स्वयं की स्वतन्त्रता को भूलता जाता है। आरम्भ में वह स्वयं के अस्तित्व को एवं भगवान के स्वरूप को पृथक् मानता है। एक क्षुद्र और दूसरा बृहत, एक स्वाधीन दूसरा पराधीन। इन रूपों में एक महाप्रभेध लक्ष्य होता है। बाद में जब वह साधना की उच्चतर सीमा में प्रवेश करता है तब परमसत्ता का आविर्भाव हो कर अचिन्त्य भेदाभेद की अनुभूति होती है।

सम्पूर्ण चेष्टा और अचल, अटल दृढ़ता के द्वारा ही साधक इन्द्रियजगत् छोड़कर आत्मजगत् में प्रवेश करते हैं और प्रबल मानसिक शक्ति से इन्द्रियों का दमन कर स्थिर हो जाते हैं। इसी कारण चिन्तनशील की शान्त स्थिति अन्तर्मुखी कर्म में रहते हुए अपरिहार्य बहिर्मुखी स्थिरता के सिवाय और कुछ भी नहीं है और इनका प्रिय आदर्श ही है नियत कर्म करना। 'नायमात्मा बलहीनेनलभ्यते' यही इनका आदर्श है। इस आत्मा की वास्तविक प्राप्ति वचन से नहीं, कर्म से होती है।

मैजिक और मिस्टिसिज्म (Magic and Mysticism) में पार्थक्य है, अतीन्द्रियवाद का द्वितीय विशेष लक्षण ही इसको मैजिक (Magic) से अलग करता है। मिस्टिसिज्म (Mysticism) किसी भी प्रकार से निज का सम्भोगमात्र नहीं चाहता। भोग और योग दोनों नौकाओं में ही पैर नहीं रखता, बल्कि वह चाहता है मात्र भगवान के साथ संयोग। वह स्वयं को भगवान के हाथ की कठपुतली के रूप में परिणत करता है एवं इस भाव से ही चालित होकर जगत के अन्य जीवों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। जलबिन्दु जिस प्रकार सागर में विलीन हो जाता है उसी प्रकार वह स्वयं को आत्म-समर्पित कर देता है एवं प्रगाढ़ मिलनानन्द में पूर्णतः निष्पन्द और आत्मविभोर हो जाता है। प्रेम ही इसका विशेष लक्षण है।

अनेक धर्ममतों में अवतारवाद एवं त्रिमूर्तिवाद है, जो रहस्यज्ञों के लिए निजी अनुभवों का वर्णन करने के पक्ष में उपयोगी हैं क्योंकि वे अपने अखण्ड अनुभव को प्रकट करते हैं। वे आत्मभाव एवं ईश्वरभाव दोनों ही भावों को ग्रहण करते हैं। समाधि इन दोनों भावों को मिलाकर एक कर देती है और विचार इसको विभक्त करता है। चिरन्तन से इन दोनों भावों में ही मनुष्य भगवान् को प्राप्त करने की कोशिश करता है। एक योग पथ है दूसरा विभूति पथ। एक Transcendence का पथ दूसरा Immanence का पथ। दोनों भाव होने के पश्चात ही त्रिभाव आता है। इन तीन भावों के बीच प्रथम है परम अव्यक्त परम पुरुष अवस्था है; द्वितीय है शब्द ब्रह्म, तृतीय तत्व जीवात्मा। मनुष्य के भीतर भी ये तीनों भाव विद्यमान हैं। मनुष्य तीनों स्थितियों को मिलाकर एक है। देह, मन और आत्मा, (Body, Soul and Spirit) उसका मन या अन्तःकरण भी पुनः तीन भागों में विभक्त है—भाव, ज्ञान और इच्छा। श्रीभगवान एक कहे जाते हैं वह हमारे समझने के लिए हैं, उनके चरित्र के वर्णन के लिए नहीं है। उनके चरित्र को विभक्त किया जा सकता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, स्वरूप को नहीं। उनका नाम भिन्न है किन्तु गन्तव्य एक है। बहुविध वर्णनों के मध्य प्रकाश, प्राण और प्रेम (Light, Life and Love) तीनों का एक साथ होना ही उस वास्तविकता की मौलिक दृष्टि को प्रकाशित करता है।

रहस्य-विद्या का पथ और साधन (The Mystic Way)

जीवन को जिस प्रकार हम बाल्य, यौवन, प्रौढ़ और बुढ़ापा इन चार भागों में विभक्त करते हैं उसी प्रकार इस साधना-पथ को भी पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं जो पंचपर्व साधन कहे जाते हैं।

(1) प्रथम जागरण (Awakening or Conversion)—ये परमसत्ता को प्राप्त करने का प्रथम सोपान है। एक नवीन अनुभूति का आभास एवं उसके साथ एक तीव्र आनन्द और उल्लास (Intense feeling of joy and exaltation) को प्राप्त करने की अवस्था।

(2) शोधन या परिमार्जन (Self knowledege or Pargation)—स्वयं के लिए अकिंचित कर्त्ता भाव की तीव्र अनुभूति, स्वयं की त्रुटि दर्शन और उसके संशोधन के लिए प्रबल तपस्या की यात्रा।

(3) दर्शन (Illumination)—यह आनन्दमय अवस्था, बड़ी सुखमय अवस्था है, इसमें विषय राज्य से अलग एक आनन्दमय अनुभूति है जो उज्ज्वल रूप में प्रस्फुटित होती है। यह महाप्रकाश की अवस्था एवं आलोक का नूतन राज्य है, वास्तविक ध्यान की उत्कर्ष अवस्था है। ये तीनों ही अवस्थायें एक प्रकार से अध्यात्म जीवन का प्रथम पर्व 'दि फर्स्ट मिस्टिक लाइफ' (The First Mystic Life) है। अधिकांश साधक इस भूमि से ऊपर नहीं उठ पाते हैं। इस समय परमसत्ता का दर्शन होता है किन्तु उसका स्पर्श नहीं होता है।

(4) पूर्ण समर्पण या अँधेरी रात (Surrender or The Dark Night)—यह समय महाविषाद, अवसाद या महाविरह की साधना का महासंकट काल है। यह विरह-सा तीव्र ताप लाता है और उसी अग्नि में साधक को दग्ध और परिशुद्ध कर उच्च स्तर पर ले जाता है। कुछ वैज्ञानिकों ने इसे मिस्टिक पेन (Mystic pain) या मिस्टिक डेथ, डार्कनाइट ऑफ दि सोल (Mystic death or dark night of the soul) कहा है। इस अवस्था में अज्ञान का मूल 'अहं' विगलित हो जाता है। इस समय आत्मसुख को तिलांजलि देनी पड़ती है क्योंकि उसका मूल उद्घाटित होता है। इसे आध्यात्मिक सलीबी मौत (Spritual Crucifixion) कहते हैं। इस कठोर परीक्षा में परीक्षित साधक स्वयं का अभिमान, स्वयं की इच्छा, निज की स्वतन्त्रता सबको समर्पित कर एक मन होकर भगवान के दास होते हैं।

(5) पंचम मिलन (Prabastoom union)—दर्शन की उस अवस्था में जिस प्रकार अनुभव या अनुभोग था, इस अवस्था में अभिन्न योग होता है। यह आध्यात्मिक जीवन की चरम, परम पवित्र और परम शान्त अवस्था है। इस समय स्निग्ध आनन्द की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्योति से चित्त भर जाता है या जुड़ जाता है। सर्वशक्ति मानो पूर्णता प्राप्त कर धीर-स्थिर हो जाती है और साथ ही आती है दृढ़ निश्चिंतता। यह समाधि से भी ऊपर की अवस्था है। समाधि की अवस्था में बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है एवं क्षणिक आलोक भरे नेत्रों की पलकों में भगवत-दर्शन और उसके अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। इस भूमि में आने से मनमूर्च्छा का भाव तिरोहित हो जाता है एवं पूर्ण रूप से सहज सचेतनता उसका स्थान ले लेती है।

यह महामिलन इस पथ का चरम लक्ष्य है। इस स्वरूप की स्थिति चिरस्थिर और चिरशान्ति का धाम है। इसमें एक बार प्रवेश कर लेने से फिर च्युति (छुटकारा) नहीं है क्योंकि यही आत्मा की सहज, स्वाभाविक, शाश्वत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था है। इसे विद्वानों ने मिस्टिकल मैरिज (Mystical Marriage), मर्म से परिणय, देव भाव से उत्पत्ति या दिव्य परिपूर्णता आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है। चित्त की चरम परिणति लाती है भगवत-प्राप्ति। मिस्टिक (Mystic) या उसका मर्मज्ञ होने पर भी यह प्राणी के जीवन की परम परिणति का आदर्श है। वे इसी विश्वदेव के वरपुत्र हैं और इसी जीवन में **ब्रह्म, भूतः प्रसन्नात्मान् शोचती न कांक्षति** अवस्था प्राप्त करने में सक्षम होते हैं। वे चरमदेही होते हैं। इसी कारण साधारण मनुष्य के पास मात्र कवि की कल्पना है जो उनके लिए उसी संसार में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। वे भगवान के साक्षात् सम्बन्ध से धन्य होते हैं। उनके जीवनइतिहास की पर्यालोचना कर हम पाते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अज्ञान की तमसाच्छन्न गम्भीर गुफा से धीरे-धीरे बाहर आकर ज्ञानलोक में प्रवेश करता है जो उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है। जीवन के अन्य सब आकर्षण-विकर्षण पीछे रह जाते हैं।

इस क्षण-जन्में पुरुष के जीवन से साधारण मनुष्य क्या प्राप्त करता है, जानना आवश्यक है। जो आदर्श साधारण मनुष्य के सामने प्रतिष्ठित किये जाते हैं वे इतने ऊँचे और इतने महान हैं कि यह बौना होकर चाँद पकड़ने की चेष्टामात्र प्रतीत होता है। अतः ये केवल आदर्श बनकर रह जाते हैं। यह पता नहीं चलता कि कब ग्राह्य होगा, इसी कारण जानना आवश्यक है कि सांसारिक जीवन किस प्रकार इसके द्वारा उपकृत हो सकता है। थोड़े-से चिन्तन द्वारा इस भक्त-जीवन का मूल्य पता चलता है। प्रथमतः तो जिनके जीवन से हम मन में प्रस्फुटित परिपूर्ण इतिहास को देखते हैं, जीवन में जो उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें इस धारा को पकड़ कर इस पथ पर चलना होगा। वे इसको छोड़कर उन्नति के शिखर पर आरोहण करने में सक्षम नहीं हो सकते, जितनी भी उन्नति करना चाहते हैं उन्हें इस क्रम का अनुसरण करना ही होगा। यद्यपि इन सभी महापुरुषों का जीवन अद्भुत है फिर भी जीवन की प्रथम अवस्था में इन्हें इन्द्रियों का दमन करने के लिए प्रबल संग्राम करना पड़ा है। इसी कारण कई प्रकार की क्षत-विक्षत स्थितियाँ भी झेलनी पड़ी हैं, जो उनको उस साधन-समर में विजय-प्राप्ति के बल का संचार करती हैं। कोई भी मनुष्य इन्द्रिय राज्य को छोड़कर ही ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। जहाँ महापुरुषों में कुछ विशिष्ट सामर्थ्य रहती है वहाँ साधारण मनुष्यों में भी उसका

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्यूनाधिक अंश निश्चय ही होता है एवं उसको उसके निर्दिष्ट पथ पर परिचालित और परिवर्द्धित करने पर वही सामर्थ्य एक दिन विपुलकाय महाशक्ति में परिणत हो उसके उद्धार में सहायक होती है क्योंकि उभय क्षेत्र में एक नियम के अनुसार शक्ति का जागरण होता है।

इस प्रकार देखा जाता है कि इस आत्मिक शक्ति को जाग्रत करने में थोड़े बहुत सभी सक्षम होते हैं। अनुराग, इच्छा पर सिद्धि निर्भर करती है। तपस्या, संयम, दृढ़ता और साहस के अनुसार सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के प्रति जिसका जितना तीव्र आकर्षण होगा, उसकी सिद्धि उससे उतनी ही निकटवर्ती होती है। यदि कोई सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें इन महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलना होगा क्योंकि जिस सीढ़ी को पार करते हुए वे सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर चढ़े हैं मानो वह उनके जीवन का ही उत्कर्ष है।

मानव का स्थूल शरीर एक ही नियम, एक ही धारा को पकड़ कर पुष्ट होता जाता है। जिस प्रकार एक ही देह में किशोरावस्था और यौवन आदि का स्तर भेद रहता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक स्थितियों का परिपोषण और परिवर्धन भी एक ही नियम से चलता रहता है। बाल्य, कैशोर्य इत्यादि उसके अवस्था-भेद हैं। जिस प्रकार शरीरवृद्धि के समय बीच-बीच में एक-एक कर संकट-काल आता है, उसी प्रकार यहाँ भी महासंकट-काल आकर उपस्थित हो जाता है जो जीवन के ऊर्ध्वस्रोत को अवरुद्ध करना चाहता है। इस समय अत्यन्त सावधानी एवं सर्तकता के साथ पथ की इन बाधाओं को हटाना पड़ता है। जब तक उन्नति के महास्रोतों को न पा लें तब तक अत्यन्त धैर्य धारण कर संयम और सदाचार का अभ्यास करना पड़ता है। समस्त आवरणों को धीरे-धीरे हटाना पड़ता है। चिन्तन-क्षेत्र को भलीभाँति कर्षण करके उसे परिष्कृत और दीप्तिमान बनाना पड़ता है। किसी प्रकार की मलिनता के दाग उसमें छिपे हुए न रह जाएँ, इसके लिए उसके ऊपर दृष्टि रखनी पड़ती है। यह शुद्धि सभी साधनाओं के लिए सारभूत नियम है। कोई कैसे भी विचित्र मकान का निर्माण क्यों न करे, सभी को इन प्राथमिक अर्हताओं का सम्पादन करना पड़ता है। ऐसा न करने पर इस पथ में आगे बढ़ने का उपाय नहीं है। यह पथ है त्याग, तितिक्षा और अन्त में आत्मनिवेदन का।

जगत में जितनी भी साधनायें हैं, सबका पर्यावलोकन करने पर हम एक महासत्य से उपनीत होते हैं। साधन के भिन्न उपाय होने पर भी मानव-मन के जागरण का स्तर सर्वत्र समान है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जीवों का, भिन्न-भिन्न मनुष्यों का खाद्य भिन्न-भिन्न होने पर भी पोषण और विवर्धन की प्रणाली सर्वत्र समान होती है, यहाँ भी इसी प्रकार की बात है। इसी कारण माया से ब्रह्म तक, मिथ्या से सत्य तक पहुँचने का एक ही रास्ता है। बहुत से व्यक्ति दीर्घ काल से इस पथ से अग्रसर होते रहे हैं परन्तु वह पथ आज भी अक्षुण्ण और प्रशस्त है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कवि, शिल्पी, गायक, धार्मिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि जो भी पथ पकड़ कर चलें, सभी के मूल में है वही साक्षात अपरोक्ष अनुभूति, वही चाबी है, उस अनुभव को प्राप्त न करने तक किसी भी प्रकार की सफलता का लाभ नहीं मिल सकता। जिस प्रकार नदियाँ विभिन्न ऋजु, कठोर नाना पथों से होती हुई समुद्र में गिरती हैं, उसी प्रकार विभिन्न पथों पर चलते-चलते व्यक्ति उस अनुभव को प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं, फिर चाहे वे किसी भी पथ पर क्यों न चलें, उन्हें उसी चैतन्य, चित्त चमत्कारी अनुभव की आवश्यकता होती है और उसके लिए चाहिए प्रबल उद्यम, उत्साह और अनुराग। श्रुति में आई यह वाणी इसी को व्यक्त करती है। **उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधितः** अर्थात इसको श्रवण करते हुए अग्रसर होते चलो, जो प्राप्य है वह प्राप्त होगा ही। यही इस राज्य का अलंघ्य विधान है।

जो व्यक्ति इस जीवन में, इस संसार में, इस शाश्वत और सत्य महाप्राण के साथ परिपूर्ण रूप से युक्त होते हैं वे यथार्थ रूप से भक्त होते हैं। यह एक प्रकार से उस विश्वनाथ का इस महासृष्टि यज्ञ से युक्त होना है, जो मनुष्य होकर भी देव, बालक और स्वाधीन सृष्टा होकर भगवान के सृष्टिकार्य में सहायक होते हैं। यही उनके लिए परम गौरव की बात है। जो नियम से चलते हैं वे इस साधना-पथ का अनुसरण करके सफलता के उच्च सोपान चढ़ पाते हैं और वे मानव-शरीर में दैवी-सम्पदाओं की उपलब्धि करते हैं।

इस जीवन का रहस्यमय अर्थ चारों ओर से ही प्रस्फुटित होता है। दृष्टिवादी ही उसे देख पाते हैं और कृतार्थ होते हैं। यहाँ के सब नियम-कानून, विधि-निषेध प्रेम के द्वारा निर्मित हैं। यहाँ प्रेम ही एकमात्र अधिनायक है। यह ज्ञान, भक्ति और शक्ति का त्रिवेणी संगम है, अमूल्य निधि है, परम सत्य वस्तु है, जिसका अनुभव किया जा सकता है, जिसके आकर्षण से जीवन को नवोन्मेषित करना एवं परिणाम में जिसके साथ युक्त होना पड़ता है। मानव जीवन का लक्ष्य है वही भक्तिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है और भक्ति प्रेम का पथ है।

दर्शन, मनोविज्ञान या धर्म किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न देखा जाए, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीवन के साथ भक्ति अत्यन्त घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है।

अन्त में भक्ति-साधन के सोपान कुछ इस प्रकार के रूप लेते हैं। सभी साधकों के जीवन में उन्नति के कुछ स्तर दिखाई पड़ते हैं। प्रथम स्तर में सम्पूर्ण जीवन में एक जागरण आता है। 'उसको पाऊँगा'—इसी आशा में नये उल्लास के भाव जाग्रत होते हैं। लेखक ने उसी अवस्था को जागरण (Awakening) कहा है जो वैष्णव आचार्य भी कहते हैं। प्रथम स्तर श्रद्धा का स्तर है। इसके साथ चाहिए सज्जन का संग जो भगवत-उन्मुख हो, उनके मुख से कथा-श्रवण करना जिससे चित्त की भोग-आसक्ति दूर होती है। भोग-आसक्ति कम होने पर महापुरुषों में श्रद्धा जगती है। यह श्रद्धा ही प्रथम सोपान है।

साधन के द्वितीय स्तर पर प्रबल दैन्य अवस्था है जहाँ केवल स्वयं की अक्षमता और अयोग्यता की बात आती है। मुझ जैसे क्षुद्र जीव के लिए भगवान का अनुसन्धान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्या सम्भव है? जब साधक स्वयं को संशोधित करने की प्रबल चेष्टा करता है तो यह परिशोधन कहलाता है।

तृतीय स्तर के समय जीवन में एक ऐसी चेतना उत्पन्न होती है मानो हम जिसे अनुभव कर रहे हैं उसे प्राप्त करने के लिए एक प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत हो रही है। इस आलोकमय अवस्था का नाम **प्रकाश** (Illumination) है। अनेक साधक इसके बाद और अग्रसर नहीं होते हैं, उन्हें लगता है कि जो प्राप्त करना था वह प्राप्त हो चुका है किन्तु यह चरम अवस्था नहीं है। श्रेष्ठ साधकों के सम्पर्क से ज्ञात होता है कि वे परम वस्तु के साथ मिलकर एकात्म हो गए हैं। इस अवस्था में वहाँ पहुँचने के लिए लालसा जगती है।

इसके पश्चात आती है एक नैराश्यमय स्थिति जब जीवन वृथा लगने लगता है। इस आर्तभाव का विलाप सम्पूर्ण जीवन का एकमात्र कार्य रह जाता है। इसको क्यों अन्धकार में फेंक कर वे दूर चले गए? इस भावना को ही दीर्घ श्वास लेकर सोचते रहते हैं। इस चतुर्थ अवस्था को डार्क नाइट (Dark night) या गहन तमस की संज्ञा दी है।

किन्तु यह अवस्था पूर्ण प्राप्ति की पूर्ववर्ती अवस्था है। जितनी ही प्राप्त न करने की वेदना जाग्रत होती है उतनी ही अन्तरंगता बढ़ती जाती है और प्राप्ति निकटवर्ती होती है। विरह की वेदना जितनी तीव्र होती है उतनी ही अन्तर में सुख प्राप्ति होती है। विरह एवं मिलन जैसे समानान्तर भाव चलते रहते हैं।

इस स्तर में थोड़ा या अधिक अनुभव प्राय: सभी साधकों को होता है। साधक क्रमश: निस्तब्ध हो जाते हैं। रहस्यवाद (Mysticism) की पूर्णता में यह अवस्था आती है। इस अवस्था में चित्त समाधिस्थ होता है। भारतीय मान्यतानुसार साधक प्रगाढ़ आनन्द का अनुभव करते हैं। पाश्चात्य मान्यतानुसार साधक एक शून्य जैसा अनुभव करते हैं किन्तु यह शून्य नहीं बल्कि परमानन्द की भूमि है।

इसके बाद की अवस्था में साधक भगवान की कठपुतली बन जाता है। ध्यानमग्न साधक कर्महीन नहीं, बल्कि कर्म की उच्चभूमि पर विराजमान रहता है। समाहित चित्त साधक भक्त व्यापक अर्थ में विराटकर्मी है।

दैहिक कर्म बन्द होने पर भी मानसिक कर्म प्रबल आकार धारण करते हैं। अन्तर में परमेश्वर के साथ मिलकर बाह्य जगत के हित में कर्म करने की चेष्टा करते हैं। भक्त जीवन की परिपूर्णता केवल स्थितप्रज्ञ होने से नहीं होती, भक्त दिव्यराज ब्रजभूमि की ओर प्रस्थान करने के लिए उन्मुक्त होता है। यह एक प्रकार का पुनर्जन्म (Regeneration) है, जहाँ **द्विजत्व** की प्राप्ति होती है।

आरम्भ में यह साधना नित्यबोध का आभास दिलाकर नींद से जगाती है। यह अनुभव्र उसे ऐसा करके अभिभूत करता है कि वह अपने ही अन्तरतम प्रकोष्ठ में प्रवेश करना चाहता है एवं उस पथ के परिपन्थी जो कुछ देख सकते हैं, उसको दूर हटाकर सुसंयत और सुशुद्ध होना चाहता है। वह इन्द्रियगणों के समस्त कलुष को साफ कर देता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, उसके पश्चात जैसे-जैसे उस नित्य का अनुभव बढ़ता रहता है, जैसे-जैसे दिव्यदृष्टि प्रस्फुटित होती जाती है वैसे-वैसे संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों के कण-कण में परम प्रकाश के रूप दिखाई पड़ते हैं। उसकी शुद्ध दृष्टि के सामने सत्य स्वरूप मूर्ति साकार हो जाती है।

चिरकाल से सांसारिक अतिक्रमण की धारा जीव और जीवन के साथ जुड़ी हुई है। जो नियम और विधि द्वारा जीवन में क्रियान्वित है, वह उसी की एक अवस्था-मात्र है। संसार में सर्वत्र ऊर्ध्वगति अविराम चल रही है किन्तु वहाँ यह इतने सहज भाव और अखण्ड गति से चल रही है कि यह किसी की दृष्टि आकर्षित नहीं करती। हमारी परिच्छिन्न दृष्टि, परिच्छिन्न-बोध उसको ढँके हुए हैं। कभी-कभी देवयोग से अचानक इस आवरण के उन्मुक्त होने पर इस संसार के कोलाहल के बीच भी वह श्रुत हो जाती है।

यह अनुभव, यह क्षणिक दर्शन हमें ज्ञात करा देता है कि भक्तों का दर्शन कितना बड़ा सत्य है एवं उसे महाप्राण से यही जोड़ता है। दिव्य मनुष्यत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सफलता है। भक्त ही इसके साक्षी हैं, इन्हें पथ दिखाते हैं। इसीलिए वे साधक जिनके बीच संवेग है, वे सुख-दुःख में, शोक में, ताप में, अकम्पित पैरों से स्वयं के लक्ष्य की ओर चलने में सक्षम हुए थे और कुछ दूर अग्रसर होने के पश्चात उनका सन्देह और परीक्षा का कुहासा स्वतः विदीर्ण होकर चतुर्दिक दिव्य प्रकाश उद्भासित होता है। उसी के आलोक से आलोकित और पुलकित हो उस मणि का प्रकाश दिखाई पड़ता है जिससे हम कृतार्थ हो जाते हैं।

(आधार ग्रंथ : मूल बांग्ला अध्यात्म साधनार मर्मसन्धाने, प्रथम, द्वितीय भाग, ले० प्राणगोपाल मुखोपाध्याय, बंगीय जातीय शिक्षा परिषद्, कलकत्ता। अनुवाद—वसुंधरा मिश्र)।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

3

वैज्ञानिक रहस्यवाद का आदिकाव्य-मिथक : 'उषा-सूक्त'

प्रकाश परिमल

'उषा-सूक्त' ऋग्वेद का सबसे अधिक काव्यमय सूक्त है। इसे हम विश्व का सबसे पहला काव्यात्मक आलेख कह दें तो आश्चर्य की बात नहीं। विश्व के इस प्रथम काव्यलेख के अध्ययन से यह लोक प्रचलित धारणा खण्डित होती है कि कविता की उत्पत्ति वियोग के भाव से हुई है। 'वियोगी होगा पहला कवि' जैसी धारणा महर्षि वाल्मीकि को आदि-कवि मान लेने के कारण बनी है। यह तो सही है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा 'रामायण' काव्य की रचना मिथुनरत क्रौंच के वध के प्रसंग में उद्वेलित हो जाने के फलस्वरूप हुई, किन्तु वाल्मीकि से पूर्व की वैदिक कविता के अध्ययन से यह धारणा पुष्ट नहीं होती कि कविता का आदिस्रोत वियोग या करुणा है। विश्व के सभी आदिम समुदायों के भी आदिकाव्यों का स्रोत विस्मय और आस्था का मिला-जुला भाव ही रहा है।

किन्तु वैदिकी विस्मय और श्रद्धा विश्व के आदिम समुदायों के सहज विश्वास और कुतूहल की तरह अन्धविश्वास की श्रेणी में नहीं आ सकती। उनका भाषिक विश्लेषण एवं निर्वचन करने के साथ ही यह तथ्य प्रकट होने लगता है कि इस जिज्ञासा का आधार 'सृष्टि विज्ञान' का कोई सूत्र अवश्य है तथा प्रयुक्त भाषा भी इस प्रकार के बौद्धिक विश्लेषण पर पूर्णतया खरी उतरती है। 'उषा-आख्यान' के विषय में प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि 'उषावतरण' के विविध रूपों एवं तथ्यों का जैसा भौगोलिक- सांस्कृतिक विवरण प्रस्तुत किया गया है वह सारी पृष्ठभूमि भारतवर्ष के भूगोल से मेल नहीं खाती। उसका सम्बन्ध हिमाच्छादित ध्रुव क्षेत्र में होने वाले सूर्योदयों एवं उषावतरणों से ज्यादा है। इस आधार पर ही लोकमान्य तिलक ने 'द आर्कटिक होम ऑफ द वेदज' में उत्तरी-ध्रुव पर होने वाले 'उषावतरण' को वैदिक 'उषा-सूक्त' से जोड़ने की श्रमसाध्य चेष्टा की है। लोकमान्य तिलक भी घूम-फिर कर मैकडोनल, कीथ, मैक्समूलर आदि की उस पाश्चात्य धारणा की ही पुष्टि करते हैं कि वेद भारतीय मूल के नहीं हैं और परोक्षतः इस बेबुनियाद कथा का समर्थन करते हैं कि आर्य एक कबीले के रूप में सबसे पहले आर्कटिक क्षेत्र में रहा करते थे फिर भौगालिक परिवर्तनों एवं जीवन की आवश्यकताओं के वशीभूत होकर मध्य एशिया, ईरान, भारत से होते हुए छुट-पुट रूप में योरोप के अनेक क्षेत्रों में भी चले गए।

"The description of days and nights in the Rigveda, divided into two typical pairs—one is described as bright dark 'VIRUPE' means of varying length, not of various colours—second pair 'Ahani' can only be a couple of long ARCTIC Day and NIGHT described as forming the right and left or the opposite sides of the year."

इसी ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में 'उषावतरण' के काव्यरूप के सम्बन्ध में तिलक लिखते हैं—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Ushas or the goddess of Dawn, is an important and favourite Deity and is celebrated in about 20 hymns of the Rigveda, and mentioned more than 300 times, sometimes in the singular and sometimes in the plural....

"This deity to which they have addressed is considered by Macdonell to be the most graceful creation of Vedic-poetry, there being no more charming figure in the descriptive religious, lyrics of any other literature..... What is more important for our purpose is that the physical character of the Deity is not in the least obscured by the description or the personification in the hymns." (Tilak—Arctic Home of the Vedas)

'उषावतरण' का आख्यान वेदों में इन्द्र और वृत्र के बीच हुए अनेकानेक संग्रामों की परिसमाप्ति पर वृत्र की कैद से 'उषा' को मुक्त कराने के सुनिश्चित प्राकृतिक क्रम से आबद्ध है। वैदिक विज्ञान में आस्था रखने वाले सभी प्राच्यविद् आज इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि ब्रह्माण्ड में और उसके अंश सौर्य मण्डलों में जहाँ-जहाँ भी ग्रह-नक्षत्र-पिण्ड अपनी प्राथमिक गर्भावस्था में रहे होंगे, उनपर वृत्र का अन्धकारमय दृढ़ हिमाच्छन्न आवरण अवश्य ही रहा होगा, क्योंकि तरलावस्था में सोमाग्नि पिण्ड अपना मौलिक स्वरूप उस समय तक धारण ही नहीं कर सकता था जब तक कि उसे ब्रह्माण्ड में यत्र-यत्र भटकने से वृत्र के आवरण द्वारा रोका जाकर भीतर ही भीतर ठण्डे होने और अपना स्वरूप ग्रहण करने का मौका नहीं मिलता। अब जब उस स्वाभाविक प्रक्रिया में पिण्ड अपना स्थान और रूप ग्रहण कर चुका होता था तब वृत्र के उस दृढ़ अन्धकारमय हिमावरण को हटाना जरूरी होता था इसी कारण ब्रह्माण्ड में सक्रिय इन्द्रतत्व से वृत्र का युद्ध होता है और इन्द्र उसपर विजय प्राप्त कर अन्धकार विदीर्णकर वहाँ सूर्य के प्रकाश को सम्भव बनाता है। जैसे-जैसे सूर्य का प्रकाश इन पिण्डों को नसीब होता है वहाँ सौन्दर्यमयी उषा की दिव्य आभा का विस्तार दिखाई देने लगता है—बस यही संक्षेप में वेदोक्त 'उषा-आख्यान' की पृष्ठभूमि है।

स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वधान ओजसा विनाशयन्।
ज्योतिषि कृण्वन्नवृकाणि यज्यवेऽव सुक्रतुः सतर्वा अपः सृजत्॥

—ऋग्वेद में 1. सू० 55/6

उपर्युक्त पद में ब्रह्माण्ड के इस सदन में विभिन्न ग्रह-नक्षत्रों पर कृत्रिम आवरण करने वाले वृत्ररूप असुर के ओज का विनाश कर इन्द्र द्वारा इन ग्रह-नक्षत्रों पर 'सुतर्वा अपः' की सृष्टि की गई। (अर्थात वह जल जिससे समुद्र नदी व पीने योग्य पानी बनते हैं ऐसे अपतत्व का सृजन किया)। साथ ही यह संकेत भी मिलता है कि कृत्रिम अन्धकार का विनाश कर उस ज्योति को सम्भव किया जो वृत्त ही नहीं अपितु पिण्ड पिता सूर्य की स्वाभाविक ज्योति थी। यह ज्योतिष्मती आभा सूर्योदय से पूर्व पिण्डाकाश में उषा के ही रूप में अवतरित होती है। इसी प्रक्रिया का बहुत अधिक स्पष्ट रूप से निरूपण निम्नांकित मन्त्रों में किया गया है—

त्वमपामपिधानावृणोरपाऽधारयः पर्वते दानुमद् वसु।
वृत्रं यदिन्द्र शव सावधीरहिमादित् सूर्यं दिव्यारोहयो दृशे॥4॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अपि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥ 5॥

—ऋग्वेद मं० 1/सू० 51/4/5

अर्थात हे इन्द्र! तूने ही अप (जमे हुए जल) तत्व के विराट रूप में दीर्घकाल से आवरण किए पर्वताकार (पर्वत का यहाँ अर्थ है वह तत्व जो ठोस रूप ग्रहण कर चुका हो) उस वृत्र के शवरूप में फैले (बर्फ पानी की मृतावस्था है इसीलिए शवसः का प्रयोग है) दुर्भेद्य आच्छादन को ऋजाश्व के वज्र से भेदकर सूर्य के दिव्य प्रकाश को पृथ्वी का मुँह देखने के लिए सम्भव कराया। वृत्रासुर ने अपनी माया से अनेक गढ़ निर्मित कर लिए थे और प्रकाश को तो मानो वह पी ही गया था। उस वृत्र की माया का हरण कर उन गढ़ों को नष्ट किया।

उपर्युक्त दोनों ही सूक्त 'उषा-सूक्त' के अनुक्रम में ही हैं, इस कारण इनकी महत्ता और भी बढ़ जाती है। उपर्युक्त सन्दर्भ का विवरण प्रस्तुत करने का हमारा एक उद्देश्य यही है कि वेदों के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वज्जनों को यह विश्वास हो सके कि वेदों में 'उषा-सूक्त' का निर्धारण कोरी कपोल-कल्पना नहीं है, अपितु उसके पीछे एक विज्ञान-सम्मत प्रामाणिक दृष्टि भी है। आज उस ऋषिप्रज्ञा के विज्ञान दृष्टि से सहस्त्र लक्ष वर्ष दूर हो जाने से हमारे सामने सारे के सारे सन्दर्भ उतने जीवित नहीं हो सकते जो वेदों के प्रथम अंकन काल में ऋषिप्रज्ञा के सम्मुख बहुत साफ रहे होंगे। ब्रह्माण्ड की मूल रचना के काल से ऋषियों द्वारा वेदों को सूक्त-बद्ध करने का काल निश्चय ही एक हो ही नहीं सकता—क्योंकि सृष्टि-क्रम में पृथ्वी का उद्‌भव और उस पर मानव का अभ्युदय कोटि-कोटि वर्षों के अन्तराल की सहज अपेक्षा करता है। इस कारण यही मानना श्रेयस्कर और उचित है कि ऋषि मेधा को सृष्टि विज्ञान के रहस्य की कुंजी सूक्त रूपों में योगसिद्धि से प्राप्त हुई थी। और शायद इसी कारण वेदों को अपौरुषेय भी कहा गया है।

यह पृष्ठभूमि 'उषा-सूक्त' के वैज्ञानिक स्वरूप को अनिवार्य मानकर यहाँ दी जा रही है। इसी के आलोक में 'उषा-सूक्त' की काव्यात्मकता का अपर अद्वितीय सन्दर्भ हमें मालूम हो सके और उसको हम उसकी दिव्यगरिमा के साथ विश्व की प्रथम कविता के रूप में मूल्यांकित कर सकें, यह इस आलेख का अभिलषितार्थ है।

उषो भद्रेभिरा गहि दिवश्चिद्रोचना दधि।
वहन्त्वरुणप्सव उपत्वा सोमिनो गृहम्॥ 1॥
सपेश सं सुखं रथं यमध्यस्था उपस्त्वम्।
तेना सुश्रवसं जन प्रावाथ दुहितर्दिनि॥ 2॥
वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्च तुष्पदर्जुनि।
उषः प्रारन्नृत्तूंरनु दिवो अन्तेभ्यस्यरि॥ 3॥
व्युच्छन्ती हि रश्मिभि विश्वमाभासि रोचनम्।
तां त्वामुषर्व सूथवो गीर्भिः कण्वा अहूषत॥ 4॥ —ऋ० 1/48

उपर्युक्त सूक्त को अर्थगम्य करते ही जयशंकर प्रसाद की सुप्रसिद्ध गीतिका का स्मरण हुए बिना नहीं रहता, बल्कि यह स्पष्ट लगता है कि अपनी गीतिका का आधार प्रसाद ने इसी सूक्त को ही बनाया होगा। वह गीत है—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट में डुबो रही
ताराघट ऊषा नागरी.....[1]

पुरस्ताद्युऽत्के गवामरुपामनीकम्॥
उत्तेवयश्चिदृसतेरपत्नन्नरश्च ये पितृ काजो व्युष्टौ। 1 24/11-12

पक्षी घोंसला छोड़ देते हैं मनुष्य अन्य कर्म करने लगते हैं।

महर्षि कण्व ने पृथ्वी पर उषा के प्रथम अवतरण का मन्त्राह्वान करते हुए उसे अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य के रूप में अभिव्यक्त किया है। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन मानव समुदायों ने दिव्य आभा के दर्शन किए होंगे और दूर-दूर तक फैली उस दिव्याभा में पृथ्वी के अनन्त वैभव को देखा होगा उन्हें सचमुच ही लगा होगा कि आकाश से वरदान के रूप में ही मानो यह ज्योति उपजी है, जिसके कारण आँखें देखने का सुख प्राप्त कर रही हैं। उन लोगों की प्रसन्नता का तो हम अनुमान ही नहीं लगा सकते। वैदिक ऋषि ने 'उषा-सूक्त' में उसी अनुभव, उसी सुखानुभूति को कविता के रूप में व्यक्त किया है। उषा की यह ज्योतिर्मयी रसाभा कैसे रूपायित हुई उसको दिखाते हुए ऋषि ने कहा—

गमयति रसान गच्छन्ति, अन्तरिक्षे गौः आदित्यो भवति....

अर्थात गौरूप रश्मियाँ ही अन्तरिक्ष में अपनी बहुविध रासायनिक क्षमताओं के साथ पिण्डाकाश में उस स्थान पर ज्योतिर्मयी आभा-प्रसार कर देती हैं, जहाँ से सूर्योदय होने वाला है। वेदों में एक बात बहुत साफ तौर पर बताई गई है कि जो घटना या वस्तु अपनी आवृत्ति, जन्म आदि क्रम में जिस स्थान पर है उसे उसी क्रम में ही हमेशा लिखा या बताया गया है। उषाकाल सूर्योदय से पहले क्रम में अवस्थित है इसलिए उषःकालीन यह कालावधि ब्रह्माण्ड के विविध स्थलों पर घण्टों, दिनों, महीनों, वर्षों, युगों, कल्पों आदि की रही होगी। वैदिक ऋषियों ने 'उषा-सूक्त' में जिन दीर्घकालीन उषाओं का विवरण दिया है, वह मूलतः ब्रह्माण्ड की रचना के बाद विविध क्षेत्रों में प्रकट होने वाली दीर्घकालीन 'उषाएँ' ही हैं। हमारी अपनी पृथ्वी के ध्रुवों पर सूर्योदय से पूर्व की आभा महीनों तक रहती है, इसलिए वैदिक ऋषियों ने यदि ऐसे विवरण दे दिए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सबसे पहले पृथ्वी पर छाया हुआ धनुषाकार आकाश उस प्रकाश आभा में कैसे दिखाई दिया होगा, उसे अन्तःप्रत्यक्ष करते हुए ही वैदिक ऋषि ने बताया कि यह जो पृष्ठ-भाव प्रकाशरूप में फैला है उसी के भीतर से यह प्रक्रिया शुरू हुई है।

तस्यैव हि भगवतो रश्मिज्वाल प्रान्तोपलग्न ज्योतिश्चक्रम भ्रमतीति

उषा का विवरण देने से पहले हमें आदित्य और सूर्य के भेद को भी समझ लेना होगा। सारे ब्रह्माण्ड में विष्णुरूप यह जो आभा फैली हुई है उसके ज्योतिर्मय अखण्ड

1. उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्तसूर्य उर्विया ज्योतिरश्रत
देवो नो अत्र सवितान्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्मचतुष्पदित्यै॥ 1॥
(गृहस्थ पत्नी सबसे प्रथम जागकर सबको जगाती है।) (ऋ० 1/124/1-5)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्रोत ये आदित्य ही हैं या यो कहें तो उचित होगा कि सृष्टि जब तक है तब तक विष्णु अपनी आभा इन्हीं आदित्यों के केन्द्रीय स्रोत से ग्रहण कर उसका निरन्तर प्रसारण करते रहते हैं। इस प्रकार आदित्य सूर्यों से तत्त्वतः भिन्न है, लेकिन सूर्यों का उद्‌भव अग्निरूप में इन आदित्यों के भीतर से ही हुआ है। सूर्य, चन्द्र, तारे अपनी ज्योति इन्हीं आदित्यों से ग्रहण् करते हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन आदित्यों के प्रकाश के आगे बड़े से बड़े सूर्य की ज्योति तक फीकी पड़ जाती है।

इस प्रकार उषा सदैव ही सूर्य की पूर्ववर्ती और आदित्य की अनुवर्ती है। पृथ्वी एवं अन्य पिण्डों पर से जैसे-जैसे अँधेरा दूर हुआ है वैसे-वैसे रसमय जीवन की आह्लादमय हलचल भी शुरू हुई है। जीवन्त तत्त्वों (प्राण) एवं वनस्पति का प्रभूत मात्रा में विकास उषाकालीन आभा के उदित होने और फिर सूर्य की किरणों के उन्मुक्त वरदायक प्रवाह से ही सम्भव हुआ है। इसलिए भी उषा को जीवन का प्रथम प्रतीक सूत्र ही मान लिया गया है।

'ऋग्वेद' में 'भद्र' शब्द विशेषण और संज्ञा दोनों ही अर्थों में कल्याणकारी व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन भद्र शक्तियों से सदा शुभ कार्यों का समारम्भ माना गया है। उषा अपना वही कल्याणकारी 'भद्र' रूप ग्रहण कर दिन की चिन्मय प्रभा का ही सर्जन करती है। वही चिन्मय आभा पृथ्वी के ऊपर अर्द्ध-चन्द्राकार होकर पूर्वाकाश में हल्की लालिमा का मानो लेप-सा कर देती है। यह लालिमा उषा को निश्चय ही सोमक्षेत्र से निकलकर आने के कारण प्राप्त होती है क्योंकि वही उषा का आरामघर भी है। जीवन का निरन्तर चिन्मय आनन्द चाहने वाले प्राणिमात्र को सुख देने की इच्छा से ही सोमक्षेत्र से रथ पर आरूढ़ होकर पूर्व के आकाश में उषा अपना स्थान ग्रहण करती है। इसी तथ्य का विवरण काव्यात्मक विधि से निम्नांकित सूक्त में इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

''हे उज्ज्वल वर्णवाली उषा! तुम्हारे इस प्रकार आकाश में अवतरित होते ही प्राणिमात्र व जड़-जंगम सभी प्रफुल्लित हो उठते हैं। तुम इस प्रकार दिनों के अनुक्रम से ऋतुओं का बीजरूप में निर्धारण करती हो, (ऋतुएँ दिनों के 'अन्तेभ्यस्परि' अर्थात उनके भीतर से ही उनका अनुवर्तन करती हुई उत्पन्न होती हैं) तुम अपनी शीतल आभावाली किरणों से सारे विश्व के भुवनों में उजाला करती हो और उस उजाले के मध्य से ही दीप्तियुक्त किरणपुंज सूर्य को उत्पन्न करती हो।''

वेदों में कहा गया है कि सूर्य कृष्णवर्ण अग्नि का पिण्ड है। कृष्णवर्ण अग्नि किसी भी सौर्य पिण्ड की सबसे सघन विद्युत चुम्बकीय ऊर्जावस्था है, ऐसी स्थिति में उसे रश्मियाँ व्योममण्डल के विविध क्षेत्रों से अपने भीतर की ऊर्जा के सौर्य मण्डल में यथानुसार वितरण के लिए आदित्यों से ही प्राप्त होती है। इस तरह यह लगता है कि सूर्य की अपनी रश्मियाँ कदाचित् होती ही नहीं हैं। वह उनका संग्रह और वितरण करता है—

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ 1॥

अर्थात सूर्य के उदित होते ही देवों ने ध्वजाएँ फहराईं क्योंकि सूर्य के रूप में मानो वेद ही पैदा हुआ और सूर्य ने विश्व को दृष्टि दी। सूर्य के प्रकट होते ही सारी सृष्टि दिखाई पड़ने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लगी। यह तथ्य अभी वैज्ञानिक आधार पर सत्यापित किया जाना ही चाहिए कि जिन्हें हम अब तक सूर्य की किरणें मानते आए हैं क्या वे वास्तव में उसके भीतर से ही पैदा हुई हैं अथवा सूर्य ने अपनी प्रबल आकर्षण (कृष्ण) शक्ति द्वारा ब्रह्माण्ड की पूर्वतः फैली विविध ऊर्जाशील किरणों को अपने में केन्द्रित कर उनका सौर्यमण्डल में प्रसार किया है। वैसे आज यह बात स्वीकारी जाने लगी है कि कुछ अज्ञात या अल्फा गामा आदि किरणें सूर्य में हो रही ऊर्जा के विस्फोटों के विकिरण से भी भिन्न प्रकार की हैं और ये ब्रह्माण्ड के अन्य क्षेत्रों से आ रही हैं। ये अत्यन्त बलशाली किरणें सूर्यों को इसी प्रकार पोषित करती हैं जैसे माताएँ अपने शिशुओं को पोषित करती हैं।

जो हो, हमें जीवन और विकास को गति देने वाला सूर्य सबसे पहले कैसे पैदा हुआ, इस तथ्य का दर्शन 'उषा-सूक्त' ही कराता है। विश्व की आँख के रूप में सूर्य सबको देखता है और वह सबको एक-दूसरे को देखने की भी शक्ति देता है।

सूराय विश्व चक्षसे।
तरणि विश्व दर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य
विश्वमाभासि रोचनम्॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङदेषि मानुषात्
प्रत्यङ् विश्व स्वर्दृशे॥

सम्पूर्ण प्रकाशमण्डल विविध रश्मियों का समूहक्षेत्र भर है और उनमें से सहस्रधा महिमावाली, अनेकानेक गुणों (भावों) वाली रश्मियाँ सूर्यकेन्द्र में आबद्ध हो जाती हैं। सूर्य के भीतर निहित आकर्षण द्वारा वे उससे नियन्त्रित हो जाती हैं, यह नियन्त्रण एक अन्य रूप से भी सृष्टि में कार्य करता है—जैसे मनुष्य के साँस लेने व छोड़ने (श्वास प्रश्वास-पान-अपान) की क्रियाएँ चलती रहती हैं जो रश्मियों की बल-ऊर्जाओं के प्रसरण, विसरण, प्रकीर्णन, विकिरण आदि के रूप में व्यक्त होती हैं, किन्तु यदि इन विविध रंगमयी किरणों की पान-अपान क्रिया का कोई चित्र बनाया जाए तो आकाशमण्डल में अभूतपूर्व दिव्य रंगों की प्रभा के दृश्य उपस्थित होंगे। उन्हीं रंग प्रभावों में से एक प्रभा उषाकालीन प्रभात की भी है, इसे मानो और स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही 'ऋक् संहिता' में यह गाया गया है—

आयं गौः पृश्निरक्रमीद सदन मातरंपुरः।
पितरञ्च प्रयन्तचः॥ 1॥
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती।
व्यरत्यन्महिषो दिवम्॥ 2॥
त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतंगाय धीयते।
प्रतिवस्तोरह द्युभिः॥ 3॥ ऋक्० सं० 18/189/12-34

इन किरणों से स्वयं महिमामय बनते हुए ब्रह्माण्ड के सभी सूर्य त्रैलोक्य को प्रकाशित कर रहे हैं। वषट्कार विज्ञान के अनुसार एक-एक हजार भावों में परिणत ये सौर रश्मियाँ 30-30 अहर्गणों के धाम बनकर विराजित हैं। यही सूर्य का विश्राम-धाम भी है। बस यहीं से प्रकाश व ज्योति के स्रोत उद्भूत होते हैं और उषा का उत्थान भी इसी प्रक्रिया में होता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'उषा रजस का अंजन' भानु (सूर्य) की आँखों में आँज रही है। सोम में जब अग्नि के मेल से 'अभ्य' और 'रेत' का प्रादुर्भाव होता है तो वही रजस तत्व के रूप में व्योम मण्डल में व्याप्त हो जाता है, इसी रजस तत्व से चन्द्रमा चमकता है। यह रजसतत्व (रजत) अथवा चाँदी के रूप में जाना जाता है। उसे लोकभाषा में 'रूपा' भी कहते हैं जिसका चाँदी का रुपया 'रूप्यकम्' शब्द से ही बना है। अर्थात यही उषा जैसे पूर्व में अरुण आकाश के तल से उदय होने वाले सूर्य को मानो चाँदी का अंजन लगा रही है ऐसा कुछ भाव इस मन्त्र-पंक्ति में है—

एता उत्या उषसः केतुमकत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते॥

इसी तरह पूर्व के आधे आकाश में अपनी लालिमा (अरुणाभा) की ध्वजा फहराते हुए उषा ने मानो भानुरूपी अपने नवजात शिशु की आँखों में चमकीली रजत रज का अंजन लगा दिया—आँखों में अंजन लगाने की अनी (जो ब्रह्माण्ड के सन्दर्भ में कोई न कोई आयुध की ही तरह होगी अन्यथा वह अन्धकार को हरण कर सबको देख सकने वाली रजतमय चमकीली ज्योति का प्रवाह सूर्य के माध्यम से कैसे सुलभ करा सकेगी।) इसलिए 'निष्कृण्वाना आयुधानीव घृष्णवः।' घृष्णवः (मलकर घिसकर लगाने की प्रक्रिया है) अंजन से आँखों की ज्योति बढ़ती है। 'गावो' शब्द किरणों के अर्थ में आया है और 'प्रतिगावो' का यहाँ यह भाव है कि मानो प्रत्येक रंग की किरण की अनी (दण्डिका) से उषा यह अंजन सूर्य की आँखों में लगाने की क्रिया सम्पन्न कर रही है और पूर्ण सन्तुष्ट होने पर ही वह उसे (शिशु सूर्य को) उदित होने के लिए (ऊपर उठने के लिए) एक सच्ची माता की तरह छोड़ेगी। शिशु भानु और माता उषा की यह तस्वीर सहज ही सूरदास के बाललीला के पदों की पूर्व-स्मृति दिलाती है।

इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में 'उषा-सूक्त' का काव्याधार वैज्ञानिक, भाषिक, आध्यात्मिक एवं तार्किक रूप से परिपुष्ट हुआ है। इतने विविध आयामों में कोई भी महाकाव्य खरा नहीं उतर सकता। इसी प्रसंग में हम आगे 'उषा-अनिरुद्ध' आख्यान के काव्यात्मक तथा वैज्ञानिक स्वरूप की व्याख्या करेंगे।

उषा-अनिरुद्ध आख्यान[1]

असुर सम्राट् बलि के अत्यन्त पराक्रमी पुत्र बाणासुर की एक पुत्री थी जिसका नाम उषा था। बाणासुर शिव का परम भक्त था। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसे एक हजार भुजाएँ तथा उतने ही आयुध प्रदान किए। इसका कालान्तर में यह प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसका मुकाबला करने वाला कोई योद्धा नहीं रहा। इससे बाणासुर किसी बराबरी के योद्धा से युद्ध के लिए तरस गया। बाणासुर के महामन्त्री का नाम कुम्भाण्ड

1. राजस्थान में भरतपुर जिले में बयाना में 'बाणासुर' का एक विशालकाय दुर्ग आज भी मौजूद है परन्तु यह महाभारतकालीन नहीं है। इसमें एक प्रस्तर की लाट है जिस पर ब्राह्मीलिपि में इस किले के निर्माण का सन्दर्भ है। उसके अन्तर्गत यह गुप्तकालीन निर्माण है। पहाड़ी से नीचे 'उषा' का मन्दिर है जो प्रतिहारों द्वारा 10वीं शती में बनाया गया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

था। उसकी भी एक पुत्री थी जिसका नाम चित्रलेखा था। उसका जैसा नाम था वैसा ही गुण। वह चित्रकर्म में अति निपुण थी और योगविद्या भी जानती थी। उषा की वह परम सखी थी।

उन्हीं दिनों कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के रूपसौन्दर्य की चर्चा विश्व में फैल रही थी। वह चर्चा उषा के पास भी पहुँची। उसने उसे सपने में देखा और उसके प्रेम में पड़ गई। वह उसे पाने के लिए व्याकुल हो गई। चित्रलेखा योगबल से द्वारकापुरी पहुँची और आकाशमार्ग से होते हुए अनिरुद्ध का अपहरण करके उषा के शयन कक्ष में ले आई। उसके बाद रात-दिन बीतते गए, उषा-अनिरुद्ध का प्रेम दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। उधर द्वारकापुरी में अनिरुद्ध के अपहरण की बात से चिन्ता फैल गई। कृष्ण ने पता करके बाणासुर को लिखा कि वह अनिरुद्ध को ससम्मान वापस भिजवा दे, परन्तु बाणासुर को तो युद्ध का कारण मिल गया था। उसने कृष्ण को युद्ध की चुनौती दी। कृष्ण ने सेना लेकर बाणासुर की नगरी पर धावा बोल दिया।

बाणासुर पहले तो कृष्ण से वीरतापूर्वक लड़ता रहा किन्तु जब कृष्ण ने उसके सहस्रबाहुओं को एक-एक कर काटना शुरू किया तो महादेव अपने भक्त के प्राणों की रक्षा के लिए स्वयं युद्ध में उतर आए। कृष्ण (विष्णु) और शिव के इस युद्ध को देखने देवासुर, यक्ष, गन्धर्व, देवी-देवता सभी एकत्र हो गये। कृष्ण ने पाशुपति अस्त्र छोड़कर शिव को जमुहाई लेने के लिए मजबूर कर दिया और मौका पाकर फिर बाणासुर पर प्रहार करना चाहा। इस बार देवताओं, ऋषिमुनियों ने बीच में आकर शिव और कृष्ण को समझाया और सुलह के फलस्वरूप उषा-अनिरुद्ध विवाह-सूत्र में बँध गए। यह तो लोक-कथा है। इसका प्रतीकात्मक वैज्ञानिक सन्दर्भ और अर्थ इस प्रकार है—

बाणासुर	=	सहस्रबाहु	=	सूर्य
'उषा'	=			प्रात:कालीन उषा सूर्य की पुत्री (यहाँ सन्दर्भ बदल गया है।
अनिरुद्ध	=	ब्लैक होल की अनवरुद्ध शक्ति।		वेदों में सूर्य को उषा का पुत्र बताया गया है परन्तु जब वैदिक देवताओं का मान कम हो गया तो यह रूपान्तर हुआ।)
कृष्ण	=			काले सूर्य (ब्लैक होल) प्रवल आकर्षण वाले शक्ति नभगह्वर।
शिव:	=			सोमतत्त्व, जो सन्तुलन कायम करता है।
प्रसंग:	=			कृष्ण सूर्य (black होल्स) के सौर्यमण्डल में कमी आ जाने की प्रलयंकारी घटना।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अ = शिव
ब = कृष्ण
स = बाणासुर्य

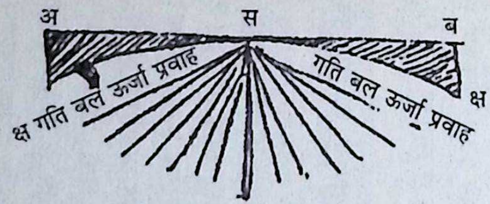

किरणों का संतुलित प्रकार

चित्र सं. 1

अ = ब
$^1/_2$ स = $^1/_2$ स
(स) स
अ स = ब स

संतुलन हेतु प्रतिकार

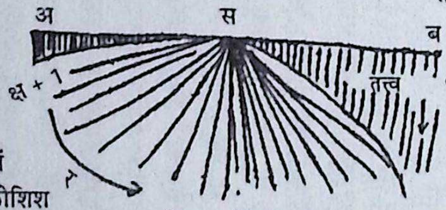

'य' का दबाव

य = कृष्ण का दावं
र = संतुलन की कोशिश
शिव द्वारा बाणासुर
को मदद

किरण संकुचन क्ष - 1

चित्र सं. 2

यदि अ = व × य
$^1/_2$ स (अक्ष + 1) = $^1/_2$ स (ब स-1)

क्ष + 1
क्ष + 2

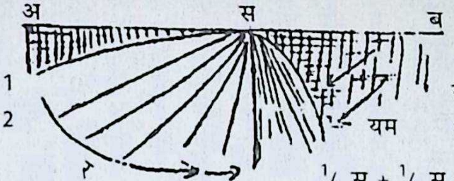

स - 1
क्ष - 2

चित्र सं. 3

$^1/_2$ स + $^1/_2$ स = $^1/_2$ स - $^1/_2$ स
(अ स + $^1/_2$ स)
(लक्ष - 1)

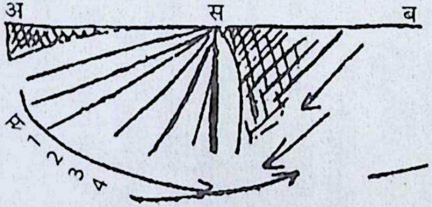

चित्र सं. 4

संतुलन पूर्ण

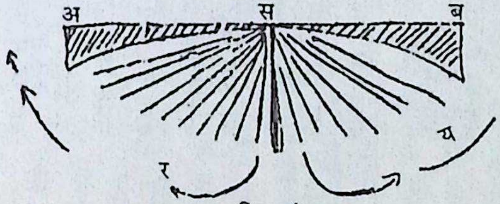

चित्र सं. 5

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उषा-अनिरुद्ध सम्बन्धी चित्रों की समीक्षा

चित्र सं० 1 अ (शिव) स (बाणासुर) तथा ब (कृष्ण) में पूर्ण सन्तुलन है। यह वह अवस्था है जहाँ बाणासुर का (सूर्य) क्षेत्र अबाधित है। बीजगणित की भाषा में इसे 'अ = ब' तथा 1/2 स = 1/2 स वाले समीकरण के
(अ) (ब)
माध्यम से अंकित किया गया है।

चित्र सं० 2 उषा द्वारा अपनी सहेली के माध्यम से कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का अपहरण करवाया जाना। कृष्ण का बाणासुर पर आक्रमण कर उसके बल को क्षीण करना। यहाँ कृष्ण (ब्लेक होल) नभ गह्वर का प्रतीक है। सूर्य अपनी निलयावस्था में सर्वाधिक चुम्बकीय आकर्षण बल ऊर्जा से युक्त होता है। सौर्य मण्डल का कोई भी ग्रह-उपग्रह इनके चुम्बकीय बल के समक्ष खड़ा नहीं रह सकता। उनसे टकराने पर या तो वे नष्ट हो जाते हैं या उनका प्रलयंकारी शोषण कर लिया जाता है। उग्र होने पर कृष्णसूर्य ब्रह्माण्ड में प्रलय कर सकते हैं। इसी कारण रुद्र (भृगु) क्षेत्र से इनकी विनाशकारी शक्ति का अवरोध होता है। क्षीण बाणासुर (सूर्य) को पुनः शक्ति मिलती है। (शिव और कृष्ण का द्वन्द्व युद्ध शुरू हो जाता है।)

चित्र सं० 3 कृष्ण पाशुपत अस्त्र का प्रयोग कर शिव को मूर्च्छित कर देते हैं। कृष्ण का दबाव बढ़ता जाता है। वे अनिरुद्ध को छुड़ाने के लिए कृतसंकल्प हैं।

चित्र सं० 4 सौर किरणों को बल प्रदान करने वाली सोम क्षेत्रीय ऊर्जा का टकराव कृष्णसूर्य से शुरू हो जाता है, ये पहले तो अपने प्रबल आकर्षण से इन किरणों को भी बेहोश कर देते हैं किन्तु सोमक्षेत्र से लगातार बल आ जाने से कृष्ण सूर्य शान्त और मर्यादित हो जाता है।

चित्र सं० 5 सौर्य मण्डल का सन्तुलन कायम हो जाता है। बाणासुर की पुत्री उषा का विवाह अनिरुद्ध से हो जाता है।

संक्षेप में उषा-अनिरुद्ध की कहानी की ब्रह्माण्ड विज्ञानी व्याख्या इस प्रकार है। यहाँ उपर्युक्त बात का मात्र संकेत भर करना था, मूल उद्देश्य उसके भीतर निहित काव्य की गूढ़ता का उल्लेख करना ही था। इसे दिखाने का हमारा एक उद्देश्य यह भी था कि यह प्रामाणिक हो कि कवि स्वप्नदृष्टा नहीं यथार्थदृष्टा होते हैं और कैसे उनकी चेतना में समष्टिव्यापी आशय अपनी सम्पूर्ण यथार्थ संगति में नियोजित होते हैं। इसी आधार पर हमें यह विश्वास भी होगा कि कवि मनीषा यथातथ्य स्तर से बढ़कर 'परिभू' स्वयंभू होने तक पहुँच जाती है।

किसी कविता के मिथ और काव्य प्रसंग के मिथक बनने की पृष्ठभूमि उपर्युक्त प्रक्रिया और उसके क्रमिक विकास की माँग करती है। बीच की कालावधि में उस चेतना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के लगातार बने रहने की भी आवश्यकता है, तभी उसकी परम्परा कायम रहती है और यह भी लगता है कि उस काव्यपरक प्रसंग अथवा घटना ने अपनी सार्थकता बनाए रखी है। कई बार यह जरूरी भी नहीं होता कि ऐसे किसी काव्य या सामजिक-सांस्कृतिक प्रसंग की वैज्ञानिक संगति भी हो। वैज्ञानिक संगति न भी हो तो भी यदि समाज उसे उपयोगी अथवा सुन्दर मान लेता है तो वह अपनी सामाजिक संगति खुद बना लेता है। पर इतना अवश्य होना चाहिए कि उक्त प्रसंग, घटना, रूपक या आख्यान में समाज के लिए सार्थक व रुचिकर बने रहने की निजी अंतरंग क्षमता हो, ऐसा होने पर उसमें वैज्ञानिकता न भी हो मात्र उपयोगिता के बल पर उसे स्वीकृति मिल जाती है, वह मिथ बन जाता है।

हाँ, मिथ बनने के लिए उसे अनेकानेक रूपों में सैकड़ों-हजारों वर्षों तक कायम रहकर विकसित होने की जरूरत होती है। ऐसा प्रायः नहीं ही होता कि कोई घटना, सन्दर्भ या व्यक्ति अपने जमाने में ही मिथ बन गया हो। आज इन्द्र, विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान व शिव आदि मिथ बन गए हैं। किन्तु यदि कोई ऐसा कहे कि गांधी मिथ बन गए हैं तो इससे बड़ा सांस्कृतिक झूठ नहीं हो सकता। हाँ, यह तो कहा जा सकता है कि सैकड़ों-हजारों वर्षों बाद यदि समय और समाज ने उन्हें सार्थक रखा तो 'गांधी' भी एक मिथ बन जाएँगे।

अब जहाँ तक कविता में किसी प्रसंग के मिथ होने की बात है, वह जरा उससे एक सीढ़ी और गहरी डूबी हुई बात है। काव्य-मिथ होने के लिए व्यक्ति या घटना या सन्दर्भ का इतना 'अमूर्त' हो जाना जरूरी है कि उससे जुड़े हर अंश का भी प्रतीकात्मक अर्थ ही केवल न पहचान में आए, नए अर्थ फला लेने में भी सहज रूप से सम्भव हो। गांधी की अपेक्षा 'सत्य' के लिए 'हरिश्चन्द्र' का सन्दर्भ 'काव्य मिथत्व' हेतु आज भी इसी कारण ज्यादा वजनदार है क्योंकि अब हरिश्चन्द्र सत्य के ही प्रतिरूप बन गये हैं। उसके प्रतीक बन गए हैं उस प्रतीक से, सत्य के तथा उसके सन्निकट के सभी आशयों के सहप्रतीक, रूपक आदि बिना किसी रोक-टोक के बनाए जा सकते हैं—इसी अर्थ में 'उषा-आख्यान' हमारे लिए मिथक प्रतीक बनकर सामने आया है। वैदिक ऋषियों के काल तक भी वह मिथ बन चुका था, क्योंकि वह ऋषियों द्वारा उस प्रसंग का संकलन किये जाने से पूर्व ही मिथ के लिए अपेक्षित सारी ऐतिहासिक यात्रा कर चुका था।

उषा-अनिरुद्ध आख्यान, ब्रह्माण्ड की एक घटना के प्रतीक के रूप में विविध विधि से व्यक्त होकर अपना विशिष्ट कथात्मक आधार बटोर कर, जिस प्रकार मिथ बना है, प्रायः वैसी ही प्रक्रिया वैदिक देवताओं के प्रतीकात्मक सन्दर्भों के लिए भी रही है। लेकिन 'उषा-आख्यान' में जो अतिरिक्त काव्य-सौन्दर्य बन पड़ा है, वह 'श्री-सूक्त' में भी नहीं है। सरसता एवं सौन्दर्य भाव में उषा-सूक्त के बाद श्री-सूक्त का ही स्थान है।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

4

उपनिषदों में रहस्यवाद

रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे

दर्शन और रहस्यवाद

उपनिषदकार अद्वैत आत्मा की कल्पना तक पहुँच चुके हैं, जो प्रकृति-जगत और मनो-जगत में समान रूप से व्याप्त है, जिससे संसार अपनी सत्ता ग्रहण करता है, जिसमें जगत की स्थिति है और जिसमें अन्त में लोक का निलय हो जाता है। आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना ही उपनिषदीय दर्शन का परम पुनीत तत्व है। आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना विविध विरोधी धर्म सम्प्रदायों के विद्वेषमूलक भिन्न-भिन्न पक्षों का संयोजक सेतु है। आत्मा के इस स्वरूप की कल्पना ही सत्य के विविध विधानों को परम सत्य के स्वरूप-निरूपण के पथ पर समुचित स्थान प्रदान करती है। उपनिषदों में आत्मानुभूति प्राप्त करने के कुछ व्यावहारिक साधन भी हैं। सत्य की प्रज्ञात्मक व्याख्या के विधान से वे सन्तुष्ट नहीं, किन्तु उसकी प्राप्ति के साधनों का भी निर्देश करती हैं। यह सत्य है कि आत्मानुभूति की समस्या की प्रकृति के अनुकूल उपनिषदकारों से इसकी एक सचेतन और विशद व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती, वे केवल संकेत-मात्र से आत्मानुभूति के पथ का दिग्दर्शन करते हैं। वे इसे भली प्रकार जानते थे कि शब्दों द्वारा आत्मसाक्षात्कार के अपूर्व अनुभव का वर्णन, चाहे वह कितना ही परिपूर्ण क्यों न हो, सत्य को नहीं पा सकता, यहाँ तक कि कोई अप्रत्यक्ष, बुद्धिगत अथवा संवाद-ज्ञान प्रत्यक्ष स्वानुभूत ज्ञान तक नहीं पहुँच सकता। एक अनुभव की अभिव्यक्ति और उसके आनन्दोपभोग में उतना ही अन्तर है जितना कि एक वस्तु के ज्ञान और अनुभव में है। अस्तु, परमार्थ के जिज्ञासुओं के अन्यथा अन्धकारमय पथ को दीपस्तम्भों के रूप में आलोकित कर उनके लिए मार्ग-निर्देश करने के लिए आत्मसाक्षात्कार के अनुभवों को स्वयं किसी प्रच्छन्न रूप में व्यक्त होना पड़ता है। इस प्रकार हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों में आत्म-साक्षात्कार के रहस्यात्मक निर्देश पाते हैं, जो गुदड़ी के लालों की भाँति प्रज्ञात्मक आवरणों में छिपे हुए हैं, तथा जिनकी अमूल्यता को कोई पारखी ही समझ सकता है।

अपरा और परा विद्या

उपनिषदकार इस बात का पूर्ण-रूप से अनुभव करते हैं कि बौद्धिक साधना किसी परिमाण में भी हमें सत्य के साक्षात्कार में समर्थ नहीं बना सकती। वे अपरा और परा विद्या में वही अन्तर करते हैं जो ग्रीक दार्शनिक अनुमान (Dexa) और सत्य (Episteme) में करते हैं। मुण्डकोपनिषद हमें बतलाता है कि संसार में दो प्रकार की विद्याएँ सम्पाद्य हैं—अपरा और परा। अपरा विद्या वेद, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि शास्त्रों का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञान है। परा विद्या वह है जिसके द्वारा केवल अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है (मूल० 1-क)। ज्ञान और अनुभव के मार्ग का वही भेद विशेष नारद और सनत्कुमार के संवाद से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है, जहाँ नारद शिष्यरूप से सनत्कुमार के पास आत्म-ज्ञान सम्पादन के लिए जाता है। यह पूछने पर कि अब तक उसने ज्ञान की कौन-कौन-सी शाखाएँ सीख ली हैं, नारद ने सनत्कुमार को उत्तर दिया कि "मैंने समस्त वेद, इतिहास, पुराण, पितृ-शास्त्र, गणितशास्त्र, शकुन-शास्त्र, काल-शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति-शास्त्र, देव-विद्या, भूत-विद्या, ब्रह्मविद्या, अस्त्रविद्या, मन्त्रविद्या, नक्षत्रविद्या, ललित-कला आदि सब का अध्ययन किया है। किन्तु मुझे यही दु:ख है कि इतना ज्ञान भी मुझे शोक-सागर के पार न उतार सका। मैंने विविध मन्त्रों का अध्ययन किया है पर आत्मा को नहीं पहचाना। मैंने अब तक अपने गुरुतुल्य वन्दनीय पुरुषों से यही सुना है कि वही इस शोक-सागर के पार जा सकता है, जो इसे आत्मा के सेतु द्वारा पार कर सकता है। क्या आप मुझे इस अज्ञान और शोक के सागर को पार करने में समर्थ बनाएँगे (मूल० 1-ख)।" यह अवतरण अपरा और परा विद्या के अन्तर को स्पष्ट प्रकाश में लाता है और आत्मज्ञान को इतना उच्च स्थान देता है कि समस्त बुद्धिगत ज्ञान इसके सामने शब्द-कला-मात्र अथवा असफल श्रम-साधना प्रतीत होता है। अन्त में, उपनिषदकारों का आत्म-साक्षात्कार की समस्या के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण केनोपनिषद में व्यक्त हुआ है, जहाँ हमें यह बताया गया है कि यदि केवल आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए, तो जीवन का परम-लक्ष्य मनुष्य अपने भौतिक जीवन में ही प्राप्त कर सकता है; क्योंकि यदि शरीर के जीवित रहने तक आत्म-ज्ञान प्राप्त न हुआ, तो मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता कि मृत्यु के उपरान्त उसके लिए क्या-क्या यातनाएँ भविष्य के अन्तर्पट में छिपी होंगी (मूल० 2-क)। इसी भाव का समर्थन तनिक अन्तर के साथ कठोपनिषद में किया गया है, जहाँ हमें यह बताया गया है कि जब तक मनुष्य अपने शरीर के रहते आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक उसे पुनर्जन्म की शृंखलाओं में बार-बार जीवन-धारण करना पड़ेगा (मूल० 2-ख)।

आत्म-ज्ञान का अधिकार

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि शरीर के रहते जीवन-काल में ही आत्मानुभूति प्राप्त की जा सकती है तो लोग अपने जीवन में आत्मा का अनुभव क्यों नहीं कर पाते; यदि कुछ लोग भी आत्मानुभूति को प्राप्त कर सकते हैं, तो उस ज्ञान-सम्पादन के अधिकार-गुण क्या हैं? आध्यात्मिक जीवन के अधिकार-गुणों के प्रसंगों से उपनिषदीय वाङ्मय भरा पड़ा है। आत्म-ज्ञान के साधक के लिए पहला आवश्यक गुण कठोपनिषद के अनुकूल अन्तर्मुखी दृष्टि है : "ईश्वर ने हमारी इन्द्रियों की प्रकृति बहिर्मुखी बनाई है। यही कारण है कि मनुष्य अपने अन्तस की ओर देखने की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक देखता है। अमरत्व की कामना का साधक विरला ही ज्ञानी पुरुष अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाता है" (मूल० 3-क)। श्वेताश्वतरोपनिषद में भी इन्द्रियों की इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बहिर्मुखी वृत्ति पर जोर दिया गया है, जहाँ हमें यह बताया गया है कि जीवात्मा इस नवद्वार-युक्त शरीर-कोट में बन्दी है। उसकी वृत्ति प्रतिक्षण इस कारागार से बाहर उड़ जाने का प्रयत्न करती है (मूल० 3-ख)। धनुष (दण्ड) को दूसरी सीमा तक झुकाने के लिए आध्यात्मिक साधक को यह आवश्यक जान पड़ता है कि प्रारम्भ में वह अपने को बाह्य जगत से खींच ले, जिससे वह पूर्णत: अन्त:दर्शन प्राप्त कर सके। यह अन्तर्मुखी वृत्ति की स्थिति है। अन्तर्मुखी वृत्ति के बाद अगली सीढ़ी आत्म-शुद्धि की है। कठोपनिषद हमें बताता है कि जब तक मनुष्य दुष्कर्मों का पूर्णत: निरोध नहीं कर देता, जब तक वह पूर्ण रूप से शान्त और स्वस्थ नहीं है, तब तक, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, केवल बुद्धि के बल पर आत्मानुभव प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं (मूल० 4-क)। मुण्डकोपनिषद सत्य और तप, सम्यक ज्ञान और अखण्ड ब्रह्मचर्य को आत्मा के विकास की पूर्ण-स्थिति मानता है (मूल० 4-ख)। कठोपनिषद आत्मानुभूति के अप्रज्ञात्मक पक्ष को, प्रज्ञातीत के अर्थ में, प्रकाश में लाता है, जब वह यह घोषणा करता है कि केवल प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुति से आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता (मूल० 4-ग)। ईशावास्योपनिषद एक बड़े प्रसिद्ध अवतरण में कठोपनिषद के ही मत का समर्थन करता है, जब वह हमें यह बताता है कि ज्ञान अज्ञान से भी अधिक आपत्तिजनक है, क्योंकि जो अज्ञान-पथ का अनुशीलन करते हैं, वे अन्धतामिश्र लोकों में जाते हैं, किन्तु जो अपने ज्ञान का गर्व करते हैं वे उनसे भी अधिक अन्धतामिश्र लोकों में जाते हैं (मूल० 4-घ)। मुण्डकोपनिषद यह संकेत करता है कि वह मनुष्य आत्मानुभव को प्राप्त नहीं कर सकता, जो कठोर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की क्षमता नहीं रखता और न वह मनुष्य जिसका जीवन अनर्थ-संचय-मात्र है (मूल० 4-ङ)। वही उपनिषद आत्मानुभूति के जीवन के और भी लक्षण बताता है। ''जब तक मनुष्य उन समस्त लोकों से पूर्ण निर्वेद का भाव ग्रहण नहीं कर लेता, जिनमें वह अपने कर्म-फल के कारण आता है और जब तक वह पूर्णत: यह विश्वास नहीं कर लेता कि वह लोक जो कर्मों की परिधि से परे है, कर्मों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, चाहे वे कितने ही पुण्य-कर्म हों,'' दूसरे शब्दों में, जब तक वह आत्मानुभूति के जीव को कर्ममय जीवन से एकान्त श्रेष्ठ नहीं मानता, तब तक उसे आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है, जिसे खोजने के लिए उसे नम्र-भाव से, समित्पाणि होकर, अपने आत्म-सिद्ध गुरु के पास जाना चाहिए (मूल० 4-च)। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मानुभूति के उपनिषद अन्तर्मुखी वृत्ति, लोक-निर्वेद, आत्मशुद्धि, नम्रता, शान्ति, सत्य, तप, अन्तर्दृष्टि, सम्यक ज्ञान, बल, कर्मनिष्ठा के जीवन का समर्थन करते हैं। जब तक इस स्थिति को प्राप्त न कर ले तब तक आध्यात्मिक जीवन के साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

गुरुदीक्षा की आवश्यकता

नैतिक सद्गुणों के पूर्णतया सम्पादन के बाद एक योग्य गुरु से दीक्षा लेने की आवश्यकता होती है। उपनिषदों में गुरु-दीक्षा की आवश्यकता पर समय-समय पर जोर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद में सत्यकाम केवल औरों की सम्मतियाँ प्रदर्शित कर रहा है, जब वह अपने गुरु से यह कहता है कि अब तक उसने गुरुतुल्य वन्दनीय पुरुषों से यही सुना है कि जब तक गुरु-द्वारा आत्म-साक्षात्कार की दीक्षा नहीं मिलती तब तक मनुष्य आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता (मूल० 5-क)। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रवाह के उच्चतर धरातल से निम्नतर धरातल की ओर नैसर्गिक अवतरण में विश्वास के साथ कठोपनिषद हमें बताता है कि "यदि धर्मगुरु वास्तव में उच्चकोटि का आत्मज्ञानी न हो तो आध्यात्मिक-ज्ञान की प्राप्ति कठिन होगी, और पुनः जब, यदि दीक्षा ऐसे आध्यात्मिक गुरु से नहीं ली जाती जिसने आत्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव कर लिया है, तो उस सूक्ष्म मार्ग के ज्ञान की कोई आशा नहीं की जा सकती, जो तर्क और विवाद की शक्ति से परे है। तर्क-कूटों में हमें अपनी बुद्धि का अपव्यय नहीं करना चाहिए, क्योंकि बिना दूसरे के द्वारा दीक्षा प्राप्त किए हम आत्म-ज्ञान की प्राप्ति की आशा कैसे कर सकते हैं?" (मूल० 5-ख)। एक दूसरे अवतरण में वही उपनिषद कहता है कि "उठो, जागो और अपने से श्रेष्ठ पुरुषों से ज्ञान सीखो, क्योंकि आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलना उतना ही कठिन है, जितना कि तलवार की धार पर चलना। कवियों ने इसे दुर्गम पथ ठीक ही कहा है (मूल० 5-ग)।" इन तथा अन्य अवतरणों से यह स्पष्ट है कि आत्म-ज्ञान मनुष्य को केवल अपने वैयक्तिक प्रयत्नों से नहीं मिल सकता, क्योंकि हमें बताया गया है कि ज्ञान इतना सूक्ष्म तथा रहस्यमय है कि कोई भी अपने वैयक्तिक प्रयासों से इसकी प्राप्ति की आशा नहीं कर सकता। दूसरे, यह आवश्यक है कि गुरु जिसके पास हम विद्या सीखने जाएँ, वह ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव अवश्य कर चुका हो। क्योंकि जब तक गुरु ने इस तादात्म्य का अनुभव न किया होगा, जब तक, दूसरे शब्दों में, वह एक एकत्व के अनुभव के उच्च शिखर पर स्थित न होगा, तब तक उसका दिया हुआ ज्ञान उसके शिष्य में सफल नहीं हो सकता। आत्म-ज्ञान सीखने के लिए गुरु की आवश्यकता के विषय में प्रायः सन्देह प्रकट किए गए हैं। यह कहा जाता है कि पुस्तकों की सहायता से ज्ञान प्राप्त क्यों नहीं कर सकते? ऐसी शंकाएँ उपस्थित करने वालों को यह स्मरण करना चाहिए कि प्लेटो ने पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान और गुरु के श्रीमुख से प्राप्त ज्ञान के तुलनात्मक मूल्य के विषय में क्या कहा था? पहला नितान्त निर्जीव है और दूसरा गुरु के परिपूर्ण विकसित जीवन का निष्कर्ष है। यह जगत में सम्भाव्य समस्त अन्तर है क्योंकि पुस्तकें परमार्थ के पथ की कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकतीं, किन्तु सद्गुरु, जिसने उस पथ पर विचरण किया है, अपने उत्साही शिष्य को आध्यात्मिक पूर्णता की सोपान-पंक्ति पर एक-एक करके धीरे-धीरे सँभाल कर ले जा सकता है।

अन्ध-गान्धार का दृष्टान्त

एक सद्गुरु अपने शिष्य को किस प्रकार अध्यात्म-मार्ग पर ले जाता है, इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला एक बड़ा मनोरंजक दृष्टान्त छान्दोग्योपनिषद में है। कथा इस प्रकार है कि गान्धार देश के एक पुरुष को कुछ डाकुओं ने आँखें बाँध कर एकान्त तथा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

घोर अरण्य में ले जाकर, उसे यथेच्छ विचरने को छोड़ दिया। जब वह अपने देश जाने के लिए सहायता और पथ-निर्देश के लिए करुण चीत्कार कर रहा था, एक मनुष्य जो अकस्मात् वहाँ से निकला, बोला, ''उस दिशा में जाओ, उस दिशा में गान्धार देश है।'' अपनी बुद्धि का यथाशक्ति उपयोग करता हुआ, वह एक गाँव से दूसरे गाँव का मार्ग पूछता हुआ बड़े कष्ट से अपने घर लौट कर आया (मूल० 6)। यह अन्ध-गान्धार का दृष्टान्त आध्यात्मिक ज्ञान से उतना ही परिपूर्ण है जितना कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' (Republic) का गुफा का दृष्टान्त। यह एक विशद रूप में आत्मा के मूल अज्ञान-अन्धकार से लेकर उसके ज्ञानालोक तक की समस्त प्रक्रिया को स्पष्ट कर देता है। हमारा वास्तविक देश तो ब्रह्म-लोक है, वहाँ से वासनाओं के डाकू नश्वर वस्तुओं के प्रति हमारी अनुरक्ति से हमारी आँखें बाँध कर हमें अज्ञान के इस घोर अरण्य में ले आए हैं। यहाँ हम सहायता के लिए करुण चीत्कार करते हैं, जिससे हमें प्रकाश मिल सके और जो हमें ब्रह्मलोक तक पहुँचा दे। अकस्मात हमें अध्यात्म-गुरु मिल जाता है, सम्भवतः हमारे पूर्व-जन्मों के सुकृतों के प्रतिफलस्वरूप। सद्गुरु हमें हमारे स्वदेश के पथ का बोध कराता है, तब अपनी शक्तियों का यथासाध्य उपयोग करते हुए, हम अध्यात्म-पथ पर क्रमशः पद-पद बढ़ते जाते हैं, जब तक कि हम ब्रह्म-लोक में नहीं पहुँच जाते, जो हमारा मूल स्थान है।

ज्ञानोपदेश के निर्बन्ध

साधक शिष्य को अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा देने के पूर्व गुरु को कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। मुण्डकोपनिषद हमें बताता है कि जब तक शिष्य ऐसा कठोर कार्य पूर्ण न कर ले, जैसे कि अपने सिर पर अग्नि वहन करना, तब तक गुरु को उसे अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिए (मूल० 7-क)। इस अवतरण का, जो ऐसी कठोर चेतावनी देता है, यह भी अभिप्राय निकाला गया है कि किसी मनुष्य को अध्यात्म-पथ पर प्रवेश करने का अधिकार नहीं है, जब तक वह मुण्डित नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि संन्यासी ही अध्यात्म-ज्ञान का योग्य साधक हो सकता है। संन्यास-आश्रम की किसी प्रकार अवज्ञा करना हमारा अभिप्राय नहीं है, किन्तु हम यह कह सकते हैं कि उपनिषदों के अवतरण सदा संन्यास को ही अध्यात्म-ज्ञान का एकमात्र साधन नहीं मानते। छान्दोग्योपनिषद का कथन है कि ''अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा ज्येष्ठ पुत्र को अथवा उस शिष्य को ही देनी चाहिए, जिसने गुरु के साथ बहुत दिनों तक जीवन व्यतीत किया है, किसी अन्य को नहीं। समुद्रवलयामेखलित समस्त वसुन्धरा-व्यापी कोष से भी अध्यात्म-ज्ञान का मूल्य कहीं अधिक है'' (मूल० 7-ख)। श्वेताश्वतरोपनिषद का एक अवतरण जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और जो उपनिषदीय वाङ्मय में प्रथम बार 'भक्ति' शब्द प्रयोग करता है, हमें बताता है कि जब तक शिष्य की गुरु और ईश्वर में पूर्ण 'भक्ति' नहीं हो, तब तक उसको आध्यात्मिक रहस्य नहीं खोलना चाहिए (मूल० 7-ग)। अस्तु, हम देखते हैं कि किस प्रकार सद्गुरु को अध्यात्म-ज्ञान के उपदेश में सतर्क होना चाहिए। आगे चलकर उसी 'भक्ति' शब्द को लेकर भगवद्गीता हमें बताती है (अध्याय 18,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्लोक 67) कि उसको अध्यात्म-ज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिए जिसने दीर्घ तप द्वारा अपने को उसके योग्य नहीं बना लिया है तथा जिसकी गुरु और ईश्वर में पूर्ण भक्ति नहीं है, अथवा जिसके हृदय में आध्यात्मिक-ज्ञान के प्रति तिरस्कार की भावना है।

प्रणव-ध्यान : आत्मज्ञान का साधन

सद्गुरु शिष्य को ध्यान का जो प्रत्यक्ष साधन बताता है वह उपनिषदों में एक मत से ॐकार बताया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ॐकार को ध्यान का परम-साधन ही नहीं बताया गया है, वरन् ॐकार ध्यान का परम साध्य है। भारतीय दर्शन में ॐकार का वही स्थान है, जो ईसाई दर्शन में 'लागॉस' (Logos) का। उपनिषदों में ॐकार के द्वारा ध्यान के प्रभाव के महत्व का उल्लेख बार-बार किया गया है। "समस्त वेद जिस अक्षर की घोषणा करते हैं, जो समस्त तपों का साध्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए लोग ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। वह अक्षर, तुम्हें बताता हूँ, संक्षेप में 'ॐ' है। ॐ परब्रह्म है। ॐ परम अक्षर है। ॐ परम आश्रय है" (मूल० 8-क)। इन शब्दों के द्वारा कठोपनिषद ध्यान के साधन और साध्य को एकरूप कर देता है। सारांश में ॐ आध्यात्मिक जीवन के साधन और साध्य का प्रतीक है। छान्दोग्योपनिषद यह घोषणा करता है कि समस्त श्रुति इस ॐकार के आधार पर इसी प्रकार अनुस्यूत है जिस प्रकार एक वृक्ष की शाखा पर पल्लवदल (मूल० 8-ख)। मुण्डकोपनिषद एक वड़ी सुन्दर उपमा की सहायता से हमें बताता है कि "हमें अपने हाथ में उपनिषदों का धनुष लेना चाहिए और उस पर उपासना-निशित आत्मा का बाण रखना चाहिए। फिर उसे एकाग्र चित्त से चढ़ाकर अक्षर ब्रह्म के लक्ष्य का बेधन करना चाहिए। यह रहस्यात्मक प्रतीक प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म बैध्य लक्ष्य है। हमें अविचल ध्यान से इसका बेधन करना चाहिए, जिससे बाण लक्ष्य-मय हो जाए" (मूल० 9)। यहाँ हमें यह बताया गया है कि किस प्रकार बाण की शिरा को तीक्ष्ण बनाने के लिए उपासना की आवश्यकता है। किस प्रकार केन्द्रित एकाग्रता और अविचल प्रयास आत्म-बाण द्वारा ब्रह्म लक्ष्य के बेधन के लिए अपेक्षित है और अन्त में, किस प्रकार बाण लक्ष्यमय हो जाना चाहिए जिससे उसकी कोई पृथक सत्ता ही न रहे। यदि एकत्व के जीवन की अभिव्यक्ति किसी रूपक द्वारा हो सकती है—और यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त शाब्दिक अभिव्यंजनाएँ वास्तविक अनुभव से अधूरी बैठती हैं—तो मुण्डकोपनिषद द्वारा आविष्कृत बाण और लक्ष्य के रूपक को एक उत्तम रूपक मानना चाहिए, क्योंकि यह जीवात्मा और परमात्मा के ऐसे तादात्म्य की भावना की, जिसमें जीवात्मा के पृथक व्यक्तित्व का एकान्त लोप हो जाए, यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति कर देता है। आगे चलकर ॐकार केवल व्यक्तिगत श्रेय ही नहीं रखता, वरन विश्व-श्रेय का सम्पादक है। यह ध्यान का केवल व्यक्तिगत साधन नहीं है, वरन हमें बताया गया है कि स्वयं सूर्य भी प्रणव-गान करता हुआ विश्व की प्रदक्षिणा करता है (मूल० 10)। अन्त में प्रश्नोपनिषद प्रणव-ध्यान के नैतिक श्रेय पर प्रकाश डाला गया है, जहाँ सत्यकाम अपने गुरु से पूछता है कि मृत्यु

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पर्यन्त निरन्तर प्रणव-ध्यान करते रहने से मनुष्य की क्या गति होती है और उसे यह उत्तर मिलता है कि ''जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रणव-ध्यान करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त होता है और अपने जप की शक्ति से परमलोक को जाता है, जहाँ उस 'पुरुष' का दर्शन करता है, जो शरीर की सचेतन प्राण-शक्ति है, और जो समस्त जीवभूतों से परम श्रेष्ठ है'' (मूल० 11)।

माण्डूक्योपनिषद में प्रणव-प्रशस्ति

माण्डूक्योपनिषद में भी प्रणव की विशेष प्रशंसा की गई है और उसे अधिक आध्यात्मिक महत्व दिया गया है। हमें बताया गया है कि इसमें केवल तीन मात्राएँ—अ, उ, म् ही नहीं हैं, वरन् इसमें एक चौथा मात्रा-हीन भाग भी है। माण्डूक्योपनिषदकार का स्पष्ट उद्देश्य ॐकार के चार भागों को एक ओर चेतना की अवस्थाओं से और दूसरी ओर आत्मा के प्रकारों से सांगतिक बनाना है। ॐ को सूक्ष्म रूप से चेतना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और आत्मा के विविध प्रकारों का प्रतीक माना गया है। अस्तु, एक ओर यह जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरीयावस्था का प्रतीक है। दूसरी ओर यह विविध प्रकार की आत्माओं—वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ और आत्मा का प्रतीक है। ॐकार का अमात्रिक भाग मन की तुरीयावस्था सांगतिक है तथा तत्वज्ञान की चतुर्थ कोटि आत्मा का भी। वैश्वानर स्थूल पदार्थों का उपभोग करने वाली है और तैजस् सूक्ष्म पदार्थों का। प्राज्ञ को दर्शन के ईश्वर के समान बताया गया है जो सबका प्रभु, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, नियन्ता, भूतमात्र की उत्पत्ति और निलय का कारण है। इन सबसे पृथक आत्मा है, जो माण्डूक्योपनिषद के मत से दर्शन के ब्रह्म के बराबर है। यह न अन्त:प्रज्ञ है, न बाह्यप्रज्ञ है, और न उभयप्रज्ञ है, यह न प्रज्ञानघन है और न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य है। यह एकात्म प्रत्यय-सार है। यह विश्व के निखिल प्रसार का निषेध करता है और शान्त, शिव तथा अद्वितीय है (मूल० 12-क)। इसके अंगों की मानसिक तथा तात्विक सांगतिकता का आध्यात्मिक महत्व, चेतना की अन्य अवस्थाओं को पार करने तथा उनकी सांगतिकता का आध्यात्मिक महत्व, चेतना की अन्य अवस्थाओं को पार करने तथा उनकी सांगतिक आत्माओं का निषेध करने के बाद तुरीयावस्था में इसका ध्यान करने से आत्मा के साक्षात्कार में मिलने वाली सहायता में है। हम माण्डूक्योपनिषद से अधिक प्रणव-ध्यान का महत्व तथा इसका इतना आध्यात्मिक मूल्य अन्यत्र नहीं पाते।

योगाभ्यास

उपनिषदों का उद्देश्य एक व्यावहारिक उद्देश्य है। हम उपनिषदों में योग-साधन द्वारा साक्षात ब्रह्म-प्राप्ति के व्यावहारिक प्रयोगों के संकेत बिखरे हुए देखते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद में हमें बताया गया है कि हमें अपने शरीर के नीचे के भाग को अरणी समझना चाहिए और प्रणव-ध्यान को ऊपर की अरणी और दोनों अरणियों के परस्पर संघर्ष से अपने में गुप्तरूप से सन्निहित ईश्वररूपी अग्नि को प्रमन्थन द्वारा प्रकट करना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चाहिए (मूल० 13-क)। श्वेताश्वतरोपनिषद में मिलने वाली आध्यात्मिक प्रमन्थन की प्रक्रिया में नीचे और ऊपर की अरणियों के रूप में शरीर और प्रणव का प्रसंग ध्यान रखने योग्य है, क्योंकि वह हमें कठोपनिषद के एक अन्य अवतरण की ठीक-ठीक व्याख्या करने में सहायक होता है। जिस प्रकार एक गर्भिणी स्त्री के गर्भ में स्थित भ्रूण की भाँति अग्नि दोनों अरणियों के बीच में सुरक्षित रूप से संस्थित है और जिस प्रकार लोग उस उद्देश्य से अहरह आहुतियों द्वारा उसकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यास में भी शरीर और प्रणवरूपी दो अरणियों के बीच में—जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद के प्रसंग में हम इसकी व्याख्या करते हैं—वह आत्मिक अग्नि (ब्रह्माग्नि) अन्तर्निहित है जिसकी उपासना हमें अहरह जाग्रत रह कर तथा अपनी मनोवृत्ति की आहुति देकर करनी है (मूल० 13-ख)। कठोपनिषद के इस अवतरण की व्याख्या एक और प्रकार से की जा सकती है, योग-प्रक्रिया की दो अरणियाँ प्राण और अपान दोनों वायुओं को भी मान सकते हैं और इन दोनों के बीच में वह दिव्य रूप ईश्वर संस्थित है, जिसकी समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं (मूल० 14-क)। श्वेताश्वतरोपनिषद के अनुसार दोनों अरणियों को शरीर और प्रणव मानने के स्थान पर हम उन्हें प्राण और अपान वायुओं के अर्थ में भी ग्रहण कर सकते हैं, जिनके बीच में दिव्य-रूप आत्मा विराजमान है। माण्डूक्योपनिषद में भी इसका प्रसंग अभावनीय नहीं, जहाँ हमें यह बताया गया है कि मन आत्मशुद्धि के लिए प्राण पर अवलम्बित है और प्राणायाम के द्वारा पहले मनशुद्ध हो जाने पर ही आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है।

श्वेताश्वतरोपनिषद में योग-मीमांसा

श्वेताश्वतरोपनिषद की योग-मीमांसा अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक विकसित है। इस उपनिषद के दूसरे अध्याय में हमें योगाभ्यास और उसके फल का शास्त्रीय तथा व्यवस्थित विवेचन मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह हमें उपनिषदीय-युग के उस काल में ले जाता है जबकि योग-सिद्धान्त परवर्ती दर्शन में पूर्णरूप से संगठित हो चुका था। हमें बताया गया है कि ''हमें अपने शरीर के तीनों उन्नत भागों को एक सरल रेखा में रखना चाहिए और अपने मन को इन्द्रियों सहित हृदय में सन्निहित करके ब्रह्म का एकाग्र ध्यान करना चाहिए और ब्रह्मरूपी नाव से आत्म-विकास के प्रतिरोध के समस्त प्रवाहों को पार करना चाहिए। प्राण-निरोध करके तथा कर्मों को नियमित करके हमें अपने प्राण को नासिक मार्ग से बाहर निकाल देना चाहिए, जब वह श्वास-क्रिया के कारण पूर्ण श्रान्त हो जाए, तब हमें अपने मन को संयमित करना चाहिए जो बड़े उच्छृंखल घोड़ों वाले रथ के समान है। हमें योग-साधन के लिए एक समतल तथा शुद्ध भूमि पर बैठना चाहिए, जो कंकड़, अग्नि और रेत से रहित हो और कोलाहल तथा सरोवरों से दूर हो। हमारे योग-साधन का स्थान मन के लिए आनन्ददायक हो और आँख के लिए कष्टदायक न हो। योग-साधन के लिए पर्वत-कन्दरा के किसी प्रशान्त स्थान का प्रयोजन उत्तम है (मूल० 15-क)। श्वेताश्वतरोपनिषद भी हमारे सामने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योगाभ्यास द्वारा प्राप्य शारीरिक चमत्कारों का रहस्य खोलता है।'' जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाला योग का पंचांग-प्रभाव पूर्ण रूप से परिस्फुट प्रक्रिया का स्वरूप धारण कर लेता है तो योग-साधक को रोग, जरा, मृत्यु आदि सबका भय दूर हो जाता है, क्योंकि उसका शरीर योगाग्नि से परिप्रोत हो जाता है। उसका शरीर बहुत हलका हो जाता है; वह पूर्ण आरोग्य तथा वासना-मुक्त हो जाता है, उसका वर्ण उज्ज्वल और कान्तिमान हो जाता है और स्वर बड़ा मधुर हो जाता है, उसके शरीर से सुगन्ध निकलने लगती, उसका मूत्र-पुरीस अल्प होता है। इन्हीं चिह्नों से योगसाधक को यह निर्णय करना चाहिए कि उसका अभ्यास पूर्णता की ओर बढ़ रहा है (मूल० 15-ख)। योगाभ्यास की आध्यात्मिक परिस्थितियों का विवेचन, जो हमें श्वेताश्वतरोपनिषद में मिलता है, हम इसी अध्याय में कुछ आगे चलकर करेंगे। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल योगाभ्यास के विविध अंगों तथा उनके शारीरिक प्रभावों के सांग निरूपण से है।

ब्रह्म-प्राप्ति की अन्तर्वृत्ति

योग-साधन का लक्ष्य स्पष्ट रूप से ब्रह्म-प्राप्ति है। किन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार की प्रकृति के विवेचन के पूर्व हमें एक अन्य प्रश्न पर विचार करना है—साधक किस अन्तर्वृत्ति द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है? यह कोई इन्द्रिय है अथवा बुद्धि है अथवा कोई अतीन्द्रिय तथा प्रज्ञातीत आत्म-प्रेरणा की अन्तर्वृत्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद हमें बताता है कि ब्रह्म का स्वरूप हमारे दृष्टिक्षेत्र की परिधि के अन्तर्गत नहीं है। ''दृष्टि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करने में कभी कोई मनुष्य समर्थ न हो सका है और न किसी के लिए हृदय, कल्पना अथवा मन के द्वारा उसका साक्षात्कार सम्भव है। जो इस सनातन शिव सत्य को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं (मूल० 16-क)। परवर्ती शास्त्रकारों ने इस अवतरण की व्याख्या दूसरे ढंग से की है। उनका कथन है कि चाहे ईश्वर के 'स्वरूप' का साक्षात्कार हमारे लिए सम्भव न हो, फिर भी हृदय, कल्पना अथवा मन द्वारा उसकी अनुभूति प्राप्त कर लेना हमारे लिए सम्भव है।'' यह ठीक है कि व्याकरण की दृष्टि से उक्त अवतरण की इस व्याख्या में भी कोई दोष नहीं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कठोपनिषद का वह श्लोक जो इसके आगे ही आता है, यह स्पष्ट कर देता है कि ब्रह्म की अनुभूति की प्राप्ति वाणी, मन अथवा दृष्टि से सम्भव नहीं। केवल उन्हीं के लिए, जो यह जानते हैं कि 'ब्रह्म है',—केवल उन्हीं के लिए, अन्य किसी के लिए नहीं—ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है'' (मूल० 16-ख)। यहाँ हमें यह बताया गया है कि मन द्वारा ब्रह्म की अनुभूति असम्भव है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कठोपनिषद के पूर्व श्लोक के दूसरे चरण में निषेधात्मक क्रिया विशेषण को 'समझना' चाहिए, जिसका अभिप्राय उस स्थिति में यह होगा कि हम मन के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति कभी प्राप्त नहीं कर सकते। कठोपनिषद के पिछले श्लोक में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि ब्रह्म-साक्षात्कार का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वरूप वही है, जो एक 'वस्तु' अथवा 'घटना' के प्रत्यक्ष दर्शन का है। इसके विषय में किसी शंका के लिए स्थान नहीं है। उसके विषय में सम्भव नहीं। यदि तुम केवल इतना जानते हो कि 'ब्रह्म है' तभी तुम 'ब्रह्म' का साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हो। पूर्वापर के सूक्ष्म विवेचन से उसके स्वरूप के तार्किक विश्लेषण अथवा किसी कल्पनात्मक अथवा प्रज्ञात्मक समीक्षा से 'घटना' के मूल्य में कोई क्षति नहीं आ सकती। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि न इन्द्रियाँ और न मन हमें ब्रह्म-साक्षात्कार में समर्थ बना सकता है। किन्तु एक और प्रश्न उठता है—यदि ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव भी है, तो क्या मनुष्य के पास कोई ऐसी अन्तर्वृत्ति है जिसके द्वारा वह ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। इस प्रश्न का उत्तर कठोपनिषद का एक अन्य श्लोक देता है। "यह आत्मा जो समस्त भूतों में निभृतरूप से सन्निहित है, वह सबके लिए प्रत्यक्ष नहीं, केवल सूक्ष्मदर्शी ऋषि ही अपनी सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं" (मूल० 16-ग)। यह सूक्ष्म बुद्धि भी हमें ब्रह्म का साक्षात्कार करा सकती है अथवा नहीं, इस विषय में भी मतभेद है। भगवद्गीता के एक अवतरण में (अध्याय 6, श्लोक-21) हमें बताया गया है कि जिस प्रकार ब्रह्म समस्त इन्द्रियों और मन से परे है, उसी प्रकार वह बुद्धि से भी परे है। किन्तु जब शब्द ब्रह्म-साक्षात्कार की अन्तःप्रवृत्ति के स्वरूप का यथार्थ निदर्शन करने में असफल रहते हैं तो सुविधा के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द-बुद्धि अथवा अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह लीजिए—आविष्कृत कर लेना और उसे ब्रह्म-साक्षात्कार का उत्तरदायी बनाना उपयुक्त है। किन्तु उपनिषद एक और लहर लेता है और ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रश्न को मनोवैज्ञानिक नहीं, वरन नैतिक दृष्टिकोण से देखता है। अस्तु, मुण्डकोपनिषद हमें बताता है कि "जब ज्ञान-प्रसाद से मनुष्य का समस्त नैतिक व्यक्तित्व स्वच्छ और शुद्ध हो जाता है, तभी वह चिन्तन द्वारा निष्कल ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह न दृष्टि से, न वाणी से, न किसी अन्य इन्द्रिय से, न तप से, न कर्म से प्राप्त हो सकता है" (मूल० 17-क)। कठोपनिषद के उस अन्य अवतरण का भी यही आशय है कि जो हमें यह बताता है कि "जब शरीर समस्त कल्मषों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है तभी मनुष्य ब्रह्म की महत्ता का अनुभव कर सकता है" (मूल 17-ख)। उक्त अवतरण में हम 'धातु : प्रसाद' के स्थान पर 'धातु-प्रसाद' पाठ को अधिक उपयुक्त समझते हैं क्योंकि हमारे विचार से धातृ अथवा विधाता की कल्पना उक्त अवतरण में एकान्त असंगत है और केवल बरबस ठूँसी जा सकती है; शरीर-शुद्धि का अर्थ नितान्त स्वाभाविक तथा सुसंगत है।

ईश्वर की सर्व-व्यापकता

कठोपनिषद के उक्त अवतरण की भाँति उपनिषदों में स्थान-स्थान पर हमें यह बताया गया है कि साधक ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। उसी उपनिषद का एक अन्य अवतरण हमें बताता है कि "हमें साहस के साथ अपने शरीर से आत्मा को ग्रहण करना चाहिए, जिस प्रकार हम एक दूर्वादल को उसके मूल से बाहर निकाल लेते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। जब आत्मा इस प्रकार उद्भावित हो जाती है, तो मनुष्य को समझना चाहिए कि वह तेजोमय शाश्वत ब्रह्म है'' (मूल० 18-क)। आत्मा और शरीर का वही सम्बन्ध है, जो गेहूँ और उसके छिलके का है। गेहूँ को भूसे से पृथक करना है, चाहे थोड़े समय तक वह उसे ढके रहे। ''जिस प्रकार एक छुरा पेटिका में रखा जाता है अथवा एक पक्षी अपने नीड़ में बन्दी होता है, उसी प्रकार प्रज्ञात्मा भी शरीर मे व्याप्त है'' (मूल० 18-ख)। इसी प्रकार कौषीतकी उपनिषद आत्मा की सर्व-व्यापकता की घोषणा करता है। श्वेताश्वतरोपनिषद हमें बताता है कि जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में परिव्याप्त है'' (मूल० 18-ग)। श्वेताश्वतरोपनिषद का एक अन्य अवतरण हमें बताता है कि ''जिस प्रकार घी के ऊपर एक अत्यन्त सूक्ष्म झिल्ली है, उसी प्रकार सर्व-भूत-व्यापी ब्रह्म भी समस्त विश्व को परिवेष्टित किए हुए है, जिसके ज्ञान से मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है'' (मूल० 18-घ)। ब्रह्म की इस सर्वव्यापकता के उपदेश का सारांश यह है कि यदि मनुष्य समुचित रीति से प्रयत्न करे तो वह अपने अन्तस् में ही ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

आत्मानुभूति के प्रकार

अपने अन्तस् में ही ब्रह्म-प्राप्ति की सम्भावना ही आत्म-शुद्धि और आत्मचिन्तन की दीर्घ प्रक्रिया द्वारा साधक के ब्रह्मान्वेषण की प्रेरक है। आध्यात्मिक पथ पर साधक को प्राप्त होने वाले दिव्य-रूप और दिव्य-नादों के प्रसंगों का उपनिषदों में अभाव नहीं है, यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि वे परिपूर्ण अनुभव हैं। उपनिषदों में सामान्यतः चार प्रकार के आत्मानुभव बिखरे हुए दिखाई देते हैं, जिनको साधक ध्यान-प्रक्रिया में अनुभव होने वाले वर्णों, नादों और प्रकाशों से प्राप्त करता है। इन विविध अनुभवों को एक-दूसरे से पृथक किए बिना ही हम भिन्न-भिन्न उपनिषदों से इनकी ओर निर्देश करेंगे। श्वेताश्वतरोपनिषद के दूसरे अध्याय में साधक द्वारा अपने परमार्थ-पथ के प्रथम चरण पर ही अनुभव होने वाले भिन्न-भिन्न आकारों और प्रकाशों के प्रामाणिक प्रसंग मिलते हैं। हमें बताया गया है कि नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रभा आदि ऐसे ही स्वरूपों का अनुभव करते हैं (मूल० 19-क)। बृहदारण्यकोपनिषद का एक प्राचीन अवतरण हमें प्रायः उसी स्वर में बताता है कि परमार्थ-पथ पर कुछ बढ़े हुए साधक को ''केशरिया वस्त्र, लाल पतंग, अग्निशिखा, रक्तोत्पल, विद्युत् के आकस्मिक आलोक आदि ऐसे ही दृश्य दिखाई देते हैं। यही अग्रगामी साधक के वैभव हैं'' (मूल० 19-ख)। साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदीय साधकों को नाद की अपेक्षा रूप और तेज के अनुभव अधिक होते थे। उपनिषदों में नादात्मक अनुभवों के प्रसंग थोड़े ही हैं और उनकी भी विशद उत्पत्ति नहीं दी गई है। बृहदारण्यकोपनिषद में, जैसा कि मैत्री उपनिषद में भी है, हमें बताया गया है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि परमार्थ-साधक कुछ आभ्यन्तरिक नादों का अनुभव करता है, जिनका सम्बन्ध उन उपनिषदकारों ने शरीर के अन्तर्गत संचालित होने वाली पाचन-प्रक्रिया से कर दिया है। हमें बताया गया है कि ''नाद मनुष्य की पाचन-प्रक्रिया का परिणाम है, जिसे मनुष्य कान मूँदने-मात्र से सुन सकता है और अन्त में जब मनुष्य मरता है तो वह कोई शब्द नहीं सुन सकता'' (मूल 20-क)। ऐसे ही स्वर में छान्दोग्योपनिषद हमें बताता है कि अन्तर्यामी सत्य-रूप आत्मा की सत्ता का निर्देश केवल कान मूँदने तथा वृषभ के डाँकने (बुलाने) के शब्द अथवा मेघ-गर्जन अथवा अग्नि के घोर के समान नाद सुनने से प्राप्त हो सकता है (मूल० 20-ख)। आध्यात्मिक अनुभवों से यह स्पष्ट हो गया है कि केवल कान मूँदने से ही हमें वह अनाहत नाद सुनाई नहीं पड़ता, वरन हम कान खुले होने पर भी इसे सुन सकते हैं और अन्त में यह कि एक बधिर पुरुष भी जो चाहे और कोई शब्द सुनने में समर्थ न हो, इस नाद को सुन सकता है। फिर हम इस अनाहत नाद को शरीर की पाचन-क्रिया का परिणाम नहीं कह सकते। यह सत्य है कि अनाहत नाद किसी सीमा तक शारीरिक स्थितियों पर निर्भर है, किन्तु उसे शारीरिक स्थितियों का परिणाम कहना घोड़े के आगे गाड़ी लगा देने के समान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि उपनिषदों में परमार्थ-साधक को सुनाई देने वाले शब्दों का निश्चित प्रसंग है, किन्तु उपनिषद्कार उनके यथार्थ-रूप से स्पष्ट उल्लेख तथा उनके स्वरूप का यथातथ्य निरूपण न कर सके। इसके विपरीत प्रकाश-रूपों के दर्शन में उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुई है। मुण्डकोपनिषद का कथन है कि अत्यन्त देदीप्यमान सुवर्ण-मण्डल पर निष्कल और शुभ्र ब्रह्म विराजमान है, जो समस्त तेजों का भी तेज है तथा जिसकी अनुभूति आत्म-ज्ञानी को ही हो सकती है (मूल० 21-क)। छान्दोग्योपनिषद हमें बताता है कि ''संसार का सेतु पार कर लेने के बाद चाहे वह मनुष्य अन्धा ही क्यों न हो, वह अन्धा नहीं रहता; बेधने पर भी उसे कष्ट नहीं होता, इस सेतु को पार कर लेने के बाद रात्रि भी चिरन्तन दिवस की भाँति प्रकाशित हो जाती है, क्योंकि आत्म-साधक की दृष्टि के सामने एक बार और अकस्मात सदा के लिए आलोकित हो जाता है'' (मूल० 21-ख)। छान्दोग्योपनिषद का एक अन्य अवतरण हमें बताता है कि ऐसे परमार्थ-साधक के सामने न सूर्यास्त है, न सूर्योदय है। उपनिषदकार का कथन है कि ''यदि केवल यह सत्य हो कि ईश्वर के साथ मेरा सम्बन्ध न टूटे। मेरी इच्छा है कि कभी ईश्वर से मेरा विरोध न हो, जब तक न कोई सूर्यास्त होता और सूर्योदय, तो उस आत्म-प्रकाशित आत्मा के सामने चिरन्तन दिवस रहता है'' (मूल० 21-ग)। अन्त में इसी भाव की पुनरावृत्ति एक बार श्वेताश्वतरोपनिषद में हुई है, जहाँ हमें यह बताया गया है कि जब आत्मज्ञानी के सामने, न दिन होता है और न रात होती है, न सत् होता है और न असत् तब उसके सामने केवल ब्रह्म होता है। और इसी प्रकार ईश्वर की सर्वव्यापकता में सबका लय हो जाने के कारण ब्रह्म का दिन और रात, सत् और असत् से परे होना प्रमाणित करती है (मूल० 21-घ)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मानुभूति का चरम

तेज और नादों के अनुभव, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है, यद्यपि वे परिपूर्ण अनुभूति के अग्रदूत कहे जा सकते हैं, तो भी वे आत्मानुभूति के चरम बिन्दु नहीं हैं। मुण्डकोपनिषद का एक बहुत प्रसिद्ध अवतरण हमें बताता है कि "आत्मा की रुचि जिसके अनुकूल होती है उसके अतिरिक्त अन्य कोई आत्मानुभूति की प्राप्ति नहीं कर सकता। ऐसे ही पुरुष के सामने आत्मा अपने मूल स्वरूप को व्यक्त करती है (मूल० 22-क)। यही ईश्वरानुग्रह अथवा पुष्टि का सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर के पूर्ण साक्षात्कार के लिए ईश्वर के अनुग्रह के बिना केवल मानवीय प्रयास सदा आदर्श से ओछे रहेंगे। जब आत्मा ही साधक को अपना परम वैभव दिखाने का विचार करती है, तभी वह उसका साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। तभी छान्दोग्योपनिषद का सूर्य पर दिखाई देने वाले सुवर्णश्मश्रु, सुवर्णकेश तथा आनख सुवर्ण तेजयुक्त हिरण्मय पुरुष का ईशोपनिषद के ऋषि की भाँति हमारी अन्तरात्मा से तादात्म्य हो सकता है" (मूल० 22-ख)। तभी जीवात्मा परमात्मा से एकरूप हो सकती है। श्वेताश्वतरोपनिषद हमें बताता है कि "जिस प्रकार एक दर्पण, जो पूर्णरूप से स्वच्छ किया जा चुका है, निर्मल तथा उज्ज्वल प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य हो जाता है, उसी प्रकार साधक योगी भी अपने को आत्मानुभव की सीमा पर देखता है और अपने प्रयासों के उद्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। पुनः, जिस प्रकार वह प्रदीप की सहायता से किसी वस्तु को देख सकता है, उसी प्रकार आत्मा की सहायता से ब्रह्म का दर्शन कर सकता है, जो अज, ध्रुव तथा सर्वतत्वातीत है। श्वेताश्वतरोपनिषद के उक्त अवतरण में अभिप्रेत आत्म-स्वरूप की कल्पना मैत्री ऋषि के उपदेश से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है, जिन्होंने अपने शिष्य को उपनिषदों का परम रहस्य सिखा दिया था, जब उन्होंने यह कहा था कि आत्मानुभूति की चरम सीमा पर योगी अपने अन्तस् से विस्फुरित होने वाले परम-तेज के प्रवाह में आत्म-स्वरूप का दर्शन करता है, जो वस्तुतः अमृत और अभय आत्मा का साक्षात्कार है" (मूल० 22-ग)।

आत्मा के विरोधों का समाधान

उपनिषदों में ऐसे अवतरण प्रचुरता से पाए जाते हैं, जिनमें प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मा के विरोधी गुणों का समाधान करने की चेष्टा की गई है। श्वेताश्वतरोपनिषद हमें बताता है कि "आत्मा न स्त्री है, न पुरुष, और न नपुंसक, जो कोई भी शरीर वह धारण करती है, उसी शरीर में वह निवास करती है" (मूल० 23-क)। ईशोपनिषद हमें बताता है कि "आत्मा चल है और अचल भी; वह दूर भी है और निकट भी; वह समस्त वस्तुओं के अन्तर्गत भी है और बहिर्गत भी।" कठोपनिषद का एक साहसिक योगी पूछता है—"आत्मा के अतिरिक्त उसका अनुभव और कौन कर सकता है जो आनन्द का उपभोग करते हुए भी नहीं करती, जो बैठक के आसन में ही चलती तथा शयन की मुद्रा में सर्वत्र विचरण करती है?" मुण्डकोपनिषद में आत्मा की असीम महत्ता और अत्यन्त सूक्ष्मता का समाधान करने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की चेष्टा की गई है : ''अचिन्त्यरूप आत्मा महान तथा दिव्य है, फिर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वह दूर से भी दूर है। फिर भी अत्यन्त निकट है, क्योंकि अन्तःकरण की गुहा में निहित है।'' इसी प्रकार कठोपनिषद का एक उद्धृत अवतरण हमें बताता है, आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान से भी महान है और हमारे हृदय के अन्तर्देश में निहित है। दूसरी ओर श्वेताश्वतरोपनिषद और कठोपनिषद में ऐसे अवतरणों का अभाव नहीं है, जहाँ आत्मा को अंगुष्ठ-मात्र आकार का तथा सूर्य के समान आलोकमय बताया गया है, अथवा सूई की नोक के समान सूक्ष्म तथा बाल की नोक के गतांश के बराबर सूक्ष्म बताया गया है (मूल० 23-ख)। यह कहने का अभिप्राय क्या हो सकता है कि आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, चल भी है और अचल भी, दूर भी है और निकट भी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है तथा महान से भी महान है, अथवा अंगुष्ठमात्र है, इसे आत्मज्ञानी ही जानते होंगे। हम, जो बाह्य निरीक्षण के आदी हैं, इसकी कल्पना नहीं कर सकते कि आत्मा की अनन्तरूपता और अनन्त-महत्ता के ये विरोधाभास कैसे सुलझाए जा सकते हैं।

आत्मानुभूति के प्रभाव से प्राप्त फल

आत्मानुभूति से सिद्ध योगी के ऊपर जो मानसिक तथा अन्य प्रभाव होते हैं, उनका विवेचन उपनिषदों में अनेक स्थानों पर किया गया है। ''जो आत्मा के साथ अपने एकत्व को पहचानता है और यह अनुभव कर लेता है कि वह आत्मा है—ऐसे पुरुष को किसी कार्य-ज्वर में क्यों प्रवेश करना चाहिए? उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं और उसका लक्ष्य प्राप्त हो गया (मूल० 24-क)। यह यही कहने के समान है कि जब पूर्ण योगी में आत्मा के साथ तद्रूपता शरीर के साथ एकरूपता का स्थान ले लेती है, तो शारीरिक सुख की समस्त वासनाओं का शीघ्र लोप हो जाता है। पुनः ''उसके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सन्देह छिन्न हो जाते हैं, उसके कर्म-फलों का नाश हो जाता है, जब वह परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है'' (मूल० 24-ख)। निस्सन्देह जो अब तक उसके मन को उद्विग्न रखते थे और वे कर्म जिनके फलस्वरूप उसे दुःख भोगने पड़ते थे, तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं और हम पूर्ण योगी को उसके एक प्रधान लक्षण से पहचान सकते हैं कि उसे समाधान करने के लिए कोई संशय शेष नहीं रह जाता। जब वह एक बार सदा के लिए सत्य का निश्चित रूप से अधिकार प्राप्त कर लेता है, तब उसके लिए और कौन-सा संशय रह सकता है? तीसरे, मुण्डकोपनिषद में हम आत्मानुभूति के पहले योगी की अक्षमता और आत्मानुभूति के बाद उसकी शक्ति का महान अन्तर देखते हैं। ''यद्यपि अब तक मोहासक्त थी तथा पूर्ण अक्षमता के कारण दुःखी थी; किन्तु जब वह एक बार सर्वशक्तिमान ब्रह्म से एकरूप हो गई तो उसका शोक तत्क्षण दूर हो गया और वह ब्रह्म की निस्सीम शक्ति की भागिनी हो गई'' (मूल० 24-ग)। तैत्तिरीयोपनिषद में उस असीम आनन्द का प्रामाणिक वर्णन मिलता है जिसका अनुभव सिद्धयोगी को ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद होता है। पिछले अध्याय में हमें आनन्द मीमांसा के प्रसंग में इसके वर्णन का अवसर मिल चुका है। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद प्रायः एक श्रृङ्गारिक रहस्यवाद के स्वर में हमें

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बताता है कि ईश्वर-साक्षात्कार की एकमात्र उपमा-निश्चय ही एक अपूर्ण तथा एक देशीय उपमा—जो हमें संसार में मिल सकती है, वह अपनी प्रियतमा पत्नी के समागम से प्राप्त होने वाला आनन्द है। ''जिस प्रकार मनुष्य को अपनी प्रियतमा पत्नी के परिरम्भण के बाद अन्तर्बाह्य की किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा के परिरम्भण के बाद समस्त बाह्याभ्यन्तर वस्तुओं को भूल जाती है, क्योंकि उसने वह लक्ष्य पा लिया जिसके अन्तर्गत समस्त लक्ष्यों का समाहार है। वस्तुतः ब्रह्म की प्राप्ति के बाद और कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता'' (मूल० 24-घ)। हम नहीं कह सकते कि यह उपमा कहाँ तक युक्ति-संगत है। किन्तु अन्त में, ऐसा प्रतीत होता है कि केवल कोटि का अन्तर होने के अतिरिक्त दोनों आनन्दों में, जिनकी तुलना बृहदारण्यकोपनिषद ने की है, एक प्रकार-भेद भी है; अथवा दूसरे आनन्द के सामने पहला आनन्द इतना तुच्छ है कि उनमें उतना ही साम्य है जितना दीपक की ज्योति और सूर्य के प्रकाश में है। पुनः ऐसी समस्त शृङ्गारिक उपमाओं में एक यह दोष होता है कि ऐन्द्रिक सुखों में प्रवृत्त रहने वाले लोग यह निर्मूल कल्पना कर सकते हैं कि वे कम से कम इस प्रकार निस्सीम परमानन्द के किसी न किसी अंश का अनुभव अवश्य कर रहे हैं। हमारी सम्मति में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का किसी प्रकार भी पत्नी और पति के सम्बन्ध के साथ साम्य स्थापित करना मूर्खता है। तथा पति और पत्नी के सम्बन्ध के साथ उसका साम्य तो और भी अधिक मूर्खता है, जैसा कि कुछ आध्यात्मिक प्रतीत होने वाले उपदेशों में किया जाता है। वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा के समाधिगत सम्बन्ध की कोई उपमा नहीं हो सकती। अस्तु, अपने विवेचन की ओर लौट कर, पाँचवें तैत्तिरीयोपनिषद में हमें बताया गया है कि ''ब्रह्मानन्द की अनुभूति का पहला प्रभाव यह होता है कि योगी एक बार सदा के लिए भय की भावनाओं से मुक्त हो जाता है। एक प्रकार की वृत्ति दूसरे प्रकार की वृत्ति का नाश कर देती है और आनन्द का भाव अन्य समस्त वृत्तियों का नाश कर देती है। ऐसा सिद्धयोगी किसका भय करे और किसलिए, जब कि वह सर्वत्र और सब काल अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।'' तैत्तिरीयोपनिषद का कथन है कि ''वह निर्भय हो जाता है क्योंकि वह अदेह, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय तथा सबके निरालम्ब, आश्रय ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है'' (मूल 24-ङ)। अन्त में, हमें बताया गया है कि ''यदि योगी को किसी लक्ष्य की पूर्ति की आवश्यकता भी पड़े, तो उसे आत्म की सेवा में उपस्थित होना चाहिए और नितान्त निरहंकार भाव से अपनी इच्छा की पूर्ति की प्रार्थना करनी चाहिए, तो तत्क्षण ही उसकी वह इच्छा पूर्ण होगी, जिसके लिए उसने आत्मा से प्रार्थना की है'' (मूल० 25-क)। छान्दोग्योपनिषद का कथन है कि ''आत्मा निष्पाप, अजर, अमर, अभय, क्षुत्पिपासारहित तथा सत्य-संकल्प है। इसी आत्मा की खोज करनी चाहिए; इसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जो आत्मा के अन्वेषण द्वारा उसके इस स्वरूप का अनुभव कर लेता है, उसे समस्त लोकों की प्राप्ति हो जाती है और उसकी समस्त वासनाओं की तृप्ति हो जाती है'' (मूल० 25-ख)। मुण्डकोपनिषद भी हमें बताता है कि ''मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर सकता है और वह चाहे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिस लोक की प्राप्ति कर सकता है, यदि वह केवल आत्म-ज्ञानी योगी की सेवा तथा उपासना करता रहे'' (मूल० 25-ग)। सारांश में, इस प्रकार हम देखते हैं कि योगी पर आत्मानुभूति का तात्कालिक प्रभाव, शारीरिक उद्वेगों का पूर्ण उपशम, समस्त संशयों का समाधान, अनन्त शक्ति की प्राप्ति, अपरिमित आनन्द का उपभोग, सम्पूर्ण भय का नाश तथा प्रत्येक वांछित फल की प्राप्ति है।

परमानन्द

उपनिषदों में हमारे लिए कुछ आत्मज्ञानियों के स्वागतभाषण सुरक्षित हैं, जिनमें आत्मानुभूति के परमानन्द का सार है। जब मुण्डकोपनिषदकार को शाश्वत ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया, तो उसके हृदय में परमानन्द का उद्रेक होने लगा, जब उसने देखा कि ''उसके सामने ब्रह्म है, उसके पीछे ब्रह्म है, उसके दायें ब्रह्म है, उसके बायें ब्रह्म है, उसके नीचे ब्रह्म है, उसके ऊपर ब्रह्म है,'' और वह लाइब्नीज (Leibnitz) के इस उद्‌गार में फूट पड़ा कि ''यह समस्त सम्भाव्य लोकों में सर्वोत्तम है'' (मूल० 26)। वह इस संसार में जन्म लेने के लिए अपने को भाग्यशाली समझने लगा, क्योंकि क्या यह उसके भूमण्डल पर प्रकट होने के कारण नहीं था कि वह समुचित साधनों के अवलम्बन से क्रमशः एक-एक सोपान बढ़कर इस स्थिति तक पहुँच सका कि जिधर दृष्टि डालता है उधर ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं? बृहदारण्यकोपनिषद के वामदेव ऋषि को ज्ञात हुआ कि ''जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म को स्वानुभूति प्राप्त हुई, तब उसे जान पड़ा कि वस्तुतः सब कुछ वही था, उसी प्रकार देवताओं, मनुष्यों और ऋषियों में जो भी आत्मानुभूति को प्राप्त कर लेता है, वह वस्तुतः सर्वमय हो जाता है और इस प्रकार उस ऋषि के मुख से, जिसके लिए अनन्त अतीत शाश्वत वर्तमान के समान था, यह उद्‌गार निकल पड़ा कि ''यह वही था, जो मनु के रूप में महाराष्ट्रीय सन्त तुकाराम की भाँति जिन्होंने अर्वाचीन युग में यह उद्‌गार प्रकट किया था कि प्राचीन कला में जब शुक आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए पार्वत्य प्रदेश में गए थे, तो वह उस समय उनकी समाधि के महान वृत्त को देखने के लिए, यदि इस शरीर से नहीं, तो आत्म-रूप में अवश्य उपस्थित थे। छान्दोग्योपनिषद का योगी यह घोषणा करता है कि जिस प्रकार एक अश्व अपने अयाल गिरा देता है, उसी प्रकार वह अपने समस्त पापों से मुक्त हो चुका है, तथा जिस प्रकार राहु-ग्रस्त होने के उपरान्त चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण छटा के सहित उदय हो जाता है, उसी प्रकार उसने अपने शारीरिक बन्धन से मुक्त होकर आत्मा के रूप में शाश्वत जीवन प्राप्त कर लिया है'' (मूल० 28)। पुनः तैत्तिरीयोपनिषद में त्रिशंकु के उद्‌गार भी अपनी उदात्त भावनाओं के लिए स्मरणीय हैं। जब त्रिशंकु को आत्म-साक्षात्कार हो गया, तो वे हमें बताते हैं कि, वे ऐसा अनुभव करने लगे कि मानो वे ''वृक्ष के संचालक हैं।'' यह कौन-सा वृक्ष है, जिसकी ओर त्रिशंकु का संकेत है? यह शरीररूपी वृक्ष हो सकता है अथवा यह संसाररूपी वृक्ष हो सकता है। उपनिषदकारों तथा परवर्ती शास्त्रकारों ने शरीर और संसार की वृक्ष से प्रायः उपमा दी है। वस्तुतः त्रिशंकु आगे चलकर बताते हैं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि उनकी कीर्ति पर्वत-पृष्ठ की भाँति हो गई, जो यही कहने के समान है कि जब उन्हें आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो गया तो उन्हें आत्मा के उत्तुंग शिखर से प्रत्येक वस्तु इतनी तुच्छ ज्ञात होने लगी कि वे अपने को प्रत्येक वस्तु के शिखर के ऊपर अनुभव करने लगे। त्रिशंकु आगे चलकर हमें बताते हैं कि ''वह उद्गम जिससे उनका जन्म हुआ है, परम पवित्रता है। क्या इसका लक्ष्य दिव्य-जीवन की ओर नहीं हो सकता, जिससे अखिल विश्व की सत्ता का उद्भव होता है। पुनः त्रिशंकु हमें बताते हैं कि वह मानो ''सूर्य में विराजमान अमर पुरुष थे, जो ईशावास्योपनिषद के अनुकूल जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का अभिव्यंजक है और भी आगे त्रिशंकु का कथन है कि वे अपने को 'अपरिमित निधि' समझते थे; सम्भवतः इसका संकेत आत्मानुभव की अपरिमित निधि की ओर हो, जिसे वे प्राप्त कर चुके थे। अन्त में, वे हमें बताते हैं कि वे वस्तुतः ज्ञानी अमर और अक्षर पुरुष हैं, और इस प्रकार ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर देते हैं'' (मूल० 29)। अन्त में, वह महायोगी जिसका समाधि के उपरान्त उद्वेलित हुआ उद्गार हमारे लिए तैत्तिरीयोपनिषद में सुरक्षित है, हमें एक अवतरण में, जो उपनिषदीय तथा परवर्ती वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय तथा आनन्दमय आत्मा की भावना के एकान्त में परम शान्ति में संस्थित होकर विश्व-व्यापक एकत्व का स्वर्गीय संगीत गा उठा ''कितना आश्चर्य है, कितना आश्चर्य है, कितना आश्चर्य है। मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं अन्न भोक्ता हूँ, मैं अन्न भोक्ता हूँ, मैं अन्न भोक्ता हूँ। मैं उनके एकत्व का विधायक हूँ।'' ये उद्गार तात्विक दृष्टि से यही अर्थ रखते हैं कि वही जड़ पदार्थ है, वही चैतन्य है और वही दोनों को सम्बद्ध करने वाली अन्तःशृंखला है, तथा ज्ञान-शास्त्र की दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय तथा समस्त ज्ञाता और श्रेय का सम्बन्ध है—यह आध्यात्मिक अनुभूति की वह श्रेणी है जहाँ पहुँचकर योद्धा और युद्ध का अन्तर मिट जाता है। वह एकत्व इसी प्रकार के आध्यात्मिक उद्गारों का स्मरण दिलाते हैं, ''मैं धर्म का प्रथम पुत्र हूँ, देवताओं से भी ज्येष्ठ हूँ, मैं अमरत्व का नाभि-केन्द्र हूँ; वह जो मुझे आत्मसमर्पण करता है, मुझे प्राप्त कर लेता है, मैं सूर्य के आलोक के समान दिव्यालोक से अखिल विश्व को परिवेष्टित किए हुए हूँ'' (मूल० 30)। (आधार ग्रन्थ—उपनिषद-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

5

रहस्यवादी दृष्टिकोण : एक विवेचन

एस० राधाकृष्णन्

मनुष्य जाति की सबसे बड़ी उपलब्धि है संवेदना और सहानुभूतियुक्त उच्चतर मानव और श्रेष्ठतर आध्यात्मिक बनाना। वर्तमान युग में तनाव, उलझन और भय का साम्राज्य है, अतः मानव-हृदय में यह अभीप्सा प्रबल हो उठनी स्वाभाविक है कि वह मानवसुलभ श्रेष्ठताओं को कैसे प्राप्त करे।

जीवन-पद्धति के रूप में धर्म का प्रयोजन चिरन्तन सत्ता की खोज है। धर्म का प्रारम्भ हमारे जीवन में तब होता है जब हम यह जान जाते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे ही निमित्त नहीं है। हमारे इस जीवन से भी बृहत्तर जीवन है जो हमसे अभिन्न है और वही हमारा पोषक भी है। जो धर्म इस महत्तर आत्मा के लिए मनुष्य के शोध का साधन बन चुका होगा, वह किसी भी मत या वाद को अपने में पूर्ण या किसी भी नियम को अन्तिम निर्देश नहीं मानेगा। वह विकासशील और प्रगतिशील होगा। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन न केवल महान धार्मिक उपदेष्टा और मानव जाति के अग्रणी लोग करते हैं, अपितु साधारण जन भी करते हैं जिनके अन्तरकूप की गहराइयों में आत्मा का अस्तित्व है। धर्म में भी कुछ बाह्याचारों की आवश्यकता रहती है। वह एक ऐसी पद्धति है जिसमें नियन्त्रणों और आश्वासनों को स्थान प्राप्त है, किन्तु आध्यात्मिकता आत्मा को जानने, उसी में निरत रहने तथा सम्पूर्ण जीवन को उसके अंगों-उपांगों सहित श्रेष्ठ बनाने की आवश्यकता पर बल देती है। आध्यात्मिकता धर्म का मर्म और आन्तरिक सार है। रहस्यवाद धर्म के इसी पक्ष को महत्व देता है। रहस्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसको न तो हेतुवादी पसन्द करते हैं न कट्टर धर्मशास्त्री। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो वस्तुओं को अस्पष्ट रूप से एक स्वर्णिम या भावुकतापूर्ण कुहासे में आवृत्त करके देखना चाहती है। यह संसार के रहस्यमय स्वरूप की स्वीकृति मानी जा सकती है। रहस्यवाद ईश्वर की व्यक्तिगत अनुभूति और सृजनात्मक आत्मा के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क पर बल देता है। पाश्चात्य चिन्तक बर्गसन ने इसे 'खुला धर्म' कहा है।

रहस्यात्मक अर्थ में धर्म विवेकबुद्धि का अनुमान-मात्र नहीं है, न वह पराश्रयता की अनुभूति या व्यवहार की एक पद्धति ही। यह शाश्वत निश्चयता की तार्किक माँग को, प्रशान्ति की सौन्दर्यात्मक लालसा को और पूर्णत्व के लिए नैतिक अभिलाषा को सन्तुष्ट करता है।

सभी मनुष्यों की आत्मा आन्तरिक रूप से समान है, इसका यह अर्थ नहीं कि सबके रहस्यात्मक अनुभव भी एक समान हों। उनमें व्यक्तिशः कुछ अन्तर होते हैं।

रहस्यवाद प्राकृतिक जीवन तथा एक अतीन्द्रिय परमसत्ता की स्वीकृति, उसकी अभिव्यक्ति के रूप में मानव व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा इतिहास के लक्ष्यरूप में मानव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाति की एकता है। यही प्रमुख धर्मों का आधार है। आत्मा का धर्म इन मूलभूत सत्यों की फिर से पुष्टि करता है। यह ऐसा धर्म है जो जाति, समुदाय को पार कर जाता है किन्तु इतने पर भी सब जातियों और सम्प्रदायों को अनुप्राणित करता है। जिस धर्म को हम मानते हों, उसे ऐसा श्रेष्ठ रूप दे सकते हैं कि वह आत्मा के धर्म की पंक्ति में आ सके। मैं मानता हूँ कि हरेक धर्म में ऐसे ऊर्ध्व रूपान्तरण की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। इन सम्भावनाओं को ईश्वरीय रहस्योद्घाटन के अंशरूप में देखना चाहिए जो समय पाकर एक बृहत्तर आत्मधर्म में परिवर्तित हो जाए, यही हमारा लक्ष्य हो। यह धर्म जीवन के स्थूल और क्षणिक सुख-भोग से इसलिए दूर-दूर भागता है तथा उन्हें अस्वीकार करता है, क्योंकि वह उनसे भी परे एक अनन्त आनन्दमय जीवन का अनुभव करना चाहता है।

मनुष्य एक चिन्तनशील और आध्यात्मिक प्राणी है जो अपनी प्रकृति को उच्चतर प्रयोजनों की सिद्धि के लिए नियोजित करता है। ईश्वर, आत्मा तथा जगत ये ही तीन तत्त्व हैं जो सत्य तो हैं, फिर भी अत्यन्त रहस्यमय हैं और इन तीनों के तात्विक विवेचन व इनके बीच के सनातन रागात्मक बन्धन को अनुभूत कर एकता, साहचर्य व विश्वबन्धुत्व की भावना को जगाना ही वस्तुतः सभी दर्शनों का मूल है। प्राच्य व पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न शाखाओं और प्रशाखाओं के संस्थापकों व प्रचारकों की मूल चेतना का विश्लेषण करने के बाद मैं इस बात पर बल देना चाहूँगा कि प्राच्य और पश्चिमी धर्मों के मिश्रण से अनुपम सौन्दर्य और प्राचुर्य का ऐसा फूल खिल उठे जो दिग्दिगन्त को सुरभित करते हुए मानव-जीवन को जीने के योग्य बनाए। आज के युग को एक ऐसे राज्य की आवश्यकता है जो इस भौतिक जगत का नहीं है, जहाँ मांस-मदिरा खाने-पीने का नाम ही जीवन नहीं है, वरन जहाँ जीवन का अर्थ है न्यायनिष्ठा, शान्ति और आनन्द। ये तत्त्व रहस्यवादी साधना के उपासक को ही उपलब्ध हो सकते हैं।

रहस्यवाद का उद्गम-स्थल भारत, इसको अब प्रायः सभी विचारकों ने स्वीकार कर लिया है, भले ही इसका प्रयोग आधुनिक युग में मिस्टिक के पर्यायवाची रूप में क्यों न किया गया हो। श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक में कहा गया है कि इस संसार की जड़ें आकाश में और शाखाएँ पृथ्वी की ओर फैली हुई हैं। ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्। इस प्रकार अदृश्य जगत के प्रति दृश्य जगत की रागात्मक चेतना व उसकी प्रतीति ही रहस्यवाद को जन्म देती है।

डायोनिसस के शब्दों में परमात्मा से आत्मा का अत्यन्त गुप्त वाग्विलास ही रहस्यवाद है। इसमें आत्मा एवं परमात्मा के बीच के अंतरंग गुह्य सम्बन्धों की अनुभूति को महत्व दिया गया है। छांदोग्योपनिषद् में आत्मा और परमात्मा की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है—तत्सत्यं से आत्मा तत्वमसि (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है)। नव अफलातूनी (Neo platonist) दार्शनिकों का कहना है कि आत्म-साधना की अन्तिम अवस्था में आत्मा स्वयं अपने विराट रूप को प्रकाशित करती है। आइन्स्टीन ने इसी बात को इस प्रकार कहा है : सबसे सुन्दर वस्तु, जिसका अनुभव हम कर सकते हैं, रहस्यमय है। यह वह आधारभूत मनोभाव है जो सच्ची कला और सच्चे विज्ञान के पालने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में झूलता रहता है। जो उसे जानता नहीं, वह उस पर विस्मय नहीं कर सकता, उससे चकित नहीं हो सकता, वह मृतप्राय है। दीपक की दग्धवर्तिका के समान। हमारा सब कुछ आत्मदर्शन की वेदी पर समर्पित हो जाना चाहिए। सब कुछ खोकर ही सब कुछ पाया जा सकता है। शून्य होकर ही पूर्ण हुआ जा सकता है। सर्व अस्तित्वशाली परमात्मा को पाने के लिए अकिंचन बनना पड़ता है। जब हम सत्य रूप परमेश्वर को अपने ही हृदय में प्राप्त कर लेते हैं तब हमारा हृदय आनन्दातिरेक से झूम उठता है और हममें नम्रता आ जाती है। इस चिरन्तन ज्ञान दीप्ति की स्मृति का प्रभाव चिरस्थायी होता है और हमारे अस्तित्व का पुनर्नवीकरण आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पवित्र और उमंग भरे प्रेम से आत्मा का परमात्मा में गमन ही रहस्यवाद है। रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का वह सांकेतिक कथन है जिसके मूल में अखण्डानुभूति और तत्वानुभूति निहित है। आत्म साधना की अन्तिम अवस्था में आत्मा स्वयं अपने विराट रूप को प्रकाशित करती है। यह अन्तर्मुखी साधना है। यूनानी दार्शनिक प्लाटिनस और प्रौक्लस मानते हैं कि जिसकी आत्मा अपने भीतर ही सिकुड़ जाती है वही आत्मतत्व की प्राप्ति कर सकता है। जब मन एकान्त चिन्तन में निष्क्रिय होता है तभी उसे अपने भीतर दैवी पूर्णता की अनुभूति होती है और उसे एक परम ज्योति का साक्षात्कार होता है और इस आनन्दावस्था में व्यक्तित्व, स्मृति, काल, देश, प्राकृतिक विरोधों और बौद्धिक विषमताओं का लोप हो जाता है। आत्मदर्शन और आनन्द की स्थिति में वह अनुभूत विषय के प्रति कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं होता। क्योंकि जो अनुभूत करता है वह व्यक्त नहीं कर सकता और जो व्यक्त करता है उसे उसकी अनुभूति हो ही नहीं सकती है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेध्या न बहुना श्रुतेन।' डायोनिसस के गुरु हीरोथियस भी मानते हैं कि मुझे तो बिना शब्दों के बोलना और बिना ज्ञान के समझना अच्छा और सही जान पड़ता है। इसको मैं और कुछ नहीं, गुह्य मौन और रहस्यात्मक निर्विकारता समझता हूँ जो चेतनता को नष्ट कर देती है और रूप को विलीन कर देती है। इसलिए मौन रहकर और रहस्यात्मक ढंग से ईश्वर (आर्कगुड) के साथ पूर्ण और आद्य एकता प्राप्त करने की चेष्टा करो। वस्तुतः अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध स्थापित होने की प्रक्रिया में मौन-मूक आस्वादन विरह-वेदना के माध्यम से अत्यन्त ही गूढ़ हो गया है। वेदों में रहस्यमय अद्वयात्मक तत्व का विभिन्न स्थलों में विंभिन्न प्रकार से संकेत मिलता है। उपनिषदों के ऋषियों, आगमवादियों, टीकाकारों, योगियों और सिद्धों ने इस अद्वैत आनन्द को विभिन्न रूपों में विकसित किया है। व्यास, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामकृष्ण परमहंस, बौद्धधर्म, जैनधर्म व अन्य सभी दर्शनों के व्याख्याकारों ने परमतत्व की रहस्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति को अलग-अलग तरीके से स्पष्ट करने की चेष्टा की है किन्तु सबमें एक आश्चर्यजनक समता देखने को मिलती है, क्योंकि मनुष्यों की आत्मा, जाति, प्रदेश या आयु से निरपेक्ष तत्वतः समान है। सबमें पुण्यता, विद्वत्ता, आत्मा की पवित्रता और अनुभूति की प्रखरता सामंजस्यपूर्ण एकत्व में घुलमिल गई है। रहस्यवाद में सब कालों और स्थानों में एक अनूठी एकरूपता पाई जाती है। सभी देशों और कालों के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवादियों ने परमात्मा के साथ आत्मा के सम्मिलन की बात को एक जैसी अभिव्यक्ति प्रदान की है, चाहे वे रहस्यवादी नवप्लेटोवादी हों, चाहे कोई मुसलमान सूफी सन्त हों, चाहे कोई कैथोलिक पादरी हों या कोई (क्वैकर) सोसाइटी ऑफ फ्रैण्ड्स के सदस्य हों। रहस्यवाद धर्म का स्पन्दनशील हृदय है। उसका उद्गम चर्चो (धार्मिक सम्प्रदायों) को विभाजित करने वाले मतभेदों तथा इतिहास के युगों को विभाजित करने वाले सांस्कृतिक परिवर्तनों के उद्गमों से कुछ अधिक गहराई में से होता है। रहस्यवाद के हिन्दू, पारसी और ईसाई रूपों में बहुत सी समानताएँ हैं क्योंकि सबका विकास एक जैसा ही हुआ है। सूफियों के रहस्यवाद में मुहम्मद की खुदा में पैगम्बरी आस्था तो है ही, किन्तु उसके साथ उसमें वेदान्त का ज्ञान और योग की आध्यात्मिक साधना भी है। उसी प्रकार ईसा में ईश्वरत्व को माननेवाले ईश्वर के लोगस (शब्दब्रह्म) के अनुयायी शिवत्व का शक्ति रूप मानते हैं। इन्द्रियों के विषयों से अनासक्ति, बुद्ध से पृथक्करण और अहं का उन्नयन। फिलों की विचारपद्धति में ऐतिहासिक जूडावाद को रहस्यवादी रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। ईश्वर के प्रति उसकी उत्कट लालसा, यह निश्चयात्मकता कि विशुद्धहृदय व्यक्ति ईश्वर का दर्शन करेगा, यह दृढ़ विश्वास कि तपश्चर्यापूर्ण जीवन होने पर ही हम ईश्वर के सम्मुख पहुँच सकते हैं और उसकी सार्वजनीनता एवं एकेश्वरवाद की भावना उसे संसार का महानतम रहस्यवादी बना देती है। निर्गुण और सगुण का भेद सभी रहस्यवादी धर्मों में पाया जाता है, चाहे वे प्राच्य हों या पाश्चात्य। यदि शंकराचार्य ब्रह्म और ईश्वर में भेद करते हैं, तो एकहार्ट गॉडहेड (Godhead) और गॉड (God) में भेद करते हैं। वस्तुत: नि:संग आत्मा ही जीवन के रहस्य को समझकर धर्म को जन्म देती है। सिनाई पर्वत की निर्जनता में मोजेज को, बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बुद्ध को, जॉर्डन नदी के तट पर प्रार्थना की नीरवता में ईसा को, रेगिस्तान के एकान्त प्रवास में पॉल को, मक्का के एक निर्जन पर्वत पर मुहम्मद को और अलवेनों के पर्वतीय प्रदेश की एक खुरदरी चट्टान पर प्रार्थनारत अस्सीसी के फ्रैंसिस को दिव्यशक्ति और आश्वासन की जो उपलब्धि हुई थी उसी से वे नवमानवता के अग्रदूत बने। डॉ० श्वेटजर, हेलर, कार्ल वार्थ एवं अन्य विचारक रहस्यवाद की अपेक्षा पैगम्बरी धर्म को महत्व देते हैं। जर्मन तत्वज्ञ हेलर का कहना है कि पैगम्बरी धर्म में पाया जाने वाला आत्मिक अनुभव जीवन की अदम्य इच्छा का प्रतिरूप है। वह जीवन की अनुभूति के आग्रह, सम्पुष्टि और संवर्द्धन के लिए एक सतत अन्त:प्रेरणा है। रहस्यवाद निष्क्रिय, शान्त, विरक्त और मननशील है। पैगम्बरी धर्म सक्रिय, अनुरक्त, कामनाशील और नैतिक है। इतना ही नहीं, वे रहस्यवादी धर्म को स्त्रियोचित प्रकृति का धर्म मानते हैं जिसमें उत्साहप्रद आत्मसमर्पण, अनुभूति की सूक्ष्म संवेदनशक्ति, कोमल सम्बन्धबोधकता दिखाई देती है जबकि पैगम्बरी धर्म को पुरुषोचित प्रकृति का मानते हुए उसमें नैतिक कठोरता, निर्भय दृढ़संकल्पता, परिणाम के प्रति उपेक्षा तथा प्रबल क्रियाशीलता का पक्षधर सिद्ध करते हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् इन सभी मतों का यथार्थपरक व सार्वभौमिक विश्लेषण करते हुए यह मानते हैं कि रहस्यात्मक नकारात्मक आध्यात्मिकता हमें अन्तिम गहराई के नजदीक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ले जाती है। हर स्तर पर अनुभव अपने उच्चतम स्तर पर पहुँच जाए तभी जीवन की पूर्णता है। तभी हम अन्धकार से प्रकाश की ओर जाते हैं। हर धर्म का प्रवर्तक जब अन्तरात्मा की गहराई को पहचान लेता है तो एक नए पथ का मार्गनिर्देशन करता है। बुद्ध और जीसस दोनों ही मानवता के उद्धारक हैं, उन्होंने हमें एक नया जीवन दिया है। हम जिन स्वाभाविक अपूर्णताओं के कारण जीवन ग्रहण करते हैं उससे अगर ऊपर उठ जाएँ तो मौलिक स्थिति को प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं और चरम आनन्द में डूब सकते हैं। यह ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राप्त की जाए। यह तो प्रकृति से ही सबको प्राप्त है। जिस आत्मा ने अपने को पा लिया है वह समस्त प्राणिजगत के साथ अनिवार्य एकता का अनुभव करने लगती है। इन शब्दों में कि तू मुझमें है, और मैं तुझमें। प्लेटो भी शाश्वत जीवन का वर्णन करते हुए कहता है कि जब आत्मा अपने आत्मस्वरूप में लौट आती है और ध्यानस्थ होती है तब यह एक दूसरे ही क्षेत्र में चली जाती है। वह क्षेत्र शुद्ध, नित्य, अमर तथा अपरिवर्तनीय होता है। वहाँ रहते हुए आत्मा अनुभव करती है कि मानो वह अपने ही सगोत्र लोगों के बीच हो, वहाँ वह अपने ही नियन्त्रण में रहती है और उसे अपने भटकने से विश्राम मिल जाता है।

राधाकृष्णन् मानते हैं कि धर्म का इतिहास परस्परविरोधी प्रणालियों के संघर्ष का इतिहास है। मानवीय आत्मा की गहराइयों में एक जैसी वस्तु रहती है, जिसे हम सत्य की खोज, न्याय की माँग और सत्याचरण की उत्कण्ठा कह सकते हैं। जीवन के प्रति निष्ठा और वफादारी का तकाजा है कि हम सृजनकारी रहस्यमय शक्ति को जानें और अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करें। वेद के इन तीन शब्दों तत्त्वमसि में अध्यात्म और नैतिकता का निचोड़ आ जाता है। भौतिक प्राणी होते हुए भी आध्यात्मिक प्राणी के रूप में अपने को विकसित कर लेना मानवीय विकास की उच्चतम उपलब्धि है। यहाँ धर्म और आध्यात्मिकता में अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। धर्म कुछ बाह्याचारों की आवश्यकता समझता है जिसमें नियन्त्रणों और आश्वासनों को स्थान प्राप्त है, जबकि आध्यात्मिकता उच्चतम आत्मा को जानने, उसी में निरत रहने तथा जीवन को उसके अंगों, उपांगों सहित उच्च बनाने की आवश्यकता पर बल देती है। आध्यात्मिकता धर्म का मर्म और आन्तरिक सार है। रहस्यवाद धर्म के इसी पक्ष पर बल देता है। रहस्यवाद प्रकृतिवाद और धार्मिक रूढ़िवाद के विपरीत है, क्योंकि प्रकृतिवाद जहाँ ईश्वर के अस्तित्व को ही स्पष्टत: अस्वीकार करता है, वहाँ धार्मिक रूढ़िवाद ऐसी बातें करता है मानो वह ईश्वर के विषय में सब कुछ जानता हो।

राधाकृष्णन् ने ग्रीक, रोमन, हिब्रू और भारतीय परम्परा की दार्शनिक विचारधारा का विश्लेषण करते हुए जहाँ उनकी विशेषताओं को व्याख्यायित किया है, वहीं उनके तर्कयुक्त वैज्ञानिक परीक्षण को समन्वयवादी दृष्टिकोण से मानवीय होने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है। पाइथागोरस, प्लेटो, आर्फियाइयों और नवप्लेटोवादियों की विचारधारा में रहस्यवादी तत्त्व नहीं पाए जाते, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ किसी भी प्रकार से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यूनानी विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। पिण्डार और पेरिक्लीज, थूसिडिजीज और सुकरात जो सर्वोत्तम यूनानी प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करते हैं, कला और विज्ञानविषयक अपने दृष्टिकोण, नागरिक जीवन और उसकी उच्चाकांक्षा सम्बन्धी अपनी धारणाओं के कारण अनिवार्यतः मानववादी विचारक थे। जीवन की सच्चाइयों को युगीन सन्दर्भ से संयुक्त कर ही हम उसकी महत्ता को समझ सकते हैं। राधाकृष्णन् अपनी पुस्तक 'एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ' में स्पष्ट करते हैं कि उनकी मुख्य रुचि जीवन और उसकी समस्याओं में है, नैतिक व ब्रह्माण्डीय निर्णय के प्रश्नों, कारण, कार्य, अन्तरिक्ष व काल के प्रति उतनी नहीं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का क्रम अनन्त काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। नवीन सृष्टि विश्व इतिहास का पहला पड़ाव होती है। वर्तमान संसार अव्यवस्थित और अशान्त है, उसकी आस्थाएँ आज इतनी डिग गई हैं कि सामान्य जनता यह महसूस करने लगी है कि धन्य हैं वे गर्भ जिन्होंने कभी प्रसव नहीं किया और धन्य हैं वे स्तन जिन्होंने अपना दूध किसी को नहीं पिलाया। यह मानवता के लिए एक चुनौती है। मनुष्य के यान्त्रिक कौशल के कारण आज संसार एक घनिष्ठ इकाई में परिणत हो गया है परन्तु इसको आध्यात्मिक आधार तो तभी मिल सकता है जब संसार में पाए जाने वाले नाना प्रकार के मतों, सम्प्रदायों और धर्मों में एक व्यापक संश्लेषण ला दिया जाए। आज आवश्यकता है ऐसे व्यक्तियों की जो आगे बढ़कर धार्मिक और राजनीतिक उन्मादों एवं कठमुल्लेपन का खुला विरोध करें। और हर प्रकार के मानसिक एवं नैतिक अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठा सकें और तीखी राष्ट्रीय भावना के स्थान पर उदार विश्व बन्धुत्व की भावना को पनपाएँ, तभी मानवता रूपान्तरित होगी, तभी उसका उद्धार और पुनर्जन्म होगा तथा नए सिरे से संसार की रचना होगी। संसार का यही प्रारब्ध है, यही परम आध्यात्मिक आदर्श है जो गम्भीरतम सर्जनात्मक शक्तियों को प्रोत्साहित करेगा। यह शुष्क तर्कजाल में उलझने से हमें बचाएगा, रचनात्मक लालसाओं के द्वारा हमें प्रेरणा प्रदान करेगा और मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से हमें ऐक्यबद्ध कर विश्वात्मा का साक्षात्कार कराएगा। आइन्सटीन ने इसे वैश्विक धार्मिक संवेदना कहा है, वहीं प्रसिद्ध वैज्ञानिक पाल डेविस ने अपने ग्रन्थ 'द माइण्ड ऑफ गॉड' में लिखा है : The mystical path seems to involve little more than an inner sense of place/a compassionate, joy full of stillness that lies beyond the activity of busy minds.

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

6

रहस्यवाद का रहस्य और ज्योतिवाद

शुकदेव सिंह

'रहस्यवाद' भारतीय भाषाओं का अत्यन्त प्रचलित शब्द है। सम्भवत: इसे अंग्रेजी के मिस्टिसिज्म (Mysticism) के अनुवाद या पर्याय के रूप में प्रचलित किया गया है। शब्द चल गया तो किसी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि मिस्टिसिज्म (Mysticism) या रहस्यवाद की वास्तत्रिकता क्या है ? भारतीय विद्या में ज्ञान काण्ड से इसका क्या सम्बन्ध है और क्या नहीं है ? सृष्टि-रहस्य, ईश्वर, ब्रह्म, माया, जीव-जगत से सम्बन्धित चिन्तन को प्राय: रहस्यवादी विवेचना के भीतर विश्लेषित किया जाता है। यह प्रक्रिया प्राय: एक सौ वर्ष पुरानी है। मिस्ट (Myst) 'कोहरा' या 'झिलमिलाते अन्धकार' या 'प्रकाश' से भारतीय ज्ञान-काण्ड का क्या सम्बन्ध है ? इस पर सोचना भी बन्द है। रहस्यवाद शब्द को अभिधान या 'संज्ञा' या 'नाम' की प्रतीकात्मक रूढ़ि में व्यक्त करते हैं फिर भी 100 वर्ष पुराने इस कोहरे की बात पर बातचीत की आवश्यकता है। वास्तव में 'अन्धेरे का कोहरा' या 'उजाले का कोहरा' अर्थात्—'अमाक्षपा' का झिलमिल कुहासा 'पूर्णिमाक्षपा' का झिलमिल कुहासा दोनो समान हैं। यूरोप जैसे ठण्डे देशों में चाँदनी; शुक्ल-पक्ष, सुदी का भी कोहरा होता है और कृष्णपक्ष-बदी का भी कोहरा होता है। वहाँ के चिन्तन की मुख्य प्रवृत्ति कोहरा हटाने की होती है। यह अदृश्य, मात्रिका-विद्या से सम्बन्धित हो, या रूढ़ि प्राप्त प्रतीकबद्ध संख्याओं से सम्बन्धित हो, सारा चिन्तन उनके लिए मिस्टिक (Mystic) है। यूरोप के चिन्तन में मिस्टिक (Mystic) शब्द का प्रयोग अस्पष्ट, अपरिभाषित और आध्यात्मिक तीनों के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग दर्शन की मीमांसा, साहित्य का विवेचन और प्रकृति, विकृति, संस्कृति तीनों की समीक्षा के लिए भी किया गया है। अंग्रेज सत्ता के भारतवर्ष में स्थापन के आरम्भ में बंगाल और महाराष्ट्र में जो शिक्षित ब्राह्मण वर्ग या विद्वत्-समाज खड़ा हुआ वह विदेशियों की सख्ती से उतना अपवित्र नहीं हुआ, न उनके शोषण से ही विचलित हुआ। यह विद्याव्यसनी-समाज पश्चिमी-विद्या, जीवन-शैली और ज्ञान-मीमांसा से अधिक प्रभावित हुआ। सूरत और कलकत्ता में केवल विदेशी कपड़े और विलास सम्बन्धी सामग्री ही नहीं आती थी, किताबें भी आती थीं, जिनका पहला पाठक महाराष्ट्र और बंगाल का पण्डित होता था। इसी तरह समुद्र-तट पर दक्षिण में भी अन्य संसाधनों के साथ किताबें भी आती थीं। इसलिए अधिकांश महत्त्वपूर्ण चिन्तक या तो महाराष्ट्र में हुए या बंगाल में, या मुख्यत: तमिलनाडु में। इन तीनों हिस्से के जागरूकों में ज्ञानसम्बन्धी चिन्ता के लिए मिस्टिक, मिस्टिसिज्म और रहस्यवाद शब्द चलने लगे। जबकि अध्यात्म और अध्यात्मवाद जैसे शब्द हमारे यहाँ थे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बाद में साहित्यिक क्षेत्र में रोमांटिक पोयट्री, शेली, कीट्स आदि का साहित्य और उससे सम्बन्धित मीमांसा भी इस देश में आई और संयोगवश रोमांटिक कविताओं में यदि कुछ अस्पष्ट, अमूर्त, सांकेतिक था तो उसे रहस्यवाद ही कहा गया। दक्षिण से लेकर उत्तर तक साहित्यिक क्षेत्र में रहस्यवाद शब्द चल पड़ा। अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, माइकल मधुसूदन दत्त, काजी नजरूल इस्लाम, बाद में सरोजिनी नायडू और इसी राग रंग के विभिन्न भारतीय भाषाओं के कवि और उनके साहित्य-कर्म को रहस्यवादी कहा गया। इनकी सृष्टि-सर्जना में विदेशी मिस्टिक तत्त्व था भी, जो कभी-कभार बाउलों, अलवारों, महाराष्ट्र और उत्तर भारत के सन्तों और सिद्धों के काव्य से जुड़ जाता था। कोई आध्यात्मिक आभा थी जो पश्चिमी रहस्यवाद से संवाद करती हुई दिखाई पड़ती थी। इसलिए ऋषियों, मुनियों के प्रकाशवाद, सन्तों के ज्योतिवाद, और पश्चिमी दार्शनिकों और कवियों के रहस्यवाद में 'जोगजुगति' बैठ गई। शब्द को चलना था, चल गया। हम इसे खोटे सिक्के का चलन ही मानते हैं। इसके महत्त्व को अंगीकार करते हुए इसकी सूक्ष्म मीमांसा की आवश्यकता है।

वेदों के कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड के साथ ज्ञानकाण्ड का जो विकास हुआ उसी का क्रमशः विकास उपनिषदों, वेदान्त और अनेक आस्तिक भारतीय दर्शनों में भी हुआ। ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित जिज्ञासाएँ और जिज्ञासाओं का मण्डन या विवेचन भारतीय दर्शनों में हुआ है। इसकी मूल धारणा अन्धकार और प्रकाश, जीवन और मृत्यु, नाम और रूप, जीव और जगत जैसे निर्धारित द्वन्द्वों से सम्बन्धित है। इन द्वन्द्वों की मीमांसा को तन्त्र, योग और अध्यात्म में 'सहज' कहा जाता है। 'स' अर्थात रचना, 'ह' अर्थात संहार। रचना और संहार से उत्पन्न विचार, थॉट, धारणा या चिन्तन को 'सहज' कहा जाता है। स्पष्ट ही सहज के भीतर अस्ति और नास्ति के दो सीमान्त निश्चित हैं। अन्धकार ही तो प्रकाश है। बीच में कोई कोहरा नहीं है, कोई मिस्ट नहीं है, कोई अबूझ नहीं है, गूढ़ अवश्य है। गूढ़ को साधना के द्वारा पार किया जाता है। अबूझ के लिए अनुमान लगाने की जरूरत पड़ती है। इसीलिए भारतीय चिन्तन में गूढ़ से अगूढ़ की ओर यात्रा की जाती है। बूझने का भी हमारे यहाँ सम्बन्ध 'बुद्ध' से है। या, वा, अथवा से हमारे चिन्तन का कोई सम्बन्ध नहीं है। पश्चिमी-विद्या या, वा, अथवा से सम्बन्धित है। जैन दर्शन का स्यादवाद तक या, वा अथवा की बात नहीं करता। विकल्पों की बात करता है। आकस्मिक नहीं कि हमारा ऋषि अन्धकार से सीधे प्रकाश की ओर जाने की बात करता है। असत् से सत् की ओर पुरस्सर होता है। किसी कोहरे या मिस्ट में 'शायद' या 'स्यात्' का चक्कर नहीं लगाता। वास्तव में यह समझने की बात है कि रहस्य के सिद्धान्त और प्रकाश के सिद्धान्त में अन्तर क्या है। 'रहस्य' गोपन, गुप्ताचार, या छद्म के भीतर होता है। लेकिन प्रकाश, ज्ञान के अभाव और भाव के बीच की दूरियाँ तय करता है। नहीं जानते कि यह क्या है 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' या ब्रह्म या ईश्वर के विषय में प्रभाव या मर्दन का सिद्धान्त। ईश्वर क्या है ? प्रश्न के उत्तर में जोगी कहता है—क्लेश, कर्म, आशय और विपाक अर्थात दुःख, काम, स्थान और फल से अमर्दित पुरुष-विशेष ही सत्य है। दुःख है, लेकिन उससे ईश्वर का मर्दन नहीं होता,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्म है, लेकिन ईश्वर को वह मर्दित नहीं करता। वह बिना इन्द्रियों के ही कर्म है। संसार में आकाश और अवकाश दोनों हैं। लेकिन इनमें ईश्वर नहीं है, ईश्वर में ये हैं। ईश्वर कारण और कार्य का क्रम या तात्पर्य भी नहीं है। कारण होगा तो कार्य होगा ही। इस तरह का फल अथवा 'अन्त:परिणति' ईश्वर के विषय में नहीं है। उपनिषद्कार शान्तिपाठ में ईश्वर को परिभाषित करते हुए कहता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

जब ईश्वर को पूर्ण और शून्य एक साथ कहा जाता है तो मात्रिका ओम् को मानते हुए सारे अक्षरों और सारी संख्याओं का उसी एक सत्ता में विलय कर दिया जाता है। वह पूरा है। इसलिए कि उसमें पूरा जोड़ने पर पूरा परिणाम प्राप्त होता है। उस पूरे में से पूरा निकालने पर भी पूरा का पूरा बच जाता है। पूर्ण सत्ता अर्थात ब्रह्म की अवधारणा, ब्रह्म के साथ ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड के साथ पिण्ड, अणु, अक्षर, स्वर, मात्रा, व्यंजन का विचार करते हुए भारतीय दर्शन में ज्ञानज्योति या ज्ञानकाण्ड का विलक्षण ढंग से विकास हुआ। वास्तव में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड के समानान्तर भीतरी संज्ञान से सम्बन्धित विद्या है। प्राय: सभी उपनिषदों में आत्मा की व्यापकता, अज्ञेयता, ब्रह्म की अनिर्वचनीयता, आत्मज्ञान इत्यादि का वर्णन है। केनोपनिषद् के तीसरे खण्ड के सत्रहवें भाग में उमा के प्रादुर्भाव का वर्णन है। उमा की परिकल्पना आद्याशक्ति के रूप में भी की गई है। यह संयोग है कि लम्बे अन्तराल के साथ, संस्कृत-शास्त्र के निषेध के कारण या प्रत्याख्यान के रूप में जो सृष्टि मीमांसा प्रारम्भ हुई, उसमें भी उमा जैसी आद्याशक्ति की धारणा विद्यमान है। उमा का केनोपनिषद् में जो वर्णन मिलता है उसमें ब्रह्म के अन्तर्ध्यान और उसके विकल्प के रूप में एक अत्यन्त रूपवती स्त्री के उद्भव की बात कही गई है। उस स्त्री का रंग सोने जैसा है। वह सदैव ईश्वर के साथ वर्तमान रहती है। वस्तुत: यह विद्या है : ब्रह्मविद्या, जो सारी सृष्टि को धारण करती है। ठीक यही बात सन्तों के तद्भव दर्शन में पाई जाती है। कबीर बीजक की पहली रमैनी में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विद्या अन्तर्ज्योति है। शब्दरूपा एक नारी है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी से हैं। उस स्त्री के अनेक भगलिंग हैं, अर्थात् रचना करने का दोष उसे उपलब्ध है। वह योनि भी है और लिंग भी है। इन दोनों का संवाद भी है। इस विद्यारूपी अन्तर्ज्योति से उद्भूत या तद्भूत ब्रह्मा रचयिता, विष्णु, पालक और शिव संहारकर्ता तीनों ही उस आद्याशक्ति का आदि और अंत नहीं जानते। लेकिन उसी की प्रेरणा से ब्रह्मा उसकी रचना को चौदह भुवनों में बाँटते हैं और विष्णु, शिव और ब्रह्मा जैसे तीन संज्ञान या नाम प्राप्त करते हैं। केनोपनिषद् की उमा कल्पना और बीजक की पहली रमैनी की अन्तर्ज्योति-कल्पना में सीधा तारतम्य है। लेकिन यह वाद का अनुवाद नहीं है। धारणा का धारणा में अवतरण नहीं है। वस्तुत: यह सन्तों का और कबीर का स्वसंवेद्य ही है। सुना होगा कुछ, गुना होगा कुछ, सुनने और गुनने की दूरी के बीच इतनी दूरी है कि परसंवेद्य, स्वसंवेद्य बन जाता है। ऋषि-मुनि का ज्ञान, सन्त के अनुभव के रूप में सामने आता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्तर्ज्योति सबद इक नारी। हरिब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥
ते तिरिये भगलिंग अनंता। तेउ न जानिये आदिउ अंता॥
बाखरी एक विधातै कीन्हा। चौदह ठहर पाट जो लीन्हा॥

इत्यादि पूरा सिलसिला चौरासी रमैनियों तक चलता है जिसमें अन्तर्वासी जीव है। ज्ञान के सात सोपान हैं। सृष्टि-विद्या की अनेक मान्यताएँ हैं जो उपनिषदों की ओर से आती हुई कहीं ज्ञान-प्रवाह में अन्तर्ध्यान होती हैं, कहीं सूफियों की इलहाम की मस्ती के भीतर से भी सुगबुगाती हैं और एक मिला-जुला विज्ञानशास्त्र अलग से खड़ा हो जाता है। इस पर उपनिषदों की छाया देखी जा सकती है। लेकिन इस विज्ञानशास्त्र को स्वतन्त्र ही मानना होगा। क्योंकि इसमें मात्रिका-विज्ञान, योगशास्त्र, तन्त्र और सूफी अनुभवों का अद्‌भुत रसायन है। सम्भवतः सन्तों ने इसे पढ़कर नहीं, सुनकर, गुनकर, स्वतः सोच कर अपने ढंग से विकसित किया। इसलिए सन्तों के सृष्टि-विज्ञान या विज्ञान-जोग या दर्शन या अध्याय को रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता। चाहे जाने-अनजाने इस पर कैथोलिक रहस्यवाद का दायाँ-बायाँ असर क्यों न पड़ा हो। क्योंकि, अगर भारत के सन्दर्भ में भी सन्तों के अध्यात्म या ज्योतिवाद की जाँच की जाए तो दक्षिण की आध्यात्मिक साधना से उसका तार, एक तार हो जाता है।

ईसा के मरने के आठवें वर्ष बाद ही दक्षिण भारत अर्थात केरल से लेकर कन्याकुमारी तक कुछ ईसाई सन्त आ गए थे। उन्होंने 'मिस्टिक' कोहरावाद या रहस्यवाद का उल्लेख किया था। उसी तरह 628 ई०पू० अरब के सूफी भी दक्षिण भारत में आ गए थे। उनकी 'सप्ततस्तरीय' या सात आकाशों वाली सृष्टि की धारणा दक्षिण के मस्तिष्क को मथ रही थी। बौद्ध दार्शनिकों का प्रतीत्यवाद भी शंकराचार्य की दार्शनिकता को प्रभावित कर रहा था। रामानुजाचार्य, षट्कोपाचार्य के समय तक दक्षिण भारत के चिन्तक तत्सम और तद्‌भव, स्वदेशी और विदेशी चिन्तनों के बीच दुनिया को समझने के लिए नई बातें कर रहे थे। इन सारे अक्षरों या ज्ञानों से बचते हुए निरक्षरता अर्थात् जहाँ ज्ञान निरस्त्र हो जाए और अनाहत, अनहद शब्दातीत सृष्टि-विज्ञान विकसित हो जाए। शरीर का अष्टांग योग या इसी का परिवर्तित रूप 'काया-घट' अथवा 'कायागढ़' धीरे-धीरे आखर के बाहर की दुनिया में जगह बनाने में लगा था। इसके बाद अजित केशकम्बली जैसे अकृततावादी, काच्यायन, कश्यप के पुस्तकेतर अनुभव शास्त्र या अनभय-शास्त्र के माध्यम से जंगम, जोगी, नाथों और अपने जातीय पेशे में स्थित सन्तों के यहाँ एक विशेष तरह का विज्ञान विकसित हुआ। यह विज्ञान कहने, सुनने और समझने अर्थात पूछने-जाँचने का विज्ञान है। वस्तुतः यह एक विशेष तरह की श्रुति है जो स्मृति और धृति के बल पर विकसित हुई। यह देखा हुआ सच है, समझा हुआ ज्ञान। इसके लिए शास्त्र वाली परम्परा का विकास नहीं हुआ, कारिका, भाष्य यथावसर क्षेपक, कथा, जातक, अर्थकथा की पद्धति से अलग सन्तों के अनुभव शास्त्र के विरुद्ध जो 'लिखत' विकसित हुई, उसमें तिलक, गोष्ठी, संवाद, प्राण संकली, सरोदय, पद-प्रसंग, भक्ति-विजय आदि ही आगे चलकर वार्ता, बात, ख्यात जैसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पद्धतियों में विकसित हुए। इन पद्धतियों के अपने ठेके या प्रश्नोत्तर विधान हैं। खास तरह से गोष्ठियों में सवाल और जवाब कभी-कभी ''कहिए जी गुरु जी के प्रताप तैं'' जैसे लटकों का प्रयोग हुआ है। इन पुस्तकों का अच्छी तरह से अध्ययन नहीं हुआ है। ये पुस्तकें गुरुमत-परम्परा में गुरु के पदों की तरह ही कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। उन्हें जहाँ-तहाँ मार्जन-मण्डन की सुविधा के साथ लिख भी लिया जाता था। बाद में सन्त-परम्परा पर जब भक्तों का भी असर पड़ने लगा तो स्वर्ग, ब्रह्मलोक इत्यादि के लिए बैकुण्ठ, साकेत, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारिका अनेक आध्यात्मिक स्थलों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। स्पष्ट है कि सगुण उपासना में लोकप्रिय राम और कृष्णभक्ति के अनेक प्रतीक, तीर्थ, स्थान, पूजा-पीठ उसी तरह प्रतीकबद्ध हो गए जैसे सन्तों के चौरा, गादी, आसन, सूफ, कम्बल, गलीचा, गूदड़, साथरी इत्यादि प्रतीकबद्ध हो गए।

प्रणामी प्राणनाथ सम्प्रदाय में कृष्णभक्ति के सगुण प्रतीक निर्गुण प्रतीक के रूप में आते हैं। इसी तरह राम कबीर पन्थ, रामसनेही सम्प्रदाय में रामभक्ति के सगुण प्रतीत निर्गुण तत्वज्ञता प्राप्त करते हैं। गुरुमत के सिखपन्थ, दादूपन्थ, सतनामी सम्प्रदाय, शिवनारायणी पन्थ, बावरी पन्थ, चरणदास, अप्पादास जैसे छियासी-सत्तासी सन्त सम्प्रदायों में गुरु, मंत्र, दीक्षा, पोथी, राग-बद्ध कविता, अंग, घर, महला जैसे ग्रन्थ अनुशासन, गुणगंजनामा, चौतीसा, कहरा, अखरावट, अक्षरखण्ड की रमैनी जैसे निर्गुणशास्त्र की व्याख्या करने वाले प्रतीकों का विकास होता है। इस पूरी विद्या के विकसित होने में 800-850 वर्ष लगे और संयोगवश इसे परवर्ती और साम्प्रदायिक कहकर अध्ययन विश्लेषण की दुनिया में प्रायः उपेक्षित किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कबीरपन्थी साहित्य' नाम से एक पुस्तक का प्रारम्भ किया था। लेकिन उन्हें लगा कि यह सारा ज्ञानप्रपंच 'घर जोड़ने की माया' है। फिर उन्होंने निरंजन और कई तरह की काल-कल्पनाओं के विषय पर समय-समय पर टिप्पणी की। यही कारण है कि अंग्रेजी कविता के रोमांटिसिज़्म या मिस्टिक के साहित्य की मीमांसा में प्रचलित मिस्टिसिज्म का अनुवाद रहस्यवाद, ज्योतिवाद से सम्बन्धित सन्तों की स्वसंवेद्य दार्शनिकता को दायें-बायें निगल गया।

सन्तों के स्वर ज्ञानयोग में मुख्य रूप से क्षर पुरुष, चौदहलोक, सात पाताल, अष्टावरण, ओम् ज्योति-स्वरूप, इच्छाशक्ति और सात शून्य, महाशून्य, चार प्रकार के प्रलेप, प्रणव, कालनिरंजन अधिदैव, अधिभूत, रास, नित्य बैकुण्ठ, सतलोक, गोलोक, कैवल्य ब्रह्म, योगमाया, महाकारण, कूटस्थ अक्षर, ब्रह्मधाम, रंगमहल, पानी, पवन, आकाश प्रकृति और तमाम तरह की रहस्य संख्याओं की मौलिक और निजी व्याख्या मिलती है। भारतीय परम्परा के ज्योतिवाद की विद्या को समझने के लिए इस पद्धति का प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक है।

साधारणतः सन्तों के यहाँ विज्ञान योग की जो परिकल्पना है उसमें एकाक्षर ब्रह्म की कल्पना है। इस अक्षरब्रह्म की एक माया है, जिसके स्वामी को क्षर पुरुष कहते हैं। यही क्षर पुरुष अक्षर और अक्षरातीत रूपों के साथ तीन पुरुषों का रूप धारण करता है। कबीर की रमैनी में इन्हें ब्रह्मा विष्णु महेश्वर कहा गया है। वैसे सभी ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सन्त-कोशों में अक्षर ब्रह्म है। माया के प्रभाव से ये तीनों पुरुष चौदह लोकों की रचना करते हैं। (चौदह ठहर पाटि सौ लीन्हा) इस प्रकार विराट पुरुष की कमर में अतल, जाँघों में वितल, घुटनों में सुतल, पिण्डलियों में तलातल, गुल्फा एड़ी के ऊपर की जगह में महातल, चरण के ऊपरी भाग में रसातल और निचले भाग में पाताल होता है। इसी तरह उस पुरुष की कमर से ऊपर उदर में भूलोक, नाभि में भुवर्लोक, हृदय में स्वर्ग, छाती में महालोक, कण्ठ में जन्मलोक, होठों में तपलोक और मस्तिष्क में सतलोक होता है। इन चौदह लोकों को लेकर सृष्टि के पूरे विस्तार के सम्बन्ध में कल्पनाएँ की गई हैं। 'पाताल' में एक विशाल कच्छप है जो चौदह लोकों को अपनी पीठ पर धारण करता है। इस कच्छप पर शेषनाग की शय्या है। इस शेषनाग पर 'सोऽहं' मन्त्र के साथ ज्ञानतत्त्व का उच्चरण हो रहा है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश नहीं है। मणियों का प्रकाश है। सर्पों का वास है। सन्तों के यहाँ सोऽहं मन्त्र का सर्वत्र महत्त्व है। कबीर, रैदास, कीनाराम, शिवनारायण सहित अनेक पन्थों में सोऽहं को ही मान्यता प्राप्त है। वस्तुतः 'अहं ब्रह्मास्मि' में वेदान्त धारणा का आख्यान है। 'मैं ब्रह्म हूँ' में नीचे से ऊपर की ओर जाने की बात है लेकिन 'वह मैं हूँ' सोऽहं में ऊपर से नीचे की ओर आने की बात है। इसमें साधक और मनुष्य की सत्ता में ही परासत्ता का अवतरण या अवसान होता है। लेकिन वेदान्त में साधक या मनुष्य की सत्ता का परमतत्त्व का ब्रह्म या ईश्वर में पर्यवसान होता है। शायद सूफियों में अनलहक् अर्थात् 'मैं ही ईश्वर हूँ' का 'सोऽहं' अनुवाद है। यही कारण है कि कट्टर इस्लामवादियों और सूफियों में सदा विरोध बना रहा क्योंकि सूफी मनुष्य को बड़ा कहते हैं। ईश्वर को मनुष्य में उतारते हैं। इसलिए सरमद और मंसूर की खालें उतार ली गई थीं। सन्तों को भी कट्टर सनातनी लोगों ने नीच, ओछे कसब का कहा और कलि का अधम भी कहा है। ध्यान देने की बात है कि मन्त्र मूल को आगे-पीछे करने से ही कट्टरपन्थी सनातनी और श्रमजीवी मनुष्य के विवेक में अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

'रसातल' धारणा में यह लोक पाताल से दस हजार योजन ऊपर है। यहाँ भोग के सभी साधन उपलब्ध हैं। मणियों का प्रकाश और दैत्य-दानव बस्ती है। 'महातल' रसातल से दस सहस्र योजन ऊपर है। यह भी सर्पलोक है। मणि के प्रकाश से प्रकाशित, तलातल महातल से दस सहस्र योजन ऊपर है। राक्षसों की बस्ती है और मणियों का प्रकाश तथा यहाँ का राजा बलि है। 'सुतल'—तिष्य लोक से 10 सहस्र योजन ऊपर है। राजा बलि, दैत्यों की बस्ती, लेकिन यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव निश्चित काल के अन्तराल के बाद दर्शन देते हैं। 'वितल'—यह लोक पिछले लोक से 10 सहस्र योजन परे है, दानव-आबादी, मणियों का प्रकाश, अज देवता शिव और एक रसमय नदी की धारणा है। 'अतल'—पिछले लोक से 10 सहस्र योजन दूर है। यहाँ का राजा मय, वास्तुशिला उत्तम, वस्तुतः यह सातों लोक सुख और भोग के लोक हैं। इन्हें सन्तों के विज्ञानकल्प में बिल स्वर्ग और भू-विवर भी कहते हैं।

इसी प्रकार चौदह भुवनों में सात लोक ऊपर माने जाते हैं। पहला पृथ्वीलोक या मर्त्यलोक है। यह ब्रह्म या पुरुष का उदर है। यह सबका पोषण भी करता है और सभी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्द्रियों का भोग भी भोगता है। मृत्युलोक या पृथ्वीलोक की कल्पना का, सन्तों की धारणा में अद्‌भुत विस्तार हुआ है। जम्बूद्वीप, अनेक समुद्र, उनके अनेक नाम जैसे—इक्षु समुद्र, सुरा-समुद्र, घृत-समुद्र, दधि-समुद्र, क्षीर-समुद्र, मीठे जल का समुद्र, इसी प्रकार इसके अनेक खण्ड, अनेक वर्ष यानी अनेक भाग है। किंपुरुषवर्ष, भारतवर्ष, हिरण्यवर्ष, रम्यकवर्ष अर्थात पृथ्वीलोक की कल्पना भूगोल, ज्योतिष, तन्त्र, ग्रह, राशि, काल के विभिन्न आधारों, भोग की विभिन्न वृत्तियों से सम्बन्धित हैं। लगता है कि सन्तों को पृथ्वी सम्बन्धी भेदों में अधिक रुचि है। वह कल्पना और सत्य अर्थात गवेषणा से सम्बन्धित है। मृत्युलोक से 100 वर्ष योजन अलग पितरलोक है। यहाँ पर विद्याधर, यक्ष, प्रेत, पिशाच, अदेहधारी, जीव निवास करते हैं। इसे अनेक नामों से स्मरण किया जाता है। स्वर्गलोक—यह मृत्युलोक से तीसरा है। यहाँ इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम इत्यादि का वास है। कल्पवृक्ष, कामधेनु, पारिजात यहाँ नित्य हैं। यहाँ इच्छा से ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। यहाँ बोने और काटने जैसे कार्यकारण का विधान नहीं चलता। मर्त्यलोक—काल, क्षेत्र और सीमा की दृष्टि से यह कल्पान्तव्यापी होता है। यहाँ का राजा धर्मराज है। इसका लय या विलय नहीं होता। यहाँ ऋषियों, दक्ष, नारद आदि का निवास माना जाता है। वास्तव में यह ब्रह्मपुरी, बैकुण्ठ है। लोक-कल्पना की दृष्टि से सन्तों के यहाँ बहुत वैविध्य है। परवर्ती सन्त साहित्य में निरंजन और कालदूत की ऐसी धारणाओं का विकास हुआ है जो नाथपन्थियों और योगियों की सात जन्मों वाली धारणा या आवर्तन से बहुत विपरीत है। निरंजन कहीं ईश्वर का पर्याय है, कहीं इस्लाम के शैतान का। कहीं वह कालदूत भी है जो इस्लाम के शैतान से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। नरकलोक की धारणा पर भी सन्तों ने विचार किया है लेकिन, इस पर पुराणों का सीधा प्रभाव दिखता है। श्रीमद्‌भागवत में अनेक लोकों का वर्णन है। इसी तरह बौद्धों के अट्ठकथा साहित्य में भी नरक और योनियों के विभिन्न रूपों का वर्णन है। इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि सन्तों के यहाँ ब्रह्माण्ड-कल्पना बहुत दूर तक पुराणों, साथ ही सूफियों और ऋग्वेदीय धारणाओं का मिलाजुला मौलिक विस्तार है। ये सभी ब्रह्माण्ड के खण्ड, मन, बुद्धि और अहंकार से आवृत्त माने जाते हैं। मन का अहंकार तामस, बुद्धि का राजस और अहंकार के आवरण को सात्विक अहंकार कहा जाता है।

इस पूरे ब्रह्माण्ड पर एक प्रणव-कवच की भी कल्पना जुड़ी हुई है जो माण्डूक्य उपनिषद् के 'ओऽमइति अक्षर इदम्' की धारणा का परवर्ती विकास है। ओम् का कवच ब्रह्माण्ड का ज्योति-कवच है। मात्रिका सम्बन्धी स्वर व्यंजन-सघोष, महाप्राण, अनुनासिक अग्र, पश्च, मध्य, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत को भी प्रतीकबद्ध करके ब्रह्माण्ड के चारों ओर ज्योति-कवच की या ओऽम् की कल्पना की गई है। कुछ सन्तों के यहाँ 'ओऽम्' के अ को ब्रह्मा, उ को विष्णु और म को शिव माना गया है। इस तरह यह ज्योति-कवच त्रिदेवता, त्रिकाल, त्रिलोक अर्थात तीन के जातीय विश्वास से सम्बद्ध हो जाता है। त्रिकुटी, त्रिभुवन अर्थात तीन की धारणा ज्योति तत्व से सम्बद्ध है। सम्भवतः सन्त कबीर की रमैनी में इसी अन्तर्ज्योति सबद की बात कही गई है। 'सबद' अर्थात ध्वनि, ध्वनि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात आकाश, इस प्रकार जगत-मण्डल इत्यादि की धारणाओं से खेचर साधनाओं, खेचरी मुद्राओं का तंत्र भी दायें-बायें जुड़ जाता है।

इस कवच के अनेक नाम हैं क्योंकि यह स्वतः प्रकाश-स्वरूप, महावीर ब्रह्मादिदेवों को भी अलभ्य है। वस्तुतः यह जड़-चेतन की गाँठ है, इधिदीपा, चमोचक, ऊर्ध्वगा, मध्यमा और परमा में पाँच मुख्य शक्तियाँ हैं। सत्व, रज, तम ये तीनों गुण इसी से उत्पन्न होते हैं। ये पंचमुखी, मृत्यंजय, ज्योतिस्वरूप कई तरह की होती हैं। एक स्वरूप को सुरति भी कहते हैं। सुरति और निरति जैसी योगपरक शब्दावली ज्योतिकुल की ही शब्दावली है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के साथ एक व्यष्टि ज्योति सम्बद्ध मानी जाती है जिसे नाद या स्वभाव ज्योति कहते हैं—

अकारश्चाप्युकारश्च मकारो बिन्दुनादकौ।
पञ्चाक्षराण्यमून्याहुः प्रणवस्थानि पण्डिताः॥ —तन्त्रोक्त

ओम् के बिन्दु से प्रणव का व्याख्यान होता है। यह एक ऐसी ज्योति है जिसे गायत्री भी कहते हैं। गायत्री ज्योति से सम्बद्ध एक मार्ग तत्व भी है जिसके ज्ञान से अन्धकार दूर होता है। लेकिन अज्ञान की स्थिति में यह दुःख ही जड़-चेतन ग्रन्थ की रचना करते हैं। इसी महत् तत्व को पुरुषमहत्तम, निर्गुण शून्य और निरंजन कहते हैं।

सृष्टि के विस्तार को व्यक्त करने के लिए सूफी दर्शन में और सन्तों के दर्शन में भी विभिन्न शून्यों की कल्पना की गई है। सामान्यतः सात शून्य की कल्पना बहुत लोकप्रिय है। सात शून्यों से सम्बन्धित सात चेतनाएँ भी हैं जिन्हें कबीर बीजक की सैतीसवीं रमैनी में 'सात सयान' नाम से अभिहित किया गया है।* महाशून्य की कल्पना भी इससे सम्बन्धित है और यह क्रम अगम, अलख, अनन्त से सम्बद्ध हो जाता है। सृष्टि रहस्य के भीतर विभिन्न युगों की आयु और प्रलय का भी वर्णन है। ये सभी पुराणों से मिलते हैं लेकिन सन्तों के चिन्तन से सीधा प्रभाव इस क्रम में सतयुग की आयु 17 लाख 28 हजार वर्ष, त्रेता की 12 लाख 86 हजार वर्ष, द्वापर की 8 लाख 64 हजार, कलियुग-4 लाख 32 हजार वर्ष मानी जाती है। नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृतिक प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय के रूप में सृष्टि की रचना के साथ संहार की धारणाएँ सम्बद्ध हैं।

सन्तों का ऐसा मानना है कि एक साधक को स अर्थात् सृष्टि, ह अर्थात् संहार समग्रतः सहज का ज्ञान होना चाहिए। इसी को सहज-साधना भी कहते हैं। बौद्धों के यहाँ सहजयान भी यही है, लेकिन सन्तों ने सहज की बार-बार आवृत्ति की है और कहा है, सहज को जान लेने के बाद सन्देह-मुक्ति हो जाती है। इस सहजयोग के साथ योग के

---

* एक सयान सयान न होई। दोसर सयान न जानै कोई।
तिसर सयान सयानहिं खाई। चौथे सयान तहाँ लै जाई।
पँचवें सयान न जानै कोई। छठ माँह सभ गयल विगोई।
सतवें सयान जो जानहु भाई। लोक बेद में देहु दिखाई।
बीजक बतावै बित्त को, जो बित गुप्ता होय।
ऐसे सबद बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनेक रूप रूपान्तरित हो जाते हैं। हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग, क्रियायोग, तारकयोग, सूक्ष्मयोग, महाखण्डयोग, असम्प्रज्ञात योग, अखण्ड योग, अस्पर्श योग, सुरति योग, लययोग अनेक नाम और पद्धतियाँ सम्बद्ध हैं। योगों को भी सम्प्राप्त, घटमान सिद्ध, सुसिद्ध, परिमित, ब्रह्माण्डभेदी, प्रकृत्सण्डभेदी नामों से याद किया जाता है। इस योग की अनेक तरह की दीक्षाएँ जिनमें बत्तीस—अलौकिक, दैविक, चाक्षुषी, मानसिक, स्पर्शवती, श्रौती, निर्वाणप्रद, इसके साथ ही तत्व, पद, मन्त्र, वर्ण, भुवन, केवल, शकल, लोकधर्मी, निर्विच, दीक्षाओं के नाम सम्बद्ध हैं। दीक्षा और साधनाओं के प्रभाव से साधक की अनेक देह दशाएँ—जिन्हें आत्मदेह, कर्मदेह, कारणदेह, चान्द्रदेह, दिव्यदेह, शाक्तदेह, सूक्ष्मदेह, सौरदेह, स्थूलदेह, कामदेह, ज्ञानदेह, हंसदेह, लिंगदेह अनेक नामों से स्पष्ट किया जाता है। साधना के द्वारा योगी को अनेक भूमिकाएँ या धाम उपलब्ध होते हैं—जैसे सूर्य धाम, चन्द्र, अग्नि, परम, गोलोक, गुरु धाम इत्यादि। धामों के बाद पद की प्राप्ति भी होती है जिनमें ध्रुपद, पशुपद, शिवपद, कैवल्यपद इत्यादि मुख्य हैं।

मनुष्य का शरीर श्रेष्ठ विद्या के परिज्ञान के क्रम में साधना का सबसे उपयुक्त साधन है। क्योंकि एकसाथ ही वह भोगदेह और कर्मदेह भी है। गुरु, साधक को योगों के रूप में दीक्षा देकर साधना के योग्य बनाता है। जो साधना की भूमि में प्रवेश करते हैं उनका मांस-मज्जा और तमाम तरह के तन्तुओं से निर्मित शरीर अलग तरह के आध्यात्मिक धर्मों-कर्मों से सम्बद्ध हो जाता है। वह ब्रह्म नाड़ी, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिनी, जिह्वा, पयस्वनी, कुहू, राका, शंखिनी, वज्रा, चित्रणी जैसी नाड़ियों को धारण करने वाला साधक बन जाता है। वह मुख्य रूप से नाद साधना करता है। नाद के समानान्तर बिन्दु की भी साधना होती है। योगी प्राणायाम के द्वारा अनेक तरह की भूमिओं का भेदन करता है। वह मणिद्वीप में बसता है। दस मण्डलों को पार करता है। अनेक समाधियों में समाधिस्थ होता है।

योग के द्वारा चमत्कारिक सिद्धियाँ भी प्राप्त की जाती हैं। भोजन, शयन, आवास के साथ ही योगी में देह के बन्धनों एवं सीमाओं को पार करने की शक्ति विकसित हो जाती है। वह अनित्य देह के द्वारा नित्य भोग की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसी को सुरति-योग कहते हैं। सुरति योग की सिद्धि को पा जाने के बाद वह आहत के पार अनाहत को भी सिद्ध कर लेता है और कुण्डलिनी के जग जाने के बाद सहस्त्रार की भूमिका में पहुँच जाता है। इस अवस्था को हंससिद्धि भी कहते हैं। हंससिद्धि के उपरान्त उसकी वाक्सिद्धि प्रकट होती है और अविद्या समाप्त हो जाती है। वासना का अन्धेरा छँट जाता है और वासना एवं भोग के भीतर से उसे उज्ज्वल रस की प्राप्ति होती है। इस रस की प्राप्ति के बाद त्रिकुटी पर असंख्य मन्त्र महेश्वरों के बीच समना और उन्मना की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार सन्तों का अध्यात्म योग ज्योतिवाद कहीं से रहस्यमय नहीं है। वह अन्धेरे से बाहर निकलने की एक प्रक्रिया है। कुहरा—मिस्ट या अर्धप्रकाश, अर्ध अन्धकार की झिलमिलाहट नहीं है। वह सहस्र सूर्यों से भी अधिक विकसित आत्मप्रकाश

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। इसे ही वे ज्योति का ज्योति में मिलना कहते हैं। कोई अन्धेरा या कोहरा प्रकाश से नहीं मिलता है बल्कि प्रकाश ही प्रकाश से मिलता है। सन्त वह होता है जो जटिल श्रेष्ठ के भीतर देह की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ स्वयं प्रकाशपुंज बन जाता है। इस तरह से सन्तों का अध्यात्म, प्रकाश से प्रकाश का मिलन है। उसे भ्रमवश ही रहस्यवाद कहा गया है। 'जोत में जोत समानी'।

रहस्यवाद तो ईसाई साधना के भीतर 'योरोपीय मिस्टिक कान्सेप्ट' का विकास है। लेकिन यह अवश्य है कि सावित्रीतत्व की सघन व्याख्या के बावजूद अरविन्द के दर्शन अथवा रवीन्द्रनाथ टैगोर के काव्य अथवा हिन्दी के रहस्यवादी काव्य खासतौर से छायावाद के काव्य पर ईसाई मिस्टिसिज्म की झलक देखी जा सकती है। अरविन्द स्वयं महान योगी थे लेकिन उनके चिन्तन पर अवश्य ही ईसाई मिस्टिसिज्म और उनके सम्पर्कों पर ईसाई मूर्ति श्रीमाँ की धारणाओं का कोई कोहरा चिह्नित किया जा सकता है। भारतीय सन्तों का आध्यात्म कोहरे से कतई सम्बद्ध नहीं है। उनकी साधुता, उनका त्याग, दूसरे की सेवा, भिक्षाजीवी साधुता का विरोध, क्रिश्चियन सेंटिटी या साधुता से अवश्य प्रभावित हो सकता है। संस्कृत भाषा की अभिधान शब्दावली या संग्रह सूची में 'सन्त' शब्द की अनुपस्थिति और साधु शब्द की उपस्थिति इस बात की सूचना है कि सन्त शब्द सेंट शब्द से परिष्कृत है। मध्यकालीन सन्तों ने सन्त और साधु को पर्यायवाची शब्द के रूप में चित्रित किया है। 'सुनो भाई साधो' या 'सन्तों देखत जग बौराना' जैसे सैंकड़ों पदों में सन्त और साधु पर्याय हैं। फिर भी 'मिस्टिक अध्यात्म' से सन्तों के प्रकाश निर्भर अध्यात्म को बहुत स्पष्ट रूप से अलग करने की आवश्यकता है। चाहे जाने-अनजाने विल्सन, वेस्टकाट, विलियम ड्वायर जैसे पकी आयु के क्रिश्चियन विद्वानों ने इस पर विचार किया हो अथवा फादर थामस जैसे किसी युवक ने इस पर विमर्श किया हो।

'ज्योतिवाद' की एक महत्त्वपूर्ण पोथी

कबीर नानक की गोष्ट

नानकवाच— ईड़ा पिगंला सुषमना के नाम कहियै। जू गुरू की दयाते

कबीरोवाच— ईंगला अगिन, पिंगला पानी, सुषमना वन है। तीनों वसत एक ही खानी।
एही मुखा के बीच रहत हैं।

नानकवाच— कहीये जु परमेसुर एही है। रमता राम कहत हैं।
तिरवेनी संगम स्नान करत हैं। ए त्रिगुन होत है।
रजोगुन, सतोगुन, तमोगुन कौन कौन है।
कहीये जु गुरू के प्रसाद ते॥

कबीरोवाच— ये ब्रहम्हां विस्न महेस कहीयै। ये तौ देही के थम्हन हैं।

नानकवाच— एक सुखसायर सरोवर है। सो कहां है, कैसो है॥
ए चरन कमल हैं सो कैसे हैं। कहिये जू गुरू के प्रसाद ते।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कबीरोवाच— सुख सरोवर है। ते तौ जिब्भयाँ है। ये कमल चरन है। ये कमल श्रवन हैं। नैन कमल हैं। हस्त कमल है। ए चारि कमल हैं। ये चारों चलत रहत हैं।

नानकवाच— स्वांसा सरोवर है, सो कैसा है। यह काया में है, सो कहाँ है। निरंजन देव देह में बसत है। सो बताइयै जी गुरू के प्रसाद ते।

कबीरोवाच— स्वासा सरोबर है। सो तौ सोहंग है। निरंजन प्रुष नैन में बसत है ? निरंकार कहियै सुपेदी के बीच रहत है। एही निरंजन अंजन कहियै। स्याही के बीच कहिये। सो निरंजन है। इसमें निरंजन ये ही है। जासो निरंजन कहिये। बिना परचै जानत नाहीं। इसके सुभाय एही है। देही घटत है, बढ़त है। एतौ जैसे आए हैं। तैसेई हैं। **जोति निरंजन**। घटती बढ़ती नाहीं है। देह सब आँधरी। निरंजन को सूझत है। इतने सुभाइ एही है। एती सब बूझै बस्त मिलावै। अब तक ए देषिये नाहीं। तब तक मुकाम थिर ना पावै। वस्त पाछे परी है। न जानिये कैसा है। जब नजर के आगू आवै। तब तैसह विरह होवै। और सब झूठ नज़र आवै। आखिन की देखी संची होवे। परमेसुर बूझिये तो ये ही है। नाम चरित्र बतावह। और सब धोखा है। खोजी जीवै। बादी मरै। अहंकारी के पैड़े परै। इस देही में आरू रोग हैं।

नानकवाच— कौन कौन रोग हैं। कहियै जू गुरू के प्रसाद ते।

कबीरोवाच— काम है। क्रोध है, लोभ है, मोह है, अहंकार है, भूख है, पयास है, त्रसना है। आठ नित प्रति लगे रहत हैं। इनमें संसार विधी है। सो भूलन के ए रोग संसार को भली तरह सौ लगे हैं। इन बिना संसार नाहीं होत है। संसार प्रकृति लोभी है। इन बिना जीवन वादि है। मुकति सहायक ए नाहीं।

नानकवाच— मुक्ति के सहायक कौन कौन हैं। कहियै जू गुरू के परसाद ते।

कबीरोवाच— मुक्ति को सहायक नाम है। पान है, परवाना है। धन है, दान है, ग्यांन है, दया है, धर्म है, प्रेम है, नेम है, छिमा है, संतोष है, धीरज है, सील है। भक्ति है। अर्थ है। विवेक है। गुरु चरन की सेवा है। इतने मुक्ति के सहायक हैं।

नानकवाच— तौ जी इन देही के बीच जीवती वस्त कौन है।
औ मुई वस्त कौन है। बोलता कौन हैं।
खाता कौन है। पीवता कौन हैं। चलता कौन हैं।
बैठा कौन हैं। कहियै जू गुरू के परसाद ते।

कबीरोवाच— जीवती वस्त अग्न है। खाती वस्त अग्न है। पीवती पानी हैं। चलती सुरति है। बैठा मन है।

नानकवाच— कैसे करि जानियै। कहियै जू गुरू के परसाद ते।

कबीरोवाच— वन का भूखन पानी है। अगिन का भूखन अन्न है। बहरी प्रकृति लकरियाँ जराई तौ अगिन रही आवै। नहीं तो अगनि बुझि जाय। तातैं लकरिया के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हौर अनु बहुतेरी हैं। ताते अगिन देह मे जीवती रहै। अन पानी टहलुआ हैं। सुरत सो पहुँचावत हैं। नहीं तौ अगिन सिराइ जाइ। मनुष्य के अंदरु अगिन है। सो वह अगिन निरंजन कहावत है। पानी पवन का मेला है। अगिन का जाब नदिया हैं। पवन हरा है, पानी सुपेद हैं। धरती अंकुर की अस्त है। जब ऊपर पानी बरसत है तब अंकुर निकसत है। नाहीं तौ सूखि रहत है। पानी सो परवत भीगत है। अंकुर सुपेद होइ पवन लगै हरा होत है। सतगुरु परताप तें जो पिंडे सो ब्रिहमंडे।

नानकवाच— तीन लोक कौन कौन हैं। कहिये जू गुरू के परसाद सों।

कबीरोवाच— अभा मांझ पाताल सिर ऊभा है, पेट मदिध है। चरन पाताल है।

नानकवाच— तीन लोक में सात दीप हैं। चौदह भुवन हैं।
इसमें कहाँ है। कहौ जू गुरू के परसदा ते॥

कबीरोवाच— एक दीप सिर है। एक दीप कंठ है।
एक दीप हीरदो है। एक दीप नेत्र है।
एक दीप श्रवन है। चौदह भवन चौदह त्वक हैं॥
देह में रहत हैं॥

नानकवाच— खंड में बीच चार दिसा हैं। या में कहा हैं।
कहिये गुरू के परसाद ते॥

कबीरोवाच— उत्तर पूरब दच्छन पच्छिम।
आगे पीछे दाहिने वांअें। ए चारौ दिसा हैं।

नानकवाच— तीन लोक में नौ खंड हैं। अठारह भार वनसपती हैं।
उन्नाचास कोट वसुधा हैं। सो पिंड में कहाँ हैं॥

कबीरोवाच— साढ़े तीन हात देहीं है। सोई उन्नचास कोट वसुधा है। नौ खंड हैं, सो नऊ द्वार है। वनसपती हैं सोई रोमावली हैं॥ चंद्र सूर्ज है सो आंखें हैं। पहाड़ परवत हैं सो हाड़ हैं।

नानकवाच— तीन लोक में एक गिर हैं। सात समुद्र हैं।
नदीया हैं सो कहां है पिंड में। कहो जू गुरू के परसाद से॥

कबीरोवाच— पेट है सो तौ गिर है। औ सात समुद्र हैं।
नासिका जिभ्या। नेत्र हिदया श्रवन गुदा नाभि सात समुद्र हैं। नौ सौ नवासी नदी नारे सोई सुभाइ हैं। सोऊ नदी नारै हैं। सात समुद्र गिर में जाइ समात हैं। तब गिर लहरियाँ लेत हैं। तातै गिर कहियै। स्वासा सम तेऊ नदी नारे हैं। नासिका वास सो राजती है। जिभ्या स्वाद में राजती हैं। आखैं देखैं राजती हैं. श्रवन शब्द सुने राजत हैं। गिर में जाय समात है।

नानकवाच— कैसी कौन काहे की लहरिया लेत हैं।
सो कहियै जू गुरू के परसाद सौं॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कबीरोवाच— येकै काम की लहरिया। येकै मोह की लहरिया॥
येकै हंकार की लहरिया। येकै मन माया की लहरिया॥
और गुन की लहरियां चलती हैं। अगिन, पवन, पानी की चिता बनी है।
इनके एही सुभाव हैं।

नानकवाच— समुद्र की लहरियां में हीरा, लाल, जवाहर निकसत हैं।
इसमें कहां है। कहियै जू गुरू के परसाद सौ।

कबीरोवाच— इसमें आदिम की लहरिया में हीरा घोंघे आवत हैं।
कथा पुरान की, वेद शास्त्र की लहरिया जब आवै।
तब नाम पदारथ गुन गावै। तौ ये ही हीरा, जवाहर हैं।
ग्यांन ध्यान की लहरिया में द्वीप हैं।

नानकवाच— समुद्र का पानी खारा है। पिया नहीं जाता है।
कहियै जू गुरू के परसाद तैं।

कबीरोवाच— नासिका को पानी, श्रवन को पानी।
नेत्र को पानी, नाभि को पानी।
ये नाहीं काम आवत हैं।

नानकवाच— समुद्र में नौका जहाज हैं। लोहे को भार हैं इसमें कहां हैं। कहियै जू गुरू के परसाद सों।

कबीरोवाच— इसी पिंड में बवेसी है। ये ही सब जिया जन्तु में हैं।

नानकवाच— मरजीवा पिंजरा के साथ बुड़की मारत है।
हीरा मोती ले निकसत है। कैसे करि जानियै यामे कहां हैं। कहिये जू गुरू के परसाद सौ।

कबीरोवाच— जीव पुरुष डुबकी मारत है। तैसे ही गुरु की मूर्त का ध्यान लगावत है।
मरजीवा की निहाइ ता घर में धरै, अंतर ध्यान लगावैं।
गुरू का मंत्र पढ़ते रहै। सो पद ले निकसै लाल जवाहर जानिये।

नानकवाच— पंड में पानी है। अगिन है। तैंतीस कोट देवता हैं। चंदा सूरज हैं।

कबीरोवाच— जिभ्या है सो पानी है। भूख है सो अगिन है।
तैतीस कोट देवता हैं। सो लच्छिन हैं।
नीद है सो चंद्रमा है। जागत है सो सूरज है।
सोइयो है सोई रात्री है। जगबो है सोई दिन है।

नानकवाच— पंड में कमल है। असासठ तीरथ हैं।
सो कहां है। कहिये जू गुरू के परसाद सों।

कबीरोवाच— चरन कमल हैं। नाभि कमल है।
हिरदो कमल है। कंठ कमल है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुख कमल है। तीरथ है। सोई सुमत है।
सुकृत है, सोई तीरथ है, सो मन है।

नानकवाच— पंड में सुरग नरक है। पंड में चारिखान हैं।
चारिखानी है। इसमें कहां है।
कहियै जू गुरू के परसाद ते।

कबीरोवाच— इसमें दुख है सोई नरक हैं। सुख है सोई सुरग है।
पिंड में पिंडज खान है। उषमज खानि है।
अस्थावर खानि है। पिंड में हरखवानी है।
उदास वानी है। येक सोग वानी है।
येक गरक वानी है। जब अतीत वानी लगत हैं।
तब दया घर में आवत है। ये ही में और वानी है।
जीवती, मरती हैं। स्वासा लेत सोई मर जाता है।
इसमें सुख है सोई सुर्ग जानिये।
जब नाम चित्त में आवै। तबहीं सुख पावै।
और जो कछु करत है। सो प्रभु करत है।
इहि भाँति चेतन रहै, सो ग्यानी कहा है।

नानकवाच— पंड में एक ऊजर* एक वस्ती है। पंड में मेघ बरसत है।
खेती होती है। एक निपजति है। एक नाहीं निपजती।
ईहां कहां है। सो बताइये गुरू के परसाद ते।

कबीरोवाच— समुझ है सो वस्ती है। ना समुझ है सो ऊजार है।
सुबुधि है सोई खेती है। अरु कुबुधि है सो नाहीं है।
कुबुधि ना आवै, सुबुधि ना छूटे। यह मता सतगुरु सो पाईं।
जब भक्ति आवै। तब आनन्द घर पावै।

नानकवाच— पंड में सिव पूजत है। दिवाले देव का द्वारा है।
दया धर्म है, इसमें कहां है कहिये जू गुरू के परसाद तै।

कबीरोवाच— गावना, बजावना, सुनावना, एही पूजा सेवा है।
एही दया धर्म है। एही देव के दिवाले को द्वार है। प्रभुगुन है, सोइ धर्म है।

नानकवाच— पंड में माता है, पिता है, भाई है, बहनि है
काका है, दादा है, परदादा है, इसमें का है।

कबीरोवाच— धीरज पिता हैं। छिमा माता है। संजम भाई है। सील पुत्र है। सुमति बहनि है। वानी बेटी है। इसमें एक मंत्र है। सोई पदम पदारथ है। सोई दादा प्रदादा काका है॥

---

* उजाड़—वीरान।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नानकवाच— पंड में भाँति भाँति के रंग हैं। वदरंग है। पिंड में कहाँ है। कहिये जी गुरू के परसाद सौ।

कबीरवाच— पिंड में आनंद है। सोई रंग है।
जब उदासी लहर आवै सोई वदरंग है।

नानकवाच— प्रभु को ठिकानो कैसे पावै।
परमेसुर अकास में रहत है। इसमें कहां है।
कहिये जू गुरू के परसाद सौ।

कबीरवाच— पिंड में प्रान है सोई परमेसुर को ठिकाना है। जब सिष्ट परलै करेगा। तब आपुन में समाइ लेईगा। आकास रूपी होई रहेगी। पानी पवन आप में समाइ लेइगा। निरंजन जोति समाइ लेगा। एकै एक रहि जाइगा। कथा आदि पुर्षकी। एक जुग निराधार रहिया। एक जुग गरूमत में रहिया। औ अंकार ते आकास किया। आकास ते पवन छाड़िया। पवन ते पावक छाड़िया। पावक ते पानी छांड़िया। पानी ते बुहुमी बाटिया। पुहुमी ते मनुवा भयो। मनुते देवी भई। देवी ते करता काल कीन्हां। करता काल तें ब्रम्हां नै जोग जुक्त कीन्हां। वैठने को तीज छाजे बनाए। ऊभा, मदिथ, पाताल। पवन को थम्भन दीन्हा। और सब मिलत हैं। पर सतगुरु दुरलभ है। बिना सतगुरु शब्द नाही पावे। केते ग्यांन, ध्यान, मन लावै॥

एते नानक गोष्ट सम्पूरन मिती सावन सुदी छ :
मंगलवार, सम्वत 1944।
[सन् ई० : 1887]

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

7

संस्कृत-साहित्य में रहस्य-दर्शन

जयशंकर त्रिपाठी

जब रहस्य दर्शन की बात की जाती है तब अपने-आप रहस्य-चिन्तन का आकाश पृष्ठभूमि में आ जाता है। चिन्तन प्रक्रिया है और दर्शन फल है। इस लेख में संस्कृत-साहित्य में निबद्ध ऐसी ही कुछ परिणतियों की चर्चा होगी, परिणति अर्थात फल। इस फल से चिन्तन के वृक्ष अथवा उसके प्रक्रिया-प्रवाह का अनुमान किया जा सकता है। यहाँ रहस्य दर्शन की जिन दृष्टियों या प्रकारों का ब्योरा दिया जा रहा है उनमें आत्मदर्शन या अध्यात्म की भूमि नहीं है। यह तो उपनिषद्-वाङ्मय का क्षेत्र है। इससे भिन्न सृष्टिचक्र, ज्योतिष की काल-गणना, पृथ्वी का रहस्य, कवि की रचना-प्रक्रिया के अज्ञेय पक्ष इस लेख के विषय हैं। इनसे सम्बद्ध कतिपय सन्दर्भों का उल्लेख उनके विवरण के साथ दिया जा रहा है।

(1) पहला सन्दर्भ विष्णुपुराण का है जो सृष्टिचक्र और काल-गणना के रहस्य को उद्घाटित करता है। पुराणकार वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन कर रहा है। इस वंश में रैवत ककुद्मी नामक राजा हुआ। उसको एक कन्या थी जिसका नाम रेवती था। रेवती बहुत दर्शनीय थी। वह किसको दी जाए, इस चिन्ता से आकुल होकर राजा रैवत ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के पास पहुँचा। राजा की राजधानी भारतवर्ष में कुशस्थली थी (विष्णुपुराण अंश 1, अध्याय 1, 65-96)। ब्रह्मा के पास उस समय हाहा हूहू-गन्धर्व अतितान नामक दित्य गान गा रहे थे। राजा भी कन्या के साथ बैठकर गान सुनने लगा। गान समाप्त हुआ, राजा को लगा कि एक मुहूर्त समय बीता है। ब्रह्मा ने राजा से आने का कारण पूछा। राजा ने रेवती कन्या के योग्य वर जानने की इच्छा प्रकट की। राजा ने कई योग्य वरों के नाम भी गिनाए। तब ब्रह्मा ने कहा—राजन्! तुम्हारे जानते गन्धर्वों के गान में एक मुहूर्त अब बीता है पर पृथ्वी में तो कई बार युग बीत गए और अट्ठाइसवें मनु का चतुर्युग समाप्त हो रहा है, कलियुग का आरम्भ होने वाला है। तुमने जिन वर्णों के नाम गिनाए हैं उनके पुत्र-पौत्र भी अब वहाँ नहीं हैं, वे नगर भी अब नहीं हैं। तुम्हारी कुशस्थली राजधानी के स्थान पर अब द्वारकापुरी है। वहाँ भगवान विष्णु के अंश बलदेव अवतरित हैं। तुम अपनी रत्नस्वरूप कन्या का विवाह बलदेव से कर दो—

ततः किंचिदवनताशिरास्सास्मितं भगवानाब्जियोनि राह—य एते भवतोऽभिमता नै तेषां साम्प्रतं पुत्र-पौत्रापत्यापत्य सन्ततिरस्त्यबनोतले। बसूनि तवात्रैव गान्धर्व श्रण्वतश्चतुर्युगान्यतीतानि। साम्प्रतं महीतलेष्टाविंशति तम मनोश्चतुर्युगमतीतप्रायं वर्तते। आसभो हि कलिः ।....

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुशस्थली या तव भूपरम्या
पुरी पुराभूदमरावतीव।
सा द्वारका सम्प्रति तत्र चास्ते
स केशवांशो बलदेवनामा॥
श्लाघ्यो वरोऽसौ तनया तवेयं
स्त्रीरत्नभूता सदृशो हि योगः॥
(विष्णुपुराण अंश 4, अध्याय 1/74-11, 91-92)

राजा पृथ्वीतल पर आया। यहाँ उसके कोई भी परिचित प्राणी अथवा प्रकृति के स्वरूप नहीं रह गए थे। मनुष्य छोटे तथा तेजोहीन दिखायी पड़ रहे थे। राजा ने रेवती कन्या का विवाह बलदेव से कर दिया। बलदेव ने देखा कि वह कन्या उससे ज्यादा ऊँची है, तब उन्होंने अपने हल के अग्रभाग से दबा कर उसे नीची अर्थात अपने समकक्ष लम्बाई कर दी। (1/1/95)

विष्णपुराण का यह सन्दर्भ सौरमण्डल अथवा नक्षत्रमण्डल में काल के विपरिणाम का रहस्य प्रकट करता है। सृष्टि की चेतना के दो पक्ष हैं—एक है आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। दूसरा है—आत्मा, मन, दिक् और काल। दूसरा पक्ष ही सृष्टि की चेतना का पक्ष है, इसमें आत्मा और मन सतत क्रियाकारिता को तथा दिक्, काल, सृष्टि के असीयान्, महीयान् स्वरूप को गतिमान बनाए हुए हैं। इसकी गति का रहस्य अछोर है। ज्योतिष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गणना भी यहाँ मौन हो जाती है। पृथ्वी के कई चतुर्युग ब्रह्मलोक (सृष्टि के किसी केन्द्रीभूतलोक) में एक मुहूर्त-दो दण्ड (48 मिनट) के ही बराबर हैं। विष्णुपुराण सम्भवतः प्रथम पुराण है, काल के रहस्य भरे विपरिणाम को इसमें कथा के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। कथा-विवाह-कथा की पृष्ठभूमि होने से यह कथा-साहित्य की रचना है।

विष्णुपुराण का यह कथन कितना सत्य है, इस तथ्य को समझने के लिए वेद-विज्ञान का एक सिद्धान्त उद्धृत किया जाता है। महामहोपाध्याय पं० मधुसूदन ओझा (सन् 1866 ई०-1939 ई०) ने अपने 'वेदविज्ञान-विद्युत' ग्रन्थ में सप्तलोक विभाग का विवेचन किया है। इस विवेचन में तीन द्युलोक और तीन पृथ्वी के सृष्टि विज्ञान को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"और पुनः प्रत्येक लोक में त्रिविधता है। यह त्रिलोकी तीन भेदों में विभक्त है। यह भूमि जिस पर हम रहते हैं, पृथ्वी है। सूर्य द्युलोक है। बीच के अन्तरिक्ष के साथ यह प्रथम त्रिलोकी है। इसका नाम रोदसी है।"

"इसी प्रकार आगे की त्रिलोकी में सूर्य पृथ्वी है, परमेष्ठी द्युलोक है। इस प्रकार ये दोनों द्यावापृथ्वी हुए, और बीच के अन्तरिक्ष के साथ द्वितीया त्रिलोकी बनाते हैं, उसका नाम क्रन्दसी है।

"आगे इसी प्रकार परमेष्ठी पृथ्वी हो जाते हैं, स्वयम्भू उनका द्युलोक होता है। ये दोनों द्यावापृथ्वी हुए, बीच के अन्तरिक्ष के साथ तीसरी त्रिलोकी बनाते हैं। इसका नाम संयती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

''तीन पृथ्वी, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं—यह बात भगवान वशिष्ठ ने परमेष्ठी वरुणदेव की स्तुति में कही है—इसके मध्य में तीन द्युलोक हैं, ऊपर छह विधानों वाली तीन भूमियाँ हैं। ग्रत्स राजा वरुण ने स्वर्ग में दृश्यमान उस हिरण्यमय शुभ लोकों को रचा।''

तिस्रः पृथिव्यः त्रीण्यन्तरिक्षाणि। तिस्रो द्यावः। इत्याह भगवान् वसिष्ठो मध्यमस्थ परमेष्ठिनो वरुणास्थ दिवः स्तुतौ—

तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्
तिस्रो भूमीरूपराः षड् विधानाः।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं
दिवि प्रेङ्खं हिरण्यमयं शुभेकम्॥

इनमें प्रत्येक पृथ्वी अपने द्युलोक की परिक्रमा करती है और इस परिक्रमा में ही इस हमारी पृथ्वी और दूसरी पृथ्वी (द्युलोक से पृथ्वी का स्थान ग्रहण कर लेने वाली) के काल-परिमाण में महत अन्तर आ जाता है। तीसरी पृथ्वी में और इस पृथ्वी के परिमाण में युगों और मुहूर्त का अन्तर हो जाता है। इस परिक्रमा (पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा) के क्रमशः परिवर्तित तारा-पिण्डों का अन्त नहीं है। यह सब कुछ सृष्टि-चक्र में दिक् और काल का रहस्यदर्शन है।

(2) जैसा कि ऊपर कहा गया है और ज्योतिष-चक्र की सूक्ष्म गणना का निष्कर्ष है। सूर्य अपने पूरे सौरमण्डल को लेकर बड़े वेग से किसी की परिक्रमा में चला जा रहा है (कदाचित परमेष्ठी की परिक्रमा करता है) और परिक्रमा में दो करोड़ वर्ष से भी ऊपर लगते होंगे एवं ऐसी स्थिति में वह ब्रह्माण्ड के जिन तारा-लोकों के सन्निकर्षण से गुजरता होगा उसका प्रभाव उसके सौरमण्डल पर पड़ता होगा। इस प्रभाव से पृथ्वी ही अधिक प्रभावित होती होगी क्योंकि यह चेतन-प्राणियों का निवास है। ज्योतिष के अगाध पण्डित वैष्णव रहे हैं, पुराण भी उन्होंने ही लिखे हैं, इस प्रभाव के आकलन में ही प्रलय, खण्डप्रलय और सृष्टि का वर्णन किया जाता है, लेकिन लघु (छोटे) प्रभावों का भी वर्णन है, जैसे पुराण का वाक्य है—

कलौ दश सहस्राणि हरिस्त्यजति मेदिनीम्।
तदर्धं जाह्नवीं तोयं तदर्धं ग्राम देवताः॥

अर्थात कलियुग के जब दस हजार वर्ष बीत जाएंगे तब पृथ्वी पर विष्णु की सत्ता को अस्वीकार कर दिया जाएगा। उसका आधा पाँच हजार वर्ष बीत जाने पर गंगाजल पृथ्वी पर नहीं रहेगा (आज गंगा के जल में प्रदूषण आ ही गया है) और उसका आधा ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर ग्राम देवता पृथ्वी छोड़ देंगे।

इस पुराण वाक्य के अनुसार आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ग्राम-देवता, वन-देवता आदि का अस्तित्व पृथ्वी पर था। गुणाढ्य की वृत्तकथा में वेताल का वर्णन इसी कोटि का है। राजा विक्रमादित्य शिंशपा वृक्ष से वेताल को पकड़कर श्मसान की ओर अपने गुरु योगी की सिद्धि के लिए ले जाते हैं (कथासरित्सागर, लम्बक 12/तरंग 8-32)।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के चौथे अंक में शकुन्तला की विदाई के समय वृक्ष के वन-देवताओं ने वस्त्र और आभूषण प्रदान किए थे—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

ऋषि कुमार ने कहा कि मैं ऋषि कण्व की आज्ञा से वृक्षों से फूल-पत्ते लेने के लिए गया था, कि शकुन्तला की विदाई जानकर वृक्षों में स्थित वन देवताओं ने स्वयं उपहार दे दिए, किसी वृक्ष ने मांगल्य पाण्डुवर्ण का रेशमी वस्त्र दिया, किसी ने पैर में लगाने का लाक्षारस (महावर) तथा अन्य वृक्षों ने, जिनकी डालियों से वनदेवताओं के लाल करतल बाहर दिखायी पड़ रहे थे, विविध आभूषण प्रदान किए हैं।

इसे आज हम केवल आलंकारिक वर्णन ही कहेंगे पर यह उस काल में पृथ्वी पर ग्राम या वन देवता की सत्ता का वर्णन है। आज विज्ञान के जो चमत्कार धरती पर हैं, उस अतीत में इसकी कल्पना नहीं थी। आज जिनका अभाव है उन वन देवताओं की सत्ता हमें भी झूठी प्रतीत होती है। पृथ्वी पर ऐसी सत्ताओं का उदय, चाहे वह विज्ञान के क्षेत्र में हो या वन-ग्राम के देवता हों, तारालोक का पृथ्वी के साथ सन्निकर्ष का परिणाम ही है।

(3) रहस्य का अर्थ अनजानी बात का घटनाक्रम है, जिसकी उपस्थिति हम नहीं जान पाते। साहित्य का रचनाकार भी नहीं जान पाता, किन्तु उसकी कृति में ऐसे रहस्य की विद्यमानता समग्र रूप से होती है। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कवि अश्वघोष के महाकाव्य बुद्धचरित और सौन्दरनन्द तथा ललित विस्तर ऐसी ही महनीय कृति है सहज रचना है जो सहज प्रवाह में घटमान होती गई है। इसीलिए इनसे सत्य का तिरोधान नहीं हुआ है। रहस्य का अर्थ है चरम सत्य। इन कृतियों में बुद्ध के जीवन में नारी के अमोघ सत्य का उद्घाटन हुआ है बुद्ध नारी की ही परिक्रमा कर रहे हैं, वे निर्वाण के सत्य की खोज में निकले हैं। घर में पत्नी यशोधरा का तिरस्कार कर, छोटे शिशु की अवहेलना कर राजभवन से बाहर हुए। गंगापार हुए, कई साधकों, तपस्वियों से मिले। कोई उपलब्धि नहीं हुई। लेकिन जब उन्होंने पीपल वृक्ष के नीचे उपवास में बैठकर नारी (गोपों के मुखिया की लड़की) सुजाता की खीर खायी, उसके तत्काल ही उनके हृदय में ज्ञान का चरम सत्य उदय हो गया, उन्होंने मार को पराजित कर दिया। वे इसके अहंकार से फूल उठे, सोचने लगे कि अब मुझे अपनी यह ज्ञानोपलब्धि उनको बतानी चाहिए जो अब तक असफल ही तपस्या कर रहे हैं। उस समय उनको रुद्रक रामपुत्र का स्मरण हुआ, किन्तु ध्यान करने पर उनको ज्ञात हुआ एक सप्ताह पूर्व उनकी मृत्यु हो चुकी थी, पुनः उसकी स्मृति में आराड़ कालाप आए किन्तु उनकी मृत्यु तीन दिन पूर्व हो चुकी थी। गौतम बुद्ध ने सोचा कि उनकी मृत्यु हो जाने से उन दोनों को धर्म का यह बोध नहीं हुआ और उनके धर्म की बड़ी हानि हुई। अब उन्होंने अपनी इस धर्मदेशना के प्रसार हेतु वाराणसी जाने का निश्चय किया—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सा च ग्रामीण-दुहिता पूर्वं चरितवती नाम्ना सुजाता रति यंज्ञ नित्यं यजन्त्येवंमना: सिध्येद् व्रतं नायकस्य। उपगम्य नद्यास्तीरे दृष्टमनसा नैरजनाया: स्थिता: ॥ दत्त्वा भोजनं सा सुजाता मतिमती स्वर्णमये भाजने, वन्दित्वा चरणौ सा प्रमुदिता परिभुक्ष्व मे सारथे।

दत्त्वा भोजनु सा सुजात मतिमां स्वर्णामये भाजने
वन्दित्वा चरणानि सा प्रमुदिता परिभुङ्क्ष्व मे सारथे।
वाराणसीं गमिष्यामि गत्वा वै काशिनां पुरीम्।
अन्धभूतस्य लोकस्य कर्त्तारस्म्यसदृशां प्रभाम् ॥

(ललितविस्तर-नैरञ्जनापरिवर्त $848^1/_2$, धर्मचक्रप्रवर्तन परिवर्त 1423)

गौतम बुद्ध की इस ज्ञान-सिद्धि का स्रोत सुजाता की खीर में है।

अश्वघोष के सौन्दरनन्द महाकाव्य में भी बुद्ध अपने सौतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के वृत्त को लेकर अपने ज्ञान के साथ नारी के घेरे में आ जाते हैं। वह इस प्रकार से—वे ज्ञान से दीप्तिमान होकर वाराणसी से चलकर श्रावस्ती में अपने शिष्यों के साथ अनाथपिण्डक के अतिथि बने और सम्भवत: यह प्रकट करने के लिए कि मैंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, अपने पिता के नगर कपिलवस्तु पहुँच गए। वहाँ पहुँचने पर उनको ज्ञात हुआ कि उनका सौतेला भाई नन्द अपनी रूपवती पत्नी सुन्दरी में अत्यन्त आसक्त है। एक दिन वे उसके यहाँ भिक्षा लेने पहुँचे। नन्द की पत्नी कपोल पर फूल-पत्ते बना रही थी, नन्द उसे दर्पण दिखा रहा था। जब उसे मालूम हुआ कि तथागत आए हैं, वह तत्काल जाने को उद्यत हुआ। पत्नी ने कहा जाओ पर शीघ्र आ जाना जब तक कपोल का विशेषक (चित्र) नहीं सूख जाता। नन्द ने जाकर तथागत को प्रणाम किया, तथागत ने अपना कमण्डलु उसके हाथ में दे दिया। लाचार होकर नन्द को उसके साथ जाना पड़ा। जाने पर भिक्षु-निवास से उन्होंने नन्द को आने नहीं दिया। उसकी पत्नी यहाँ व्याकुल और फिर अचेत हो गई। चार-पाँच दिन बीत गए, तब बुद्ध ने हठात नन्द के केश मुँडवाकर उसको भिक्षु बना दिया, नन्द रोता रहा, अपनी पत्नी के लिए रोता रहा। यहाँ पर तथागत बुद्ध का कुछ ऐसा ज्ञान-चमत्कार होना चाहिए था कि नन्द के अन्त:चक्षु खुल जाते और वह रोना बन्द कर देता, पर ऐसा नहीं हुआ। कई दिन बीत गए। एक दिन बुद्ध नन्द को लेकर हिमालय के शिखर पर चढ़ने लगे, मार्ग में वृक्ष पर बैठी एक आँख से कानी बन्दरी दिखाई पड़ी। बुद्ध ने पूछा नन्द! इस बन्दरी और जिसके लिए तुम रो रहे हो वह जन (तुम्हारी प्रिया) दोनों में कौन सुन्दर है? नन्द पत्नी को यादकर चैतन्य हो उठा, बोला—यह बन्दरी जो अपनी एक आँख से इस पर्वत को दु:खी बना रही है, क्लेशकरी है, इससे मेरी पत्नी की क्या तुलना? तथागत आगे बढ़े, ऊपर शिखर के आगे इन्द्र के नन्दनवन में अप्सराओं के लोक में पहुँच गए। अति रूपवती अप्सराएँ अपने नृत्य-संगीत में मुग्ध थीं। नन्द उनको देखकर आकृष्ट हो गया। बुद्ध ने पूछा—इन अप्सराओं और तुम्हारे जन (प्रिया) में कौन सुन्दर है। नन्द ने आनन्द-मिश्रित आश्चर्य में कहा, अब बन्दरी और मेरी प्रिय में जो दूरी है, वह दूरी अब मेरी उस प्रिया और इन अप्सराओं में है। फिर उसने बुद्ध से जानना चाहा कि ये अप्सराएँ कैसे मिलती हैं, बुद्ध ने कहा—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तपस्या से। नन्द का मन प्रिया से हटकर अप्सराओं की ओर आकृष्ट हुआ और उसके लिए उसने तप करने का निश्चय किया। बुद्ध उसको इस प्रकार पत्नी से विरत कर उसे लेकर लौट आए। और वह अप्सराओं में अनुसम हो गया—

मत्वा ततो नन्दमुदीराशिगं
भार्यानुरोधादपवृत्तरागम्। (सौन्दर० 10/47)

उसके तप करते समय एक दिन बुद्ध के शिष्य आनन्द ने आकर प्रश्न किया, नन्द! क्या तुम अप्सराओं के लिए तप कर रहे हो। तो तुम्हारा तप व्यर्थ है। अप्सराएँ तो मिल जाएँगी पर सुख-भोग के बाद तुम पुनः इस लोक में गिरा दिए जाओगे। इसलिए ज्ञान के लिए, निर्वाण के लिए तप करो। जो हो, वह कदाचित वह ज्ञान के लिए तप करने लगा।

अब प्रश्न उठता है कि इस तप की प्रेरणा का स्रोत कहाँ है? कानी बन्दरी और अप्सराओं में। नारी को उद्धृत कर उसी का सहारा लेकर गौतम बुद्ध नन्द को उपदेश देता है, उसको ज्ञान प्राप्त हुआ या नहीं, यह बात अश्वघोष जानते होंगे। क्योंकि उनका आराध्य धर्मचक्र का प्रवर्तक नारी के घेरे में खड़ा है, नन्द की पत्नी सुन्दरी विषयासक्त है तो बुद्ध को उससे क्या लेना-देना, नन्द रो रहा हो तो उसको भिक्षु बनाने से क्या लाभ? क्या इससे यह नहीं प्रकट होता कि बुद्ध का हृदय नन्द और उसकी सुन्दरी के प्रति ईर्ष्या से ओत-प्रोत था। घटना बीत चुकी थी, उससे कोई अचूक उपदेश नहीं प्राप्त होता, जो भी इस काव्य को पढ़ता है उसकी सहानुभूति सुन्दरी के प्रति हो जाती है। तब इस घटना-वृत्त पर काव्यरचना करने की आवश्यकता अश्वघोष को क्यों हुई, इसलिए हुई कि सम्राट कनिष्क का गुरु अश्वघोष भी कहीं-न-कहीं से सुन्दरी के प्रति सहानुभूति से भींग रहा था, क्योंकि काव्य के अन्त में उपसंहार करते हुए वह लिखता है—

इत्येषा व्युपशान्तये नरतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥
(सौन्दरनन्द सर्ग 18/61)

अर्थात मोक्षधर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह काव्य आत्मशान्ति के लिए है, काम-राग के लिए नहीं। शान्ति के प्रति अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए यह शान्ति-कथा काव्य-मार्ग से मैंने निबद्ध की है। मोक्ष-धर्म के अतिरिक्त यहाँ जो कुछ मैंने राग-अनुराग की बातें कही हैं वह सब काव्यधर्म का अनुसरण करते हुए कही हैं। वह इसलिए भी कही हैं कि मोक्ष के तिक्त (कटु) औषधि को पीने के लिए उसमें मधु मिलाना था, अन्यथा औषधि रुचिकर न होती।

इस प्रकार इस समग्र प्रकरण में बुद्ध नारी का तिरस्कार कर पुनः उसी के वृत्त में घिर जाते हैं। कवि अश्वघोष भी जो यह कहते हैं कि इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः। इस पद की व्याख्या में सरस्वती-उक्तार्थ 'न' का अन्वय 'व्युपशान्तये' के साथ करता है और अर्थ हो जाता है कि मोक्षार्थगर्भा यह कृति काम राग (रतये) के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लिए है। व्यपशान्तये न = मोक्षशान्ति के लिए नहीं और यह सत्य है कि पाठक सुन्दरी और नन्द के राग-विराग के कौतुक में ही इस काव्य को पढ़ता है। इस तरह ऊपर कुछ है और अन्तर्गूढ़ भाषा का रहस्यदर्शन कुछ है।

(4) 'श्री कृष्णकर्णामृत' भक्तकवि विल्वमंगल की अत्यन्त प्रसिद्ध कमनीय कृति है। कवि का समय 11वीं शती ईस्वी है। ये केरल प्रदेश के रहने वाले थे। किसी प्रेयसी के प्रति इनका अपार स्नेह-समुद्र उलट कर श्री कृष्ण के चरणों में अर्पित हो उठा। उस दन्तकथा का सार-संक्षेप तथा रहस्यमय घटमान चक्र यह है कि इनके हृदय में जो उन्मत्त काम था उस काम की नदी को इन्होंने काम के गंभीर अथाह समुद्र भगवान श्री कृष्ण के भुवनमोहन रूप में विलीन कर दिया। नदी को समुद्र में संगम कराकर उसका अस्तित्व समाप्त कर दिया तथा स्वयं कवि श्री कृष्ण के चरणों में बैठकर, समुद्र के तट पर खड़ा होकर श्री कृष्ण की उस विराट काम-लीला को देख रहा था। जिस लीला में उसके काम-राग की धूलि का कहीं अता-पता नहीं है, जो कुछ भी विराट है वह भगवान का स्वरूप है। गीता के दशम अध्याय में यही बात कही गई है। विल्वमंगल ने प्रकारान्तर से काम के उस विराट रूप को देखा और उसी में अपने काम-रोग को आत्मसात (विलीन) कर दिया। भक्तकवि के काव्य शब्दार्थ का यह विलक्षण रहस्य है। इस रहस्यदर्शन को स्पष्ट करने के लिए दो छन्द उद्धृत किए जाते हैं—

अस्ति स्वस्तरुणी कराग्रविगलत् कल्पप्रसूनाप्लुतं
वस्तु प्रस्तुत वेणु नादलहरी निर्वाण निर्व्याकुलम्।
स्रस्त स्रस्त निबद्ध नीवि विलसद् गोपी सहस्रावृतं
हस्त न्यस्त नतापवर्ग मखिलोदारं किशोराकृति॥

(श्रीकृष्ण कर्णामृत 2)

अर्थात वंशी बजाते हुए कृष्ण आनन्द की लहरी में झूम रहे हैं, स्वर्ग की तरुणी-देवांगनाओं ने कल्पवृक्ष के फूल बरसा कर उनको ढँक दिया हं, हजार गोपियाँ उनको काम-विलास में घेरी हुई हैं, गोपियों के कटि-वस्त्र की गाँठ बार-बार खुलती जा रही है और वे उसे सँभालती हुईं मुग्ध भाव से खड़ी हैं, ऐसे किशोराकृति भगवान कृष्ण की शरण में जो हैं, मोक्ष (अपवर्ग) शिर झुकाकर, उसके हाथ में रखा है। कवि भी उनके शरणागत है।

दूसरा छन्द है—

कल क्वणित कंकणं कर निरुद्ध पीताम्बरं
कलम प्रसृत कुन्तलं गलितबर्हभूषं विभोः।
पुनः प्रकृतिचापलं प्रणयिनीभुजा यन्त्रित
मम स्फुरतु मानसे मदनकेलि शय्योत्थितम्॥

(श्रीकृष्ण कर्णामृत, 20)

मदनकेलि की शय्या से उठे हुए कृष्ण के मोहक रूप का वर्णन कवि कर रहा है—कृष्ण अपनी चंचलता नहीं छोड़ रहे हैं, उठकर चलना चाहते हैं। प्रणयिनी गोपी उनको अपनी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भुजाओं में कसी हुई है, उनको छोड़ना नहीं चाहती है। इस घटनाक्रम में कंकणों की मधुर झनकार हो रही है, पीताम्बर छूट रहा है, कृष्ण उसे हाथ में पकड़े हुए हैं, भ्रम के कारण बाल बिखर गए हैं और मोर पंख नीचे लटक गया है। कवि की कामना है कि कृष्ण का यह मोहक रूप उसके हृदय में सदा के लिए प्रकाशित होता रहे।

क्यों प्रकाशित होता रहे? इसका रहस्य-दर्शन यह है कि इस प्रकाश में कवि का सांसारिक लघुतम काम-विलास काम के इस विराट पवित्र भगवद रूप में प्रकाश की धूलि बनकर उसी में समा जाएगा। सदा के लिए उसकी इति हो जाएगी। लोहा लोहे को काटता है। काम का विराट रूप उसके सांसारिक काम-विलास को बिना घूँट के ही पी जाएगा। अपना पेय बना लेगा।

(5) कालिदास संस्कृत के सिद्ध सारस्वत कवि हैं, उनकी प्रसिद्ध कृति 'रघुवंश' महाकाव्य काव्य के विराट ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, उपमा अलंकार से लेकर सार्ग, गुण, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति तक के काव्य-सौन्दर्य तो उसे अलंकृत करते ही हैं, वर्तमान काल के काव्य-चिन्तकों की नई सौन्दर्य दृष्टियाँ भी उसमें डूब जाती हैं और सौन्दर्य का अन्त नहीं मिलता। राष्ट्रीयता की जैसी अभिव्यक्ति, राष्ट्र के स्वरूप का हिमालय से कन्याकुमारी तक, पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक जो अंकन कालिदास ने इस महाकाव्य में किया है वह अन्यत्र नहीं है। पर इस महाकाव्य का विलक्षण और रोचक पक्ष कुछ दूसरा ही है, वरञ्च यह कहना चाहिए कि इसकी महाप्राणता जहाँ से स्फुरित हो रही है, वह है काव्य की कथा की अद्‌भुत संघटना।

इस संघटना का स्फुट परिचय दिया जाता है। इस महाकाव्य में कवि को रघुकुल के महान राजाओं का परिचय दिया जाना इष्ट है। जिन राजाओं ने धर्म तथा प्रजा के पालन में अपना जीवन व्यतीत किया, जिनका शौर्य समुद्र के तट तथा स्वर्ग की भूमि तक एक समान छाया रहा, उनके रथ अबाधरूप से दोनों सीमाओं तक जाते थे। उन्होंने विधिपूर्वक यह किया। अर्थियों का मनोरथ पूरा किया, अपराधियों को दण्ड दिया तथा समय रहते वे सब कुछ करने के लिए प्रबुद्ध रहते थे—

आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथ वर्त्मनाम्॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्। (रघु० 1/5-6)

उनके उदात्त चरित की अनेक विशेषताएँ थीं। सबसे बड़ी विशेषता उनका जीवन तपःशील था, युवावस्था तक ही वे कामराग के अनुरागी थे तथा योगबल से शरीर का त्याग करते थे—

शैशवेभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघु० 1/8)

उस कुल में दिलीप जैसा राजा हुआ, वह राजाओं में प्रथम था, जैसे वेदों में प्रणव (ॐ), उसकी मैत्री इन्द्र से थी। वह मूर्तिमान क्षात्रधर्म था—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ (1) (16)

लगता था जैसे ब्रह्मा ने पाँच महाभूतों की समाधि में बैठकर उसकी रचना की हो। (1/29)। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी, धर्म और सत्य अपने प्रकाश में प्रकाशित हो रहे थे। अब कुछ कहने को शेष नहीं था।

पर जो कुछ कहना था, वही रहस्यमय था, उसको कवि जानता था। रहस्य यह था कि सब तरह से अपने में परिपूर्ण, धर्म और सत्य में स्थित राजा को पुत्र नहीं हुआ, उसकी पत्नी सुदक्षिणा सब प्रकार से राजलक्ष्मी थी, पुत्र न होना आश्चर्य की बात थी, धर्म का रहस्य था—

तस्यामात्मानुरूपायाम् आत्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ (रघु० 1/33)

(अपने अनुकूल उस राजरानी सुदक्षिणा में पुत्रजन्म की इच्छा से बहुत विलम्ब हुआ, समय बीत गया, पुत्र ने जन्म नहीं लिया।)

पुत्र की कामना से राजा ने रानी के साथ गुरु वशिष्ठ के आश्रम की ओर प्रस्थान किया।

गुरु के आदेश से नन्दिनी गाय की सेवा से उसको रघु नामक प्रतापी पुत्र हुआ। कवि ने रघु, अज, दशरथ, राम, कुश आदि राजाओं के शासन के विशिष्ट सन्दर्भों को काव्य की कथा में निबद्ध किया है। तब अन्तिम 19वें सर्ग में उसने राजा अग्निवर्ण का वर्णन किया। अग्निवर्ण ऐसा राजा है जो प्रथमसर्ग में रघुकुल के राजाओं के सारे आदर्शों को धूल-धूसरित कर देता है। कवि ने प्रथम सर्ग में कहा था कि रघुकुल के राजाओं के गुणों को सुनकर मैं उनके यशोगान में प्रवृत्त हो रहा हूँ—

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ (1/9)

पर वह अग्निवर्ण भी उस कुल में उत्पन्न हुआ, जो सब प्रकार से गुणों से हीन है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। और कवि उसका वर्णन कर रहा है। अग्निवर्ण दिन-रात तरुणियों के काम-विलास में डूबा है और अन्त में वह क्षयरोग से ग्रसित होकर निःसन्तान मर गया—

स त्वनेकवनितासखोऽपिसन् पावनीमनवलोक्यऽसन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥

(रघु० 19/53)

राजरोग ने उसको ऐसे ही ग्रस लिया जैसे हवा प्रदीप को बुझा देती है।

रघुवंश का आरम्भ जिन आदर्शों से हुआ, महाकाव्य की समाप्ति का वर्णन उन आदर्शों के विपरीत आचरण से है। पर आरम्भ और अन्त दोनों में सन्तान का अभाव कवि की कथा का केन्द्र है। आरम्भ में दिलीप पुत्र की कामना से गुरु वशिष्ठ के पास जाता है। अन्त में अग्निवर्ण की मृत्यु के बाद अमात्यजन उसकी गर्भवती रानी का ही अभिषेक इस कामना से करते हैं कि इसको पुत्र होगा। और यह भविष्य की बात रही।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

महाकाव्य का आरम्भ और अन्त दोनों एक समान है। तब कौन आरम्भ है और कौन काव्य का अन्त है, इसका निश्चय कैसे हो। कालिदास जैसा महान कवि क्या स्वर्ग से चलकर नरक की ओर अपने पाठकों को ले जाना चाहेगा। जिसने रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अतिथि आदि के महान गुणों का वर्णन किया वह अग्निवर्ण के अपचरित्र का वर्णन क्यों कर रहा है। यदि रघुवंश महाकाव्य 18वें सर्ग में सुदर्शन का वर्णन करके ही समाप्त कर दिया जाता तो महाकाव्य के काव्यत्व में कमी न होती। फिर कवि अग्निवर्ण का काम-कौतुक क्यों वर्णन कर रहा है, आरम्भ के महान संकल्पों के विपरीत काव्य अन्त। यह कवि की रचना का अनजाना रहस्य है।

वैसे महान की क्रियाकारिता अभाव से भाव की ओर जाती है। अर्थात अग्निवर्ण के पास बैठकर महान कवि कालिदास, दिलीप, रघु की कल्पना कर सकता है। लेकिन रघु जैसे महान प्रतापियों का वर्णन कर अग्निवर्ण के पतन का चित्रण उसकी किस रचना-प्रवृत्ति का परिचायक है? यह रहस्य है, यह उसके देश-काल का रहस्य-दर्शन है। विचित्र काव्य है रघुवंश। जिसमें काव्य का अन्त सन्तान के अभाव से, आरम्भ भी सन्तान के अभाव से, बीच में भी सन्तान के अभाव के वर्णन हैं। सन्तान का अभाव ही काव्य का वृत्त है और जब तपस्या या आशीष से सन्तान की प्राप्ति हुई तो महान प्रतापी पुत्र ने जन्म लिया।

इन सब बातों के अतिरिक्त अनबूझा प्रश्न यह रह जाता है कि कवि अपने महाकाव्य का आरम्भ अग्निवर्ण से कर रहा है या दिलीप से? संस्कृत के काव्य-रचना-जगत का यह सबसे विचित्र रहस्य-दर्शन है।

(6) यशस्वी कवि बाण की अति प्रसिद्ध रचना 'कादम्बरी' है। राजा शूद्रक के वर्णन से इसकी कथा आरम्भ होती है। शूद्रक—पूर्व जन्म का चन्द्रापीड—ही इस कादम्बरी का आदि से अन्त तक नायक है। कथा का विचित्र रहस्य शूद्रक के चरित्र-वर्णन में है। वह विदिशा का राजा है। शत्रुओं को जीतकर उसने राज्य को अकण्टक बना रखा। उसके अमात्य सचिव सभी अनुकूल हैं। वह युवावस्था में है, उसके विवाह के अनेक प्रस्ताव हैं, अमात्यजन राजा के विवाह की अभिलाषा लिए बैठे हैं, वे चाहते हैं कि राजा विवाह करे और सन्तान-परम्परा चले, रति को भी लजाने वाली तरुणियाँ विवाह की इच्छुक हैं, पर राजा शूद्रक विचित्र है। वह युवतियों की तृण के समान उपेक्षा करता है।

तस्य चातिविजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्तमानस्यापि रूपवतोऽपि सन्तानार्थिनिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरत सुखभ्योपरि द्वेष इव आसीत्।

अब प्रश्न था कि राजा की दिनचर्या कैसे बीतती थी? कवि बाण लिखते हैं कि वह शूद्रक स्त्री-सुख से पराङ्मुख होकर समान अवस्थावाले अमात्य-पुत्रों तथा अन्य सुहृदों के साथ घिरा रहकर कभी मुनिजनों की सेवा, कभी पुराण-श्रवण, कभी वीणा-वादन, चित्र-रचना, काव्य-रचना आदि में समय व्यतीत करता था। अब कवि को कुछ कहना शेष नहीं था।

किन्तु एक दिन सूर्य के उदय होते ही जैसे ही राजा शूद्रक अपनी राजसभा में बैठा वैसे ही हाथ में बेत का दण्ड लिये प्रतिहारी ने आकर पृथ्वी पर अपनी करबद्ध अंजलि रखी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और निवेदन किया कि "देव! दक्षिणापथ से एक चाण्डाल कन्या आयी है, पिंजड़े में तोता लिए है, कहती है यह तोता बड़ा आश्चर्यमय है। आपको अर्पित करने के लिए आपका दर्शन करना चाहती है।" राजा को कौतुक हुआ। जबकि वह स्त्रियों से दूर रहना चाहता था, उसको सहज विद्वेष था, और यहाँ सामान्य स्त्री नहीं, चाण्डाल किशोरी है, जिसका स्पर्श तो वर्जित ही था, देखना भी शुभ नहीं था और उस समय वह राजसभा में आना चाह रही है।

बाण किस अन्तर्गूढ़ कथा के अन्तराल के अन्तर में बैठकर कथा के रहस्य का दर्शन कर रहा है, इसको नहीं जाना जा सकता। जो आलोचक यह सोचते होंगे कि बाण ने कथा के सारे सन्दर्भों को सोच-बैठाकर तब कादम्बरी की रचना आरम्भ की होगी, वे भ्रम में हैं। सोच-बैठाकर नहर खोदी जाती है, संजीवनी के रस से परिपूर्ण कलकल प्रवाह की नदी नहीं प्रवाहित होती। कादम्बरी कथा की रसभरी नदी है। वह कवि के किस अन्तर्गिरि से प्रवाहित हो गई, इसको कवि भी नहीं जानता। कवि के अनजाने रचमान अन्तर्मन ने ही इस विपरीत रहस्य-दर्शन को उपस्थित किया—स्त्री-द्वेषी युवा राजा शूद्रक के सामने चाण्डाल कन्या के प्रवेश की समस्या। राजा ने सभा के राजन्यों की ओर देखा, जैसे उसने समझा कि सभी उसके साथ उस चाण्डाल-कन्या को देखना चाहते हैं, तब उसने प्रतिहारी की ओर देखकर आदेश दिया—"क्या दोष है? प्रवेश कराओ" अर्थात-स्त्री तो क्या, चाण्डाल-किशोरी भी है तो क्या हुआ, लिवा आओ। "मुखानि को दोषः प्रवेश्यताम्" इत्यादिदेश। "उपजात कुतूहलस्तु राजा समीपवर्तिनां राज्ञामालोक्य।"

आगे की कथा से 'कादम्बरी' पढ़ने वाले परिचित हैं। पर कादम्बरी-कथा की मूल जीवन्तता का पता इस रहस्य-दर्शन से ही चल जाता है। रहस्य-दर्शन की ऐसी क्षमता सभी कवियों में नहीं होती।

(7) महान कवि श्रीहर्ष (बारहवीं शती ई० का मध्य) संस्कृत के ऐसे कवियों में हैं जिनकी रचना 'नैषधीयचरित' महाकाव्य समीक्षकों की दृष्टि में कल्पनाओं का काव्य-संसार है, सामाजिक या राष्ट्रीय ऐसी किसी विशिष्ट दृष्टि का प्रसार उसमें नहीं दिखाई पड़ता है। वस्तुतः मध्यकाल का निष्क्रिय पाण्डित्य, कुण्ठित समाज-दृष्टि और रूढ़िबद्ध धर्माचरण इस काव्य की वाणी में समाये हुए हैं। इसमें कवि श्रीहर्ष की परवशता थी, जहाँ मनुष्य निवास करता है, वहाँ की हवा में ही उसके श्वास-प्रश्वास चलते हैं। पर इतना सब होते हुए भी उनके महाकाव्य 'नैषधीयचरित' के पठन-पाठन, समालोचना की परम्परा निरन्तर बनी हुई है। वह जीवन्त महाकाव्य है, अमर काव्य है और सदा नवीन रहने वाला अजर काव्य है। क्यों?

इसलिए कि कवि श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा और उनके प्रखर पाण्डित्य से महत्तर काव्य-रचना की उनकी रहस्यदृष्टि है। रहस्यदृष्टि के ऐसे सन्दर्भ उनके महाकाव्य में इने-गिने हैं, पर इससे क्या होता है, एक ही दीपक का प्रकाश गृह को प्रकाशित कर देता है। कवि श्रीहर्ष ने अपने पाण्डित्य का बड़ा दर्प किया है। काव्य के अन्त में व्याकरणज्ञान से हीन पण्डितम्मन्य लोगों को इस महाकाव्य की व्याख्या करने से मना किया है—

प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किन्तु उनकी रहस्यदर्शी दृष्टि की व्याख्या व्याकरण के पण्डित नहीं, साहित्य के मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। उनके ऐसे कुछ रहस्यदर्शी सन्दर्भ महाकाव्य के सर्ग 8, 11, 12 में नल के दूतत्व में, स्वयंवर सभा में दमयन्ती की सखी बनी बाला सरस्वती के रूप-चित्रण में और विवाहोपरान्त दमयन्ती से एकान्त वार्तालाप में नल की मिठासभरी वाणी में देखने को मिलते हैं। स्वयंवर सभा के सर्ग 11, 12 में काशीनरेश तथा अयोध्यानरेश ऋतुपर्णा के वर्णन में कवि ने अपने वर्तमान का, दिल्लीश्वर और मान्यकुब्जेश्वर की प्रतिस्पर्द्धा का तथा काशीनरेश द्वारा अपने सम्मान का प्रतीक वर्णन किया है।

रहस्यखोजी चित्रण बाला सरस्वती के रूप-वर्णन में है। स्वयंवर सभा में दमयन्ती की सखी बनने के लिए सरस्वती ने बाला के रूप में अपने को अवतरित किया है। सरस्वती के इस रूप-वर्णन में श्रीहर्ष ने 'साहित्य' की ऐसी सारभूत परिभाषा आपाततः कर दी है, जो साहित्यशास्त्रियों से सम्भव नहीं हुई है, न हो सकती है, रूपवर्णन के कुछ छन्द हैं—

मध्ये सभं सा वततार बाला
गन्धर्वविद्याधरकण्ठनाला
त्रयीमयी भूतवली-विभङ्गा
साहित्य निर्वर्तितदृक्तरङ्गा॥

आसीदथर्वा त्रिवलित्रिवेदी-
मूलाद्विनिर्गत्य वितायमाना
नानाभिचारोचितमेचकश्रीः
श्रुतिर्यदीयोदररोमरेखा॥

भ्रुवौ दलाभ्यां प्रणवस्य यस्या-
स्तद्बिन्दुना भालतमालपत्रम्
तदर्धचन्द्रेण विधिर्विपञ्ची-
निक्वाणना कोणधनुः प्रणिन्ये॥

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्याः
कराङ्गुली काञ्चनलेखनीयम्
कैश्यं मषीणां स्मितभा कठिन्याः
काये यदीये निरमायि सारैः॥ (नैषधीय० 10/74-75, 86-87)

सरस्वती ने बाला के रूप में स्वयंवर सभा में अपने को अवतरित किया। उनका कण्ठ गन्धर्व और विद्याधर की विद्याएँ थीं, उदर की तीन रेखाएँ तीनों वेद थे तथा आँख की त्रिरंगी चितवन (शुभ्र, काली, लाल) साहित्य था। उदर के त्रिवलय से जो रोमरेखा निकल कर नीचे की ओर जा रही थी, अनेक अभिचार विद्याओं की जननी वह अथर्वश्रुति थी। प्रणव (ॐ) के दोनों दल सरस्वती की दोनों भौहें थीं, ऊपर का बिन्दु भाल का तिलक था और प्रणव का ऊपर का अर्धचन्द्र सरस्वती के लिए वीणा बजाने का कोणधनु बना था। कानों के दोनों कुण्डल लिपि में समाप्ति के सूचक वृत्त (0) थे। सुवर्ण-लेखनी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के सार से हाथ की अँगुलियाँ निर्मित हुई थीं। स्याही के सार अंश से केश निर्मित थे। सरस्वती की उज्ज्वल हँसी दुधिया (लिखने की सफेद खड़िया) का सार अंश थी।

इस रूप-चित्रण में साहित्य के स्वरूप का रहस्य-दर्शन अनोखी बात है—"साहित्य निर्वर्तित हक् तरंगा"—सरस्वती की आँखों की चितवन ही साहित्य है। साहित्य ने सरस्वती की आँखों में चितवन के रूप में जन्म लिया। अथवा समग्ररूप से साहित्य और उसके भाव ही सरस्वती की आँखें और चितवन हैं। थोड़ा इसी बात को विस्तार में ले लेते हैं, तो कहा जाएगा कि चितवन-दृक्तरंगों का लक्ष्य क्या है अर्थात चितवन देखना क्या चाहती है? चितवन सौन्दर्य देखती है। स्वयंवर सभा में सरस्वती ने अपने को इसीलिए अवतरित किया था कि वह दमयन्ती के अनुरूप सौन्दर्य को देख सके और उसे बताए।

साहित्य सौन्दर्य का द्रष्टा होता है और वह ऐसा द्रष्टा है कि सौन्दर्य को देखकर उसे आत्मसात कर अपना रूप बना लेता है। साहित्य की दृक्तरंगें अपने ही प्रतिबिम्ब को चारों ओर और अन्त: में देखती हैं—विराट से सूक्ष्म तक। तभी साहित्य सरस्वती का नेत्र है—साहित्य निर्वर्तितहक् तरंगा।

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

8

आगमिक रहस्यवाद

शीतलाप्रसाद पाण्डेय

मनुष्यो में जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह विभिन्न बाह्य पदार्थों में होने वाले परिवर्तनों के कारणों को जानने की चेष्टा करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वर्षा, प्रभञ्जन तथा प्राकृतिक विक्षोभ देखकर मनुष्य के मन में यह जानने की इच्छा प्रकट हुई कि इसके पीछे कारण क्या है? और यही ज्ञेय धारणा रहस्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हुई। कारण यह है कि जो कुछ ऊपर दिखाई देता है, वह स्वत: चालित नहीं होता। उसे कोई अन्तर्निहित शक्ति गति प्रदान करती है। यही कारण है कि भारतवर्ष में सूर्योदय, सूर्यास्त, प्रकृति के विभिन्न प्रकार की ऋतुओं में परिवर्तन के पीछे पूर्व मनीषियों ने एक अज्ञात शक्ति का बोध किया[1] और उसे इन्हीं बाह्य माध्यमों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया गया। यही कारण है कि प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व को देवरूप में स्वीकृत किया गया।[2] जिसके कारण वैदिक वाङ्मय में अग्नि, इन्द्र. ऊषा, वरुण, अश्विनी कुमार और सविता आदि देवताओं के प्रति प्रार्थना के सूक्त उपलब्ध होते हैं। कालान्तर में इन अनेक देवताओं के अन्दर रहने वाली एक ही शक्ति का ऋषियों को ज्ञान हुआ और उन्होंने "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"[3] का उद्घोष किया।

इसी एकत्व के प्रतिपादन में वेद का उपनिषद् भाग ऋषियों की अनेक अनुभूतियों से ओत-प्रोत है। उसे आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर आदि नाम दिए गए। कठोपनिषद् के ऋषि ने यह अनुभव किया कि एक ही तत्त्व से सृष्टि का आविर्भाव होता है और पूरी सृष्टि का उसी में अन्तत: तिरोभाव हो जाता है। हम उसे इन स्थूल चक्षुओं या ज्ञानेन्द्रियों से नहीं देख पाते क्योंकि स्वयंभू ने पंचज्ञानेन्द्रियों को, जो अन्तर्मुखी थीं, काटकर बाहर देखने के योग्य बना दिया[4]। अत: इस रहस्य को जानने के लिए अथवा व्यापक तथा बहुरूपिये संसार के भीतर स्थित परमतत्त्व को अवगत करने के लिए, ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्मुखी करना आवश्यक है। औपनिषदिक ज्ञान दया अथवा करुणा नहीं है। यह एक अन्तरानुभूति है, जिसमें बिना किसी मध्यस्थ की सहायता के सत्य अपने को अनावृत्त करता है। ज्ञान से मुक्ति मिलती है। सत्य के साथ स्वत: अभेद सम्बन्ध होता है। भेद दृष्टि अज्ञान का प्रतीक है। यह मनुष्य से मनुष्य का तथा मनुष्य का ब्रह्म से भेद कराती है।

---

1. "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्" —*ऋग्वेद,* 10-190-1
2. अभिमानिरव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्, *बादरायण सूत्र* 2/1/5
3. *ऋग्वेद,* 1-164-46
4. *कठोपनिषद्,* द्वितीय अध्याय, प्रथम वल्ली, प्रथम श्लोक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करुणा से साहचर्य होता है किन्तु ज्ञान से स्वरूपानुभूति।[1] इस पद्धति को उपासना, अर्चना, वरिवस्था, शरणागति, समर्पण आदि अनेक नामों से जाना जाता है। "भिन्न रुचिर्हि लोक:" के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक विचारशील व्यक्ति ने इस एक ही तत्त्व को जानने के लिए अनेक प्रकार से यत्न करके अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया—

रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको[2]

अर्थात जिस प्रकार पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ विभिन्न मार्गों से होकर समुद्र में ही जाती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक साधक विभिन्न प्रकार की साधनाओं से युक्त होता हुआ अपना लक्ष्य एक ही तत्त्व को बनाता है।

भारतीय चिन्तन-पद्धति में दो प्रकार के मार्ग स्पष्टतया स्वीकार किए गए हैं—प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का साधक प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता हुआ उसे परमात्मा का स्वरूप मानता हुआ अभेद दृष्टि से उस परमतत्त्व में अपने को समर्पित कर देता है, किन्तु निवृत्ति मार्ग वाला साधक सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ को उपाधि-मात्र मानता हुआ उनसे अपने को असंपृक्त करके उस परमतत्त्व में मिल जाने की उसी प्रकार की कामना करता है, जिस प्रकार कमरे में बन्द आकाश को बाहरी दीवालें गिराकर विस्तृत आकाश से मिला दिया जाता है।

जैन तथा बौद्ध क्रमश: तपस्या तथा नि:स्वभावता का अधिगम कर कैवल्य अथवा निर्वाण की ओर अग्रसर होते हैं किन्तु अन्य दर्शन उस परमसत्ता को प्राप्त करने के लिए कभी उसे कर्ता मानकर, कभी कर्म मानकर, कभी प्रकृति-पुरुष मानकर तो कभी उसे निराकार मानकर उसके लिए यत्नशील होते हैं। परवर्ती भक्तों ने इसे निर्गुण, निराकार तथा सगुण-साकार के रूप में देखने तथा प्राप्त करने की चेष्टाएँ की हैं। अन्य धर्मावलम्बियों ने भी अपने पैगम्बर या देवदूत के माध्यम से उस सत्ता को प्राप्त करने का प्रयास किया है। मध्य युग के ईसाई सन्तों ने आत्मा के साथ परमात्मा के मेल को साधना का चरम लक्ष्य माना है। इस प्रक्रिया को रहस्यवाद (Mysticism) कहा है। ईसाइयों में यह रहस्यवाद मूलत: ग्रीक के थ्यूरिया (Theoria) के सिद्धान्त से प्रभावित है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन डायोनिसियस ने किया था जिसके अनुसार एक ऐसे मार्ग का प्रतिपादन करना था जो अपने को उससे संयुक्त करे जो बाह्य अस्तित्व तथा ज्ञान से परे है।[3] सन्त क्लीमेण्ट ने अपनी पुस्तक स्ट्रोमेटिज (Stromaties) में ईसाई रहस्यवाद को पवित्रता द्वारा प्रायश्चित्त (Purifications by Confession) के सिद्धान्त की मान्यता दी।[4] दान्ते ने ब्रिट्सि को पूजनीय तो माना किन्तु इसे सूक्ष्मतत्त्व माना जो इस संसार में तो प्राप्त होता है किन्तु अपने दूसरे जगत

1. Hindu Mysticism, Mahendra Nath Sircar, Published by Oriental Books Corporation, New Delhi, 1974, p. 4-6
2. शिवमहिम्नस्तोत्रम्, 7
3. Haas, What is Mysticism. Mysticism is Saivism and Christianity, Edited by Bettina Baumer, D.K. Print World (P.) Ltd., New Delhi-15, 1997, p. 20
4. तत्रैव, पृ० 18

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में अनावृत्त करता है। इस प्रकार दान्ते ने भी इस रहस्य का एक स्वरूप निर्धारित किया है।[1] आगमिक दृष्टि से जब हम तत्त्वमीमांसा को देखने का प्रयास करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि अनेक शक्तियों को विभिन्न नामों से सम्बोधित कर तथा उन्हीं नामों के सहारे उनके मूल स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस शास्त्र में स्पष्टतया रहस्यवाद का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु रहस्यवाद की परिधि में हम उसका विश्लेषण करने का एक विनम्र प्रयास कर रहे हैं। समस्त आगमिक-तान्त्रिक सम्प्रदायों में साध्य की सिद्धि के लिए विचार किया गया है। साध्य है—परमसत्ता, जो सृष्टि के माध्यम से आत्म-वैभव का साक्षात्कार है और विश्व-सृष्टि उस यात्रा के बिन्दु-पथ हैं और मानव उसका माध्यम है। जड़ जगत के द्वारा भी वह आत्मसाक्षात्कार ही करना चाहता है पर प्रक्रिया पूरी हुई जीव की सृष्टि से। प्रश्न यह है कि प्रकृति ने अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया से सृष्टि में मानव तो प्रादुर्भूत कर दिया लेकिन उसकी सृष्टि के घटक रूप में दो परस्पर विरोधी विचार वाले तत्त्व निहित कर दिए हैं—उसमें से अवतरण-प्रक्रिया में अधोभिमुख यन्त्र ऊर्ध्वमुखीन सम्भावनाओं से ढँके हुए हैं। यह आवरण कैसे हटे? विश्वभर के रहस्यदर्शियों की यह मान्यता है कि यदि यह सारी लीला उस परमसत्ता की स्वतन्त्र इच्छा की ही परिणति है तो उसकी इच्छा अभी कहाँ पूरी हुई? यदि अधोभिमुख अवरोहणात्मक अर्द्धवृत्त उसकी इच्छा से है तो ऊर्ध्वाभिमुख अर्द्धवृत्त के बिना उसका अभीष्ट कैसे सिद्ध होगा? अतः इस प्रत्यावर्तन में जिस क्रम से उतरा है उसी क्रम से व्युत्क्रमात्मक रीति से—'आरोहण' में भी उसी की इच्छा निहित है। व्यष्टि-दृष्टि से यह ईश्वर की अकारण अनुकम्पा है और समष्टि रूप से अवतरण में 'निग्रह' तथा आरोहण में 'अनुग्रह' शक्ति सक्रिय है।

वस्तुतः रहस्यवादी और दार्शनिक की उपस्थापन-पद्धति में भेद होता ही है—एक का विश्वास है कि वह जो कुछ कर रहा है वह कहने की सीमा में आ नहीं सकता, जबकि दूसरे का उद्देश्य है उपस्थाप्य को स्पष्ट निश्चयात्मक तथा अन्तर्विरोध से सर्वथा अस्पष्ट रखना। वह अपने अन्तरावरोध से अपरोक्षी कृत सत्य को बोध के घेरे से, बुद्धि के दायरे से, तर्क प्रवणशक्ति-सी किसी चहारदीवारी से बाहर मानता है। चूँकि वह उसे पूर्ण मानता है, निरपेक्ष मानता है, अतः स्वरूपतः 'अपेक्षाओं' से घटित 'बुद्धि' से कैसे कहा जा सकता है? फिर भी अनुभूति की विलक्षणता रहस्यदर्शी को मुखर कर देती है और वह किसी 'अपेक्षा' में उसे व्यक्त करता है।

शांकर वेदान्त में परमतत्त्व निर्विशेष है—उसकी ओर से न कुछ होना है न कुछ हुआ है। जीव अनादि, अविद्यावश स्वयं स्वरूप-च्युत है और अविद्या की पूर्ण निवृत्ति से, स्वरूपस्थ से ही हो सकता है। यहाँ परमसत्ता द्वारा आत्मवैभव के साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं है। अतः वह न तो स्वयं बँधता है और न स्वयं मुक्त होता है।[2] तत्त्वतः वह सदा मुक्त ही है—अनादि अविद्यावश स्वरूपच्युत होने का भ्रम है। उनकी सारी साधना इसी

1. Mysticism : Evelyn Underhill, Methuen & Co. Ltd. 11, New Fetterlane, EC 4, p. 4
2. *माण्डूक्योपनिषद्*, न मुमुक्षुः न वै मोक्षो इत्येषापरमार्थतः

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भ्रम को समाप्त करने के लिए है। साधक की मुमुक्षा के लिए नित्य-अनित्य का विवेक, ऐहिक तथा पारलौकिक परिणाम से दूरी तथा शम, दम, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा का उपयोग आवश्यक है। इन सबसे अविद्यात्मिका वृत्ति का क्षय होता है और जीव तथा परमसत्ता का भेद समाप्त हो जाता है, अद्वैतस्वरूप में स्थिति हो जाती है।

आगमों में परमसत्ता की लीला के पाँच मुख्य अंग होते हैं। वे पाँच कृत्य कहलाते हैं। उनके नाम हैं—निग्रह, अनुग्रह, सृष्टि, स्थिति तथा संहार।[1] निग्रह से अवतरण-असीम का सीमा में बँधना और अनुग्रह से बद्ध का स्वातन्त्र्य सम्पन्न होना माना जाता है। परमसत्ता की वृत्ताकार यात्रा का अर्द्धवृत्त अवतरण और अर्द्धवृत्त प्रत्यावर्तन है। फलतः प्रत्यावर्तन में परमेश्वर का अनुग्रह काम करता है। सूफी साधना में परमेश्वर-अनुग्रह को रहीम के रहम के रूप में स्वीकारा गया है। परमेश्वर के अनुग्रह को आगम ग्रन्थों में 'शक्तिपात' की संज्ञा दी गई है और मुख्यतया उसके नौ भेद प्रतिपादित किए गए हैं। 'शिव में भक्ति' ही शक्तिपात है। शक्तिपात का विशद विवेचन प्राप्त होता है।[2] वास्तव में शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय एक ही प्रक्रिया के आधार-भेद से भेद हैं। शक्तिपात यदि पूर्ण अर्थात तीव्र है तो 'दीक्षा' और 'उपाय' की प्रक्रिया अनपेक्षित है। यदि 'मध्य' है तो 'गुरु-दीक्षा' अपेक्षित है। वह भी अपना कार्य अपनी समग्रता में सम्पन्न करे एतदर्थ साधक को 'उपाय' द्वारा पात्रता प्राप्त करनी पड़ती है। वृत्ताकार यात्रा में प्रकाशान्धकार के परदे पड़ते रहते हैं, अतः इन व्यवधानों को हटाने में तीनों सहायक हैं।

भारतीय द्वैत वेदान्ती जो 'आगम' में आस्था रखते हैं उनका मानना है कि उपासक के अधीन है—इसमें उपासक का पौरुष काम नहीं करता। साधक पात्रता पौरुष से प्राप्त कर सकता है पर उस अभिलषित की प्राप्ति जिसे पाना है उसी की इच्छा पर आश्रित है। वैष्णवों में तो मार्जारकिशोर का दृष्टान्त ही दिया जाता है—जहाँ साधक के आत्मपौरुष की जरूरत ही नहीं है। बल्लभवेदान्त की परमोच्च 'पुष्टि' भगवदनुग्रह का ही नामान्तर है

1. (क) नमः शिवाय सततं पंचकृत्यविधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिनी॥ *प्रत्यभिक्षा,* हृदय, पृ० 1

(ख) अतः सृष्टिः स्थितिध्वंसस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः।
इति पंचसु कर्तृत्वमावहच्छिव उच्यते॥ *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* श्लोक-49

रचयिता, महामहोपाध्याय पं० श्री रामेश्वर झा, प्रकाशित, आर०वी० जोशी एण्ड ब्रदर्स, नीचीबाग, वाराणसी

2. (क) शक्तिपातः शिवे भविर्नवधा सा भवत्यथ।
परमः शक्तिपातोऽसौ परिपूर्णचिदात्मता।
ध्वस्तोपाध्यनवच्छिन्नसं विदेकस्वभावता॥
भोगांशेन समाश्लिष्टः प्रकाशः परमः स यः।
अपरः शक्तिपातः स पर्यन्ते शिवताप्रदः॥ कलाद्यमूनितत्त्वानि शुद्धान्येवहितान्प्रति। ये श्रीगुरुकृपा-दृष्ट्या शक्तिपातपवित्रिताः॥ तेषां कलादयः शुद्धाः शुद्धकर्मणि तन्वते। तथा भूतानि यैस्तेऽपि भविनोयान्वित मुक्तताम्॥ *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* श्लोक 456-460

(ख) मातिनीविजय वार्तिक, 1-698

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जो पात्र में उतरती है। स्वरूप-योग्यता की प्राप्ति में साधक का पौरुष है परन्तु परिणाम-प्राप्ति भगवदनुग्रह से सम्भव है। फल यह है कि इस 'राजमार्ग' में जिसका संकेत भले ही 'निगम' में हो पर पुष्पित 'आगम' में हुआ है।

भारतीय अध्यात्म के साधना भाग पर बल देने वाले 'आगमिक' साधक 'गुरु' की महिमा पर विशेष बल देते हैं पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नैगमिक धारा इस पर महत्त्व नहीं देती, बल्कि जोर दोनों ही धाराएँ देती हैं पर आगमों में विशिष्टता के साथ प्रतिपादन है।

नवीनतम साधक आत्मगत शक्ति के विकास में स्वावलम्बी होना चाहता है और परम्परानिष्ठ आप्तनिष्ठ। आप्तनिष्ठता की दृष्टि में कतिपय लोगों का कहना है कि अध्यात्म के क्षेत्र में मानव का सम्बन्ध सीधे परमेश्वर या उनकी शक्ति से है—बिचौलिया बेकार है। किन्तु इतना सभी को मानना पड़ता है कि जीवन की अविकसित अवस्था में ऐसा कोई नहीं है जिसे आत्मविकास के लिए परमुखापेक्षी न होना पड़े। जब सामान्य ज्ञान गुरु से होता है तब पूर्ण ज्ञान बिना गुरु के कैसे हो सकता है[1]? भारतीय विचारकों का यह विश्वास कि जिस मानव को 'आत्मविस्मृति' किसी भी कारण से हो या है, उसे तो परमुखापेक्षी होना ही पड़ेगा। निर्गुण उपासक भक्त कबीर की मान्यता भी इसी का अनुमोदन करती है।[2] रामचरितमानस भी गा रहा है—"बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि"। जिन अवतारों को आत्मविस्मृति नहीं भी है—उन्हें लोक-संग्रह के लिए 'गुरु' की शरण में जाना ही पड़ता है। स्वयं अकारण करुणवरुणालय पराशक्ति जिससे 'अनुग्रह' की धारा निरन्तर बरसती रहती है—वही मानवसिद्ध या देव-शरीर में 'गुरु' रूप से उतरती है और विश्व का 'कल्याणमित्र' बन जाती है। शिष्य का अधिकार देखकर गुरु जो 'उपाय' बतलाता है, शिष्य उसी को अपनाता है। यह उपाय मन्त्र-देवता की आराधना है। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इसी के अंग हैं। इस साधना से वह आराध्य का, जो वस्तुतः वह स्वयं ही है, साक्षात्कार कर लेता है। उसका अपना स्वरूपभूत आनन्द ही दिव्याकार ग्रहण कर अपनी सत्ता से अपृथक रहकर भी पृथक रूप में दृष्टि के समक्ष अवतीर्ण होता है। यही इष्ट का साक्षात्कार है। इसी इष्ट के समक्ष अवतीर्ण होता है। इसी इष्ट का साक्षात्कार कराने के लिए गुरु मानवदेह, सिद्धदेह या दिव्यदंह का सहारा लेता है। इष्ट-दर्शन के साथ गुरु का वह छद्म रूप तिरोहित हो जाता है। यही गुरु के स्वरूप दर्शन का मार्ग है। तत्वतः आत्मा और साधक तथा गुरु की आत्मा एक ही है।

आगमिक अनुयायी यह मानते हैं कि परमतत्त्व स्वेच्छया अपनी निग्रह या तिरोधान शक्ति से आणवमल का आवरण डालकर पशुत्व से शिवत्व ढँक देता है। फिर 'अनुग्रह' शक्ति के प्रभाव से वही गुरुरूप में 'दीक्षा' द्वारा पशुभाव का क्षपण तथा स्वतःसिद्ध ज्ञान

1. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, श्लोक, 302-304
2. गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागों पाय, बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को उन्मीलित कर देता है।[1] पारमेश्वर शक्तिपात या अनुग्रह के बिना सद्गुरु नहीं मिल सकता। दीक्षा संस्कार है तथा संस्कार में 'मलापनयन' और 'अतिशयाधान' होता है। बिना 'मल' हटे 'प्रकाश' होना असम्भव है। परमेश्वर शक्तिपात और गुरु दीक्षा से होता है—'स्वभाव' का 'प्रकाश'।

आगम यह मानता है कि गुरु साक्षात परमेश्वर है या उनका अनुग्रह प्राप्त साधर्म्ययुक्त जीवनमुक्त अधिकारी पुरुष। कुलार्णवतन्त्र में 'गुरु' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक और 'रु' अन्धकार को दूर करने का, इस प्रकार (अज्ञान के) अन्धकार नष्ट करने के कारण गुरु शब्द का प्रयोग होता है। इसी ग्रन्थ में यह भी प्रतिपादित है कि ध्यान करना हो तो गुरु की मूर्ति का और पूजा गुरु के चरणों की ही करनी चाहिए। उनके उपदेश ही मन्त्र तथा उनकी कृपा ही मोक्ष है। साधक की सभी क्रियाएँ गुरुमय होनी चाहिए।[2] तन्त्रशास्त्र के अनुसार जो देवता है, वही मन्त्र है और जो मन्त्र है वही गुरु है। इन तीनों की पूजा का फल समान है।[3] आगमों के अनुसार त्रिविध मूल है—आणव, मायीय तथा कार्ममल। मल है—अज्ञान।[4] अज्ञान ज्ञान के अभाव को न कहते हुए अधूरे अर्थात संकुचित ज्ञान को ही कहते हैं, तो फलतः ज्ञान संकोच ही मल है।[5] अपरिच्छिन्न आत्मा आणवमल से परिच्छिन्न होती है, तत्पश्चात शुभाशुभ वासनाओं के उद्भव और पाक से जन्म, आयु तथा भोग करता है—यही कार्ममल है। अपरिच्छिन्न होना इसी के परिवेश में कर्म का भोग। गुरु-दीक्षा इसी आवरण को काटती है। यह दीक्षा शिष्य की पात्रता के अनुसार अनन्त तरह की है। दीक्षा का विवेचन दुष्कर है।

आगम साहित्य में 'गुरु' विभिन्न श्रेणियों में प्रतिपादित है और उसका कारण है—उपर्युक्त पारमेश्वर शक्तिपातरूप उपाय के अनेक विभेद। गुरु 'सद्गुरु' तो होता ही है,

1. दीयते ज्ञानसद्भवः क्षीपते पशुवासना।
   दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥ *तन्त्रालोक,* 1/80
2. गु शब्दस्त्वन्धकारस्याद्रशब्दस्तन्निरोधकः।
   अन्धकार निरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥
   ध्यानमूलं गुरोः मूर्ति पूजामूलं गुरोः पदम्।
   मन्त्रमूलं गुरो र्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥
   गुरुमूलं क्रिया सर्वा, लोकेस्मिन् कुलनायिके।
   तस्मात् सेव्यागुरुनित्य सिद्ध्यर्थ भक्तिसंयुते॥ *कुलार्णवतन्त्र,* प्रथम उल्लास 17/1, 22/12-14
3. यथादेवस्तथा मन्त्रो यथा मन्त्रस्तथा गुरुः।
   देवमन्त्र गुरूणां च पूजायाः सदृशं फलम्॥ *श्रीविद्या कल्पलता*
4. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारकुंरकारणम्। *मालिनी विजयतन्त्र* 1/23
5. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगतः।
   स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः॥
   अतोज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
   ज्ञानमेव तद्ज्ञानं शिवसूत्रेपु भाषितम्॥ *तन्त्रालोक* 1/25-26

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'असद्गुरु' भी होता है। 'असद्गुरु' उसे कहते हैं जिसे परमेश्वर का ज्ञान तो होता है—किन्तु उससे तादात्म्य नहीं होता। ये केवल तत्त्व का उपदेश करने वाले आचार्य कहलाते हैं। वस्तुतः ये पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं कर पाते हैं। कारण यह है कि ये माया या वामाशक्ति के द्वारा अधिष्ठित होते हैं। सद्गुरु वह होता है जो परिपूर्ण तत्त्व निरूपित कर दे। असद्गुरु से दीक्षित साधक माया-राज्य को लाँघ नहीं पाते—उनसे समस्त पाशों का खण्डन नहीं होता। वास्तव में ज्येष्ठा शक्ति नाम की एक भगवदिच्छा है जिसकी प्रेरणा से सद्गुरु-प्राप्ति की इच्छा होती है। यही इच्छा 'शुद्ध विद्या का विकास' या सत्तर्क के नाम से प्रसिद्ध है।[1] यह 'सत्तर्क'—जिनमें स्वयं उदित होता है—वे 'सांसिद्धिक गुरु' हैं। इसी सांसिद्धि गुरु को 'अकल्पित' भी कहते हैं। 'कल्पित', 'अकल्पित', 'कल्पिताकल्पित' तथा 'अकल्पितकल्पक' जैसे अनेक भेद सद्गुरु के हैं जिनमें 'सत्तर्क' का उदय स्वयं हो वे 'अकल्पित', जिनमें सद्गुरु सापेक्ष हो वे 'कल्पित' और जो सद्गुरु-सापेक्ष होकर भी अपनी प्रतिभा के बल से 'सत्तर्क' का उदय कर लेते हैं—वे 'कल्पिताकल्पित' कहे जाते हैं। अतः गुरु-जन की अनेकता स्पष्ट है।

परानुग्रही गुरु के अनुग्रह-पात्र शिष्य भी पात्रता के अनुसार अनेक प्रकार के सम्भावित हैं। जो शिष्य निर्मल-संवित्-या शुद्धचित्त का होता है उस पर अनुग्रह करने के समय गुरु को किसी उपकरण का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। वे केवल अनुसंन्धानहीन दृष्टि के द्वारा ही इस प्रकार अनुग्रह इच्छुक योग्य शिष्य पर अनुग्रह कर देते हैं। निजबोधस्वरूप स्वशक्ति के संचार से शिष्य को अपने साथ समभावापन्न कर लेना ही अनुग्रह है। जो शिष्य निर्मलचित्त नहीं हैं—उनकी पात्रता के अनुसार गुरु विविध उपायों और शास्त्रों की मदद लेता है। जैसे रोगों की अनेकता के कारण औषध-भेद और प्रक्रिया-भेद होता है वैसे ही शिष्य चित्तगत अशुद्धि के भेद से अनुग्रह या शक्ति संचार की प्रक्रिया भी पृथक-पथक होती है।[2]

आगम-वाङ्मय में साधक की ओर से अध्यात्म के क्षेत्र में अपनाए जाने वाले पौरुष या प्रयत्न को 'उपाय' की संज्ञा दी गई है। यह उपाय चार प्रकार का है—अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। अनुपाय तथा शाम्भवोपाय में मात्रात्मक भेद है। अर्थात शाम्भव उपाय का सर्वोत्कृष्ट रूप 'अनुपाय' है।[3] अथवा यह भी कहा गया है कि ज्ञान ही त्रिभेद है—भेदात्मक, भेदाभेदात्मक तथा अभेदात्मक। अभेद ज्ञान शाम्भव, भेदाभेद शाक्त तथा आणव क्रियात्मक है।[4] पूर्व-पूर्व के उपाय

---

1. *मालिनी विजयतन्त्र*, 3/33
2. यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति।
   तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्॥ *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, श्लोक 309-10
3. स (शाम्भव) एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते। *तन्त्रालोक-विवेक*, 1/142
4. (क) अनुपायमेव स्वात्मानं प्रकाशयति सोपायं वा।
   सोपायत्वेऽपि इच्छा वा, ज्ञानं वा, किया वाभ्युपाय इति त्रैविध्यं शाम्भवशाक्ताणवभेदेन समावेशस्य। तन्त्रसार, पृ० 7

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उत्तरोत्तर के कारण भी हैं। शाक्त उपाय में शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प का निरसन किया जाता है, शाम्भव उपाय में शुद्ध विकल्प की भी अपेक्षा नहीं होती—क्योंकि अपनेय होने के कारण वह भी अन्ततः त्याज्य है।

ऊपर बताया जा चुका है कि आरोहण आश्रयभेद से परमेश्वर शक्तिपात, गुरुदीक्षा तथा साधक के उपाय से सम्पन्न होता है। निरवच्छिन्न (विज्ञानकल तथा प्रलयाकल) आत्मा पर होने वाला अनुग्रह दीक्षात्मक होता है। यह शक्तिपात जिस इच्छा से सम्पन्न होता है—वहाँ ज्ञान-क्रिया एक रूप है। अतः पृथक रूप से क्रियाशक्ति की आवश्यकता नहीं होती। देहावच्छिन्न सकल आत्मा परमेश्वर-शक्तिपात अथवा अनुग्रह होने पर ही क्रियासाध्य दीक्षा होती है। इस क्रिया के लिए स्वयं परमेश्वर ही सावच्छिन्न होकर अवतीर्ण होता है अतः यहीं गुरु त्रयोदश प्रक्रिया द्वारा परमशिवावस्थ होकर स्वयं दीक्षा का कार्य करता है। ये वे त्रयोदश सोपान हैं, जिनसे वह स्तर-दर-स्तर उत्प्लुति करता हुआ परमशिवव्याप्ति तक पहुँच जाता है और फिर अपने से शिवत्व की योजना करता है। दीक्षा का पाशक्षपण 'ज्ञान' से शिवत्वयोजन 'योग' से होता है। गुरु जब इस प्रकार दीक्षा से पौरुषेय बोध व्यक्त कर देता है—तब उसका साक्षात्कार करने के लिए शिष्य को 'उपाय' करना पड़ता है। उपाय से बौद्ध ज्ञान होता है जो 'बौद्धअज्ञान' को अशान्त कर देता है। 'शिवोऽहम्' हत्याकारक द्वारा सम्पादित सारा कार्य बोध में आ जाता है। उदाहरणार्थ, जैसे बिम्ब और दर्पण दोनों पास-पास हों, पर दर्पणगत मल बिम्ब के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक होता है ठीक उसी प्रकार बौद्ध अज्ञान मल भी गुरु सम्पादित पौरुष बोधात्मक बिम्ब के साक्षात्कार में व्यवधायक होता है। निष्कर्ष यह कि पारमेश्वर-शक्तिपात और गुरु-दीक्षा के अनन्तर शिष्यकृत 'उपाय' भी आवश्यक है। वर्तमान काल में उसी 'उपाय' की तान्त्रिक विवेचना-लोक में सन्त-साधना के रूप में विख्यात है।

आगमिक साधना में अपने आनन्द से ओत-प्रोत जो अखण्ड प्रकाश है, वही अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से स्वयं को संकुचित भासित करता हुआ शास्त्र में अणु (जीव) की संज्ञा से जाना जाता है। वही प्रकाश पुनः जब अपने स्वातन्त्र्य से ही सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व रूप से स्वयं को प्रकाशित करता है तब यह देव निरवच्छिन्न प्रकाशस्वरूप शिवरूप से ही प्रकाशित होता है। यह शिव कहीं अनुपाय से और कहीं परउपाय द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। उन उपायों में इच्छा, ज्ञान या क्रिया को ग्रहण करता है।[1] उपाय चार हैं—अनुपाय, शाम्भव, शाक्त तथा आणव। आणव उपाय देह-साध्य है—जहाँ क्रिया-शक्ति कार्य करती है। क्रियात्मक उपाय में जप, करण, ध्यान, भजन, वर्ण, स्थान, मुद्रा आदि का समावेश किया जाता है। इन उपायों में फलभेद नहीं होता, अपितु स्वरूपाविर्भाव रूप एक

(ख) अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तथाणवम्॥ *तन्त्रालोक*, 1/230

(ग) *पूर्णतात्यभिज्ञा*, 70-71

1. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा*, 66-69

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही फल है।[1] ये उपाय शरीरधारी साधक से ही साध्य हैं। क्रियात्मक आणव उपाय भिन्न-भिन्न स्तर के हैं। जिस साधक का चित्त 'मन' में सन्निविष्ट है उसे मुद्रा या आसनरूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है। जिसका चित्त 'बुद्धि' में सन्निविष्ट है, उसे मुद्रा या आसनरूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है। जिसका चित्त 'बुद्धि' में अभिनिविष्ट है—उसे 'ध्यान' रूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है। समस्त तत्त्वों का अन्तस्तत्त्व अतएव अत्यन्त देदीप्यमान 'शिव' ही परमतत्त्व है, उसकी ही भावना को ध्यान कहा गया है। यह ध्यान बुद्धि का ही व्यापार है।[2] कर्म तथा उपाधि-भेद से यह आणव उपाय भिन्न-भिन्न हो जाता है। अणु सम्बन्धी उपाय ही आणव उपाय है।

शाक्त उपाय मन्त्रशक्ति के द्वारा किया जाने वाला उपाय है। प्राणव्यापारादि उच्चार के बिना ही केवल चिन्तन द्वारा प्राप्त किए गए समावेश 'शाक्तोपाय' नाम से प्रख्यात है।[3] अर्थात शक्ति को कार्यकारी बनाने के लिए देह सम्बन्धी किसी भी उपाय का सहारा नहीं लेना पड़ता। इस प्रकार इस शाक्त में 'शिवोऽहम्' इत्याकारक शुद्ध विकल्प से भेद-गर्भ अशुद्ध विकल्पों का अपनयन होता है। शाम्भव उपाय शम्भु सम्बन्धी उपाय है। किसी अन्य के चिन्तन के बिना ही तीव्रतम स्वानुसन्धान द्वारा या गुरु द्वारा प्रतिबोध (स्वानुसन्धान) से होने वाले समावेश को 'शाम्भव उपाय' की संज्ञा दी जाती है।[4] इससे शुद्ध विकल्प की भी स्थिति नहीं है। यह निर्विकल्पक स्थिति है। यहाँ तक आते-आते माया-प्रमाता परप्रमाता की स्थिति में आ जाता है। वस्तुतः विकल्प एक विशेष प्रकार का बोध ही है। जहाँ भी विशेष प्रकार का बोध होगा वहाँ अपने से भिन्न किसी अतिरिक्त विषय की अल्पता को भी सूचित करेगा। जहाँ केवल आनन्द है वहाँ किसी विशेष प्रकार की नामतः उल्लेख्य वृत्ति या अभिव्यक्ति शब्द द्वारा नहीं की जा सकती। वास्तव में यह 'पूर्णाहन्ता' की स्थिति है। जहाँ अपूर्णाहन्ता का उन्मेष हुआ कि विकल्प का प्रादुर्भाव हो

---

1. (क) उच्चारकरण ध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   आणवोऽपि समावेशः फलभेदविवर्जितः। *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* 77
   (ख) उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
   यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते॥ *मालिनी विजयतन्त्र,* 2-21
   (ग) *तन्त्रसार,* पृ० 43
2. यदेतत्सर्वतत्त्वान्तर्भूतं तत्त्वं परं स्वराट्।
   तस्यैव भावनं ध्यानं बुद्धि व्यापार एव तत्॥ *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* 101
3. (क) *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* 76
   (ख) *मालिनी विजयतन्त्र,* 2/22
   (ग) *तन्त्रसार,* पृ० 21
4. (क) अकिंच्चिच्चिन्तकस्यैव गुरूणा प्रतिबोधतः।
   जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः॥ *मालिनी विजयतन्त्र,* 2/23
   (ख) निराधारंमनः कृत्वा विकल्पान्विकल्पयेत्।
   तदात्मपरमात्मत्वे भैरवोमृगलोचने॥ *विज्ञानभैरव,* 108
   (ग) *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* 75

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाता है। यही शाम्भव उपाय परिपक्व अवस्था में अनुपाय कहलाता है।[1] उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख या दूतीप्रेरणा आदि अनेक उपायों के द्वारा आए हुए और निकट में खड़े होने वाले मनोवांछित प्रियतम को पाकर भी आनन्दित नहीं होती, किन्तु दूती के वचन से या उसके लक्षणों के अभिज्ञान से प्रियतम को पहचान कर पूर्णता प्राप्त करती है और अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायों के द्वारा आत्मचैतन्य के स्फुरण पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान को वह पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' वास्तवमोक्ष-शिवत्वलाभ में मुख्य साधन है।[2]

साधक की पूत-यात्रा हृदयदेश से आरम्भ होती है। मन जागृत अवस्था में मनोबहा नाड़ी में विचरता रहता है, जहाँ वायु वक्रगति है। सुषुप्ति में श्रान्त मन पुरीतत नाड़ी में उससे घिरे हुए हृदय में आ जाता है, और वहाँ जाकर अचिन्तक हो जाता है—शान्त निवृत्तिक स्थिति में पड़ा रहता है। यह शान्तितमः प्राधान्य से भी आ सकती है और सत्व प्राधान्य से भी। सुषुप्ति में मन की शान्ति तमः प्राधान्यवश रहती है—यह उसकी अज्ञानावस्था है। यहाँ का साक्षी सामान्य होता है। स्वप्न का साक्षी विशेष होता है। अचिन्तकत्व सुषुप्ति में भी होता है। इसीलिए शाम्भव-दशा की ओर उन्मुख। शाम्भव उपाय में मन की शान्त-विकल्पहीन स्थिति रहती है—पर यह स्थिति 'आत्मसंस्थ' होने के कारण है—सुषुप्तिगत होने के कारण नहीं। सुषुप्ति से इस जागर्तिपूर्वक मन के हृदय-प्रवेश में यही अन्तर है कि वहाँ मन 'आत्मसंस्थ' नहीं रहता। जागृत अवस्था की भाँति यहाँ (मध्यप्रदेश) मन चिन्ताशील हो सकता है—पर है नहीं—अतएव उस प्रसक्त चिन्तन का निषेध करने के लिए ही यहाँ 'न चिन्तयेत्' की विधि है। निष्कर्ष यह कि चिन्तन (विकल्प) जागृत अवस्था की भाँति यहाँ भी है—परन्तु यहाँ चिन्तन पर अंकुश है—वह चाहे तो कर सकता है। दूसरा अन्तर यह भी है कि जागृत का संकल्प-विकल्प से प्रतिरुद्ध और मध्यविकास अथवा शाम्भव दशा का संकल्प-विकल्प से अतिप्रतिरुद्ध रहता है। यह संकल्प भले ही अप्रतिरुद्ध हो—फिर भी वर्जनीय ही है—अन्यथा निरोधावस्था नहीं आ सकती और तब चित्तस्वरूपापत्ति भी नहीं हो सकती।

परप्रमाता अपने स्वातन्त्र्य से जब संकोच या अपूर्णाहन्ता को प्राप्त होता है तब उसे चित्त अथवा माया प्रमाता कहते हैं। उस समय सर्वप्रथम इसके समक्ष 'शून्य' आता है—यह शून्य संकुचित 'अहम्' का प्रतियोगी 'इदम्' है। बाद में इसी शून्य से अनन्तानन्त

1. (क) स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पमेव भैरवसमावेशमनुभवति, *तन्त्रसार,* पृ० 10
   (ख) मा किञ्चित् त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः, *अनुत्तराष्टिका,* 2
   (ग) यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
   यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ *गीता,* 6/20
2. तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनतस्तव्याः स्थितिऽप्यन्तिके कान्तो लोकसमानएवमपरिज्ञातो न रन्तु यथा। लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 4/2/2

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय प्रसूत होते रहते हैं। यह परावाक् का कार्य है। बाद में यही परावाक् घनीभूत होकर अष्टवर्गीया शक्ति का रूप धारण करता है और यह अध्यास अनात्म में आत्म-बोध तथा आत्मा में अनात्म-बोध पैदा करता है। लौटते समय इन सबको भेद करने पर जब माया प्रमाता के समक्ष शून्य-मात्र रह जाता है और उसका भी भेद हो जाता है वही—माया प्रमाता परप्रमाता हो जाता है—आत्मसंस्थ हो जाता है।[1]

प्रेम परमात्मा की सारसत्ता है। नरदेह के बिना प्रेम का पूर्ण आस्वादन पाया नहीं जा सकता—इसलिए भगवान भी प्रेम के लिए ऐश्वर्य को त्यागकर नररूप ग्रहण करते हैं। साधक भक्तगण इसे भली-भाँति समझते थे। यही कारण है कि वे ऐश्वर्य से अधिक माधुर्य को महत्व देते थे। ऐश्वर्य का प्रेम हिस्सेदारी का प्रेम है। माधुर्य के प्रेम में किसी की हिस्सेदारी नहीं होती—अखण्ड अपनी वस्तु है। नरलीला के बिना यह सम्भव नहीं है। मनुष्य ही प्रेम की ताकत से ऊर्ध्वमुख होकर भगवत्ता प्राप्त करता है। भगवान को उतारकर मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता।

भक्त भगवान के चरणों में स्थान पाता है। भगवान उसे दिल में रखते हैं। तत्पश्चात उसके अंगों को अंगदान करते हैं, तदनन्तर दोनों मिलकर एकशरीर हो जाते हैं। दो जन जबकि शरीर एक है। प्रकारान्तर से दो शरीर एक आत्मा।

तान्त्रिक दृष्टि से प्रेमतत्व से आवेशित आत्मा भक्ति की सरिता में गोता लगाती हुई चेतना के धरातल पर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती है। यह किसी धर्म, मतवाद और पूर्वग्रह का मुखापेक्षी नहीं है, उसकी व्यापकता चराचर में है। चेतनशील प्राणियों को उसे पाने में सारल्य अपना होता है। प्रेम जिस हृदय में उफनता है उसमें परमेश्वर के और गुण साथ-साथ प्रकट होने लगते हैं—उसका कर्म निष्काम भाव से होने लगता है, जगदरक्षण और रंजन के अनुकूल वृत्तियाँ बनने लगती हैं। दुनिया के लिए अकारण करुणा उमड़ने लगती है—अहंकार गलने लगता है जो सबसे बड़ा आवरण है। अदम्य संकल्प ही आराध्य की स्पष्टता होने पर प्रेम का नाम पा जाता है।

तन्त्रसम्मत साधना में यह प्रतिपादित है कि आज्ञा-चक्र के जरा ऊपर चन्द्रस्थान और उसके ऊपर बोधिनी है। बोधिनी से ऊपर नाद है, जो अर्द्धचन्द्र की भाँति प्रतीत होता है और तब महानाद है, जो हल्की आकृति वाला है। इसके ऊपर आंगी कला जो योगियों का परम धन है और उसके ऊपर उन्मनी जहाँ से फिर वापस नहीं आया जाता, इसी को शिवशक्तिसंयोग कहा गया है।[2]

---

1. *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा,* 518-524
2. इन्दुर्ललाटे देशे च तदूद्धर्वे बोधिनी स्वयंम्।
   तदूद्धर्वे नादो सावर्द्ध-चन्द्राकृतिपरः॥
   तदूद्धर्वे च महानाद लांगलाकृतिरुज्ज्वलः।
   तदूद्धर्वे तु कला प्रोक्ताः आंजीति योगिवल्लभा॥
   उन्मनी तु तदूर्द्धे तु यद्गत्वा न निवर्तते।
   शिवशक्ति समायोगात् अव्यक्तात् परमेश्वरात॥
   श्रीविद्या-कल्पलता, डॉ० राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1998, पृ० 200

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कंकालमालिनीतन्त्र के अनुसार मस्तक में स्थित यह, सहस्त्रदल कमल अधोमुखी और शुभ्रवर्ण है। इसके पचास दलों पर अ से क्ष पर्यन्त बिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षर कर्णिका के बीच में गोलाकार चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल एक ऊर्ध्वमुखी द्वादशदल कमल को आवृत्त किए है। इस कमल की कर्णिका में विद्युत सदृश त्रिकोण है, जहाँ चारों ओर सुधासागर, मणिद्वीप है। इस द्वीप के मध्य स्थल में मणिपीठ है। उसके बीच में नाद बिन्दु के ऊपर हंसपीठ का स्थान है। हंसपीठ के ऊपर गुरुपादुका है। गुरुदेव ही परमशिव परब्रह्म है। सहस्त्रदल कमल में चन्द्रमण्डल की गोद में ऊपर कला नाम की षोडश कला है, उसकी गोद में निर्वाण कला है। उसकी गोद में निर्वाण शक्तिरूपा मूल प्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्ति के साथ परमशिव को वेष्टन किए है।[1]

इस प्रकार पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त छत्तीसों तत्त्व को कुण्डलिनी अपने में कवलित कर लेती है तथा सहस्त्रार-चक्र में एकान्त रस रास स्थली में, जहाँ प्रियतम की सेज है। वह सेज जिसे सखियों ने अ से क्ष पर्यन्त पचास वर्णों रूप कलियों से सजाया-सँवारा है। कुण्डलिनी वहाँ परमशिव के साथ रास करती रहती है और परमामृत का पान करती है। वहाँ से वह षट्चक्रों का सिंचन करती है तथा सम्पूर्ण शरीर उस अमृत से आप्लावित हो जाता है। इस प्रकार कुण्डलिनी मूलाधार से सहस्रार में और सहस्त्रार से मूलाधार में आरोह-अवरोह करती हुई सारे प्रपंच को जीवित करती है अर्थात ब्रह्मरन्ध्र अकुल स्थान से अमृतपान करके कुल रूप अपने स्थान पर लौटती है। पुनः अमृतपान के लिए कुलस्थान (मूलाधार) से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर आनन्दित होती है।

कुण्डलिनी का ज्ञान परम रहस्यमय है तथा जिस पर गुरु तथा माँ की कृपा हो वही आत्मशक्ति के मूलरूप कुण्डलिनी के तत्त्व को समझ पाता है। इस विद्या को संकेत विद्या कहते हैं और शास्त्रों में इसे संकेत के द्वारा ही समझाया गया है। जो इसे जान लेता है, वह अपने में अपने को पा जाता है—वह पूर्णकाम और शिवरूप हो जाता है। आज की भाषा में हम इसे आगमिक रहस्यवाद कह सकते हैं।

●

---

1. (अ) सहस्त्रसारंकर्णिकायां चन्द्रमण्डलं मध्यगा सर्व संकल्परहिता कला सप्तदशी भवेत्। उन्मनी नाम तस्याहि भवपाशानिकृंतनी, सहस्त्रारं महापद्मं शुक्लवर्णमधोमुखम्। अकारादि क्षकारान्तै स्फुरद्वर्णैः विराजितम् तत्कर्णिकायां देवेशां अन्तरात्मा ततो गुरुः।
तत्रैव, पृ० 201

(ब) मुण्डव्योमस्थ पद्मे दशशतदलके कर्णिका चन्द्रसंस्थां, रेतेनिष्ठां समस्तायुधकलित केरां सर्वतोवक्त्र पद्माम्।
आदिक्षान्तार्णशक्ति प्रकट परिवतां सर्ववर्णां भवानीं, सर्वान्नासक्त चित्तां परशिव रसिकां याकिनीं भावयाम्। *तत्रैव,* पृ० 203

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

९

युगल उपासना का रहस्य

भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'

पूर्णब्रह्म परमात्मा अपनी अचिन्त्य, अप्रत्यक्ष, अनिर्वचनीय शक्ति से नित्य विभिन्न है। वह अभिन्नता मधु और उसका माधुर्य, चन्द्रमा और उसकी चाँदनी, पुष्प और उसकी सुगन्ध तथा अग्नि और उसकी दाहकत्व शक्ति की तरह है। सर्वव्यापी परात्पर ब्रह्म अपनी माया-शक्ति की सहायता से सगुण साकार रूप में प्रकट होता है, जैसे यह अखिल ब्रह्माण्ड लीला हेत्वर्थ उसके चिद्विलास का परिणाम है। वह स्वयं जगत रूप में प्रकट है, वैसे ही सम्पूर्ण सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, कारुण्य, वात्सल्य आदि का स्रोत प्रभु केवल निज भक्तजन प्रीत्यर्थ उनके भावानुरूप विग्रह को धारण करता है। गोस्वामी जी महाराज ने 'सो केवल भगतन के हित लागी' कहकर इसका समर्थन किया है। विश्व के विभिन्न स्थानों एवं कालों में, देश-काल अपरिच्छिन्न परमात्मा के अवतार में स्वरूप भेद के कारण भक्तों की इच्छाएँ ही हैं। उनमें कलाओं के न्यूनाधिक्य के कारण भक्ति के भावों में तारतम्य है। शीर्ष स्थानीय मधुर भक्ति का आलम्बन भगवान का ब्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप ही है। यह विष्णु के पूर्ण कलाओं का अवतार माना जाता है।

कुछ अवतारों में तो परमात्मा अपनी शक्ति को अपने में छिपाए प्रकट होते हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म, वाराह, कच्छ, नृसिंहादि में तथा कुछ अवतारों में अपनी नित्य अपृथक शक्ति को अपृथकवत कर लीला के विशेष हेतु से प्रकट करते हैं। राम, कृष्ण, शिवादि का अवतार शक्ति सविशेष है।

भाव में अमोघ शक्ति है। यदि ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है तो भाव का सम्बन्ध हृदय से। प्रेम का भी उत्पत्ति-स्थान हृदय ही है। अतः भाव और प्रेम सहोदर भाई हैं; भगवान को प्रेम प्रिय है और रहते हैं भक्त के वश में। 'भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुणा भवन'—अर्थात वे भावानुकूल प्रेम के अनुरूप ही भक्त के अधीन होकर लीला करते हैं। शान्त-दास्य, वात्सल्य, सख्य, माधुर्यादि भावों का यही रहस्य है। भक्त के सप्रेम भाव उन्हें स्वीकृत हैं। भाव की अतुलित शक्ति की कल्पना कीजिए जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के स्रष्टा को भी पुत्र बना देती है, यही नहीं रथ-चालक भी। लेकिन गोपी भाव में जो मिठास है वह किसी में भी नहीं। यहाँ परमात्मा ने अपनी सम्पूर्ण आनन्दसुधा से ब्रज-वीथि को आप्लावित कर दिया है। ब्रज-वृन्दावन का प्रत्येक कण उस आनन्द से सिक्त हो गया है।

शक्ति और शक्तिमान की नित्य एकता

शक्तिरहित सगुण-स्वरूप की उपासना से शक्तियुक्त उपासना में अनन्त गुणाधिक आनन्द है। माता के माध्यम से उपासना करने में कृपा की प्राप्ति शीघ्र और निश्चय ही होती है। क्योंकि परमात्मा में करुणा, दयादि तत्व इन्हीं शक्तियों के आश्रय से रहते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गौरीशंकर, सीता-राम, राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप में नितान्त एकता है—शब्द और अर्थ की तरह, जल और उसकी लहर की तरह। कालिदास ने तो केवल 'पितरो' कहकर ही पार्वती और शंकर की वन्दना की है। गोस्वामी जी ने भी सीता-राम जी की वन्दना परस्पर अभिन्न मानकर ही की है।[1] सीतोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि श्री सीता जी श्री राम की नित्य सन्निधि के कारण जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त शरीर-धारियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाली हैं।[2]

विविध शास्त्रों में एकता का प्रतिपादन

भगवान श्री कृष्ण ने भी राधा जी से कहा है, "जो तुम हो, वही मैं हूँ, हम दोनों में कदापि किंचित भी भेद नहीं है। जैसे दूध में सफेदी, अग्नि में दाहिकाशक्ति और पृथ्वी में गन्ध है, वैसे ही मैं निरन्तर तुममें हूँ।"[3] देव्युपनिषद् में देवी ने कहा है, "मैं ब्रह्मास्वरूपा हूँ। मुझसे प्रकृतिपुरुषात्मक कारण रूप और कार्य रूप जगत उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द और आनन्दरूपा हूँ आदि-आदि।"[4] श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् में लिखा है—"जिनका इस उपनिषद् में वर्णन हुआ है, वे श्री राधिका जी और आनन्दसिन्धुः श्री कृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीला के लिए वे दो स्वरूपों में व्यक्त हुए हैं।"[5] देवीभागवतपुराण में सन्त जी ने भी ऋषियों से कहा है—विद्वान पुरुष भी ऐसा कहते हैं और पुराणों ने भी घोषणा की है कि ब्रह्मा में जो सृजन-शक्ति है, विष्णु में जो पालन-शक्ति है तथा शिव में जो संहार-शक्ति है एवं सूर्य में जो प्रकाशन-शक्ति है तथा शेष और कच्छप में जो पृथ्वी को धारण करने की शक्ति है, अग्नि में जलाने की और वायु में जो हिलाने-डुलाने की शक्ति है—यों सबमें जो शक्ति विद्यमान है, वही आद्याशक्ति है। इस प्रकार सबमें व्यापक रहने वाली उस आद्याशक्ति का ही 'ब्रह्म' इस नाम से निरूपण किया गया है।[6]

स्वयं भगवती देवी ने ब्रह्मा जी से इसी तत्त्व का वर्णन किया है। मैं और ब्रह्म एक ही हैं। मुझमें और ब्रह्म में कभी किंचित-मात्र भी भेद नहीं है। जो वे हैं वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही वे हैं। बुद्धि के भ्रम से भेद प्रतीत हो रहा है। जो बुद्धिमान पुरुष हमलोगों में सूक्ष्म भेद को जानता है, वही मुक्त है। उसके इस संसार-सागर से मुक्त होने में कुछ भी सन्देह नहीं है।[7] इसमें आगे वे कहती हैं, "सम्पूर्ण देवताओं में मैं विभिन्न नामों से विख्यात हूँ, यह निश्चित बात है। मैं सतीरूप धारण करके पराक्रम करती हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वारुणी, कौबेरी, नारसिंही और वासवी सभी मेरे ही रूप हैं। जल में शीतलता, अग्नि में उष्णता, सूर्य में ज्योति एवं चन्द्रमा में शीतलता का विस्तार करने की योग्यता जिस प्रकार बनी रहे, वैसी व्यवस्था करके मैं ही स्वेच्छानुसार उसके भीतर प्रविष्ट होती हूँ।"[8]

शिवपुराण में तो विस्तारपूर्वक दोनों की एकता का प्रतिपादन किया गया है। शक्तिमान के स्वरूप की अभिव्यक्ति उनकी शक्ति से ही होती है। अतएव शक्ति का स्वरूप भी वही है जो शक्तिमान का है। भगवती पराशक्ति उमादेवी इन्द्रादि देव से कहती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं कि मैं ही पराब्रह्म परमज्योति प्रणवरूपिणी तथा युगलरूपधारिणी हूँ। मैं ही सब कुछ में, मुझसे भिन्न कुछ भी पदार्थ नहीं है, मैं निराकार होकर भी साकार हूँ। सर्वतत्त्व स्वरूपा हूँ। मेरे गुण अतर्क्य हैं। मैं नित्य स्वरूपा तथा कारणरूपिणी हूँ। मैं ही प्राण-वल्लभा नारी का आकार धारण करती हूँ। और कभी प्राणवल्लभपुरुष का। कभी एक साथ स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में (अर्धनारीश्वर रूप में) प्रकट होती हूँ। मैं सर्वरूपिणी ईश्वरी हूँ। मैं ही जगतपालक अच्युत विष्णु हूँ। और मैं ही संहारकर्ता रुद्र हूँ, सम्पूर्ण विश्व को मोह में डालनेवाली महामाया भी मैं ही हूँ। काली, लक्ष्मी और सरस्वती आदि सम्पूर्ण शक्तियों तथा ये सभी लीलाएँ मेरे ही अंश से प्रकट हुई हैं।[9] यह सम्पूर्ण जगत शिवशक्ति की ही लीला है। अतः जितने पुरुष हैं सब शिव हैं और उनकी जो सहधर्मिणी जितनी स्त्रियाँ हैं वे सब शक्तिरूपा हैं। इसी तत्त्व को दिखलाते हुए शिवपुराण में कहा गया है कि शक्ति और शक्तिमान से प्रकट होने के कारण यह जगत 'शाक्त' और 'शैव' कहा गया है। जैसे माता-पिता के बिना पुत्र का जन्म नहीं होता उसी प्रकार भव और भवानी के बिना इस चराचर जगत की उत्पत्ति नहीं होती, स्त्री और पुरुष से प्रकट हुआ जगत स्त्री और पुरुष रूप ही है, यह स्त्री और पुरुष की विभूति है, अतः स्त्री और पुरुष से अधिष्ठित है। इनमें शक्तिमान पुरुष रूप शिव तो परमात्मा कहे गए और स्त्रीरूपिणी शिवा इनकी पराशक्ति। शिव सदाशिव कहे गए हैं। और शिवा मनोन्मनी। शिव को महेश्वर जानना चाहिए और शिवा माया कहलाती है। परमेश्वर शिव पुरुष हैं और महेश्वरी शिवा-प्रकृति। महेश्वर शिव रुद्र हैं और उनकी वल्लभा शिवा रुद्राणी, विश्वेश्वर विष्णु हैं, उनकी प्रिया लक्ष्मी, जब सृष्टिकर्ता शिव ब्रह्म कहलाते हैं तब उनकी प्रिया को ब्रह्माणी कहते हैं। भगवान त्रिपुरनाशक महादेव सम्पूर्ण पुलिंग रूप को स्वयं धारण करते हैं और महादेवी मनोरमा देवी शिवा द्वारा स्त्रीलिंग रूप धारण करती हैं। शिववल्लभा शिव समस्त शब्दजाल का रूप धारण करती है। और बालेन्दु शेखर शिव सम्पूर्ण अर्थ का। जिस-जिस पदार्थ की जो-जो शक्ति कही गई है वह-वह शक्ति तो विश्वेश्वरी देवी शिवा है और वह-वह सारा पदार्थ साक्षात महेश्वर है। जो सबसे परे है, जो पवित्र है, जो पुण्यमय है तथा जो मंगल रूप है उस-उस वस्तु को महाभाग महात्माओं ने उन्हीं दोनों शिव-पार्वती के तेज से विस्तार को प्राप्त हुई बताया है।[10] इसी बात का समर्थन कृष्ण यजुर्वेदीय 'रुद्रहृदयोपनिषद्' में मिलता है—'जो भगवती उमा है, वही विष्णु भगवान है, जो भक्तिपूर्वक विष्णु भगवान की अर्चना करते हैं वे वृषभध्वज शिवजी की ही पूजा करते हैं। जितने पुलिंग प्राणी हैं सब महेश्वर हैं जितने स्त्रीलिंग प्राणी हैं सब भगवती उमा हैं, समस्त व्यक्त उमा का स्वरूप है। और अव्यक्त जगत महेश्वर का रूप है। उमा और शंकर का योग ही विष्णु कहलाता है।[11] इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान को सदा एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है। न तो शिव के बिना शक्ति रह सकती है और न शक्ति के बिना शिव ही रह सकते हैं।[12] शिव वक्षोपरि नृत्यशीला काली की उपासना में शक्ति और शक्तिमान के परस्पर आधाराधेय भाव में रहस्यार्थ-गर्भत्व है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनादि अनन्तकाल से महिमामयी का वह मधुर नृत्य नित्य परम अमृत्व की ओर अग्रसर है। इस अपरिमित कालावधि में अनकेश: परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु शिव वक्ष:स्थल से शक्ति के श्रीचरणों की विच्युति नहीं होती। अपनी सृष्टि स्थिति प्रलय लीला के भीतर भी उसी परमाधार शिव की इच्छा को ही द्योतित करती है वह महाशक्ति, नित्यगति के भीतर शिव की अविचल मंगल शान्ति, सम्पूर्ण द्वन्द्वों के होने पर भी द्वन्द्वातीत की सत्ता तथा नियत परिणाम में अपरिणामशील, जड़ का चेतनाधार एवं अखिल आनन्द के स्रोत उस जगदाधार को सर्वव्यापी चिन्मयता के दर्शन होते हैं इस रहस्यात्मक उपासना में। जब विश्व के कण-कण में शिव के वक्ष-स्थल पर काली का नृत्य दिखाई पड़ता है, तभी शिवशक्ति की युगल उपासना सार्थक होती है।

उपनिषदों में युगल उपासना का उत्स

परम तत्त्वदर्शी ऋषियों ने ब्रह्म के दो स्वरूपों का अपने विमलचित्त में अनुभव किया था। एक सर्वातीत और दूसरा सर्वकारणात्मक भाव। उन्होंने सर्वातीत भाव में जगत की दशा, काल और अवस्था से परिच्छिन्न वस्तुओं एवं भावों से 'नेति-नेति' कहकर ब्रह्म को अनिर्वचनीय बताया।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राच्य मनसा सह' ऐसा कहने पर उसकी महनीयता एवं अतिशय कष्ट-साध्य ज्ञेयता का बोध होता है। उपनिषद् के ऋषि ने कहा—"जो कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह निश्चित रूप से ब्रह्म को नहीं जानता है। 'अविज्ञातं विजानीयात् विज्ञातमवजानीत' अर्थात वह इतना तो अवश्य जानता है कि ब्रह्म जानने में अति दुर्ज्ञेय है। लेकिन सर्वकारणात्मक भाव में उन्होंने सर्वातीत ब्रह्म को ही सर्व भूतयोनि कहा।"[13] यहाँ तक कि उपनिषदों के ऋषियों ने जगत का अभिन्न निमित्तो पादान कारण भी उसे ही कहा। जगत के अणु-अणु में उसे ही विहँसते देखा। सम्पूर्ण परिवर्तनों में भी उसी 'एक' के दर्शन हुए।

ब्रह्म का सृष्टि संकल्प

उस परमसत्ता ने लीला-विलास के लिए इच्छा की 'मैं एक बहुत हो जाऊँ।'[14] और जगत का रंगमंच नाच उठा। उसमें नित्य युक्त शक्तियाँ विषम भाव को प्राप्त हुईं और बन गईं, उसकी क्रीड़ा की नित्य संगिनी। फिर भी उसमें किसी प्रकार के देश कालादिगत परिवर्तन नहीं हुए—यही अद्वैत का लीला रहस्य है। भेदों में नित्य अभेद और अभेद में नित्य भेद—उसकी अपनी विशेषता है। फिर भी उसकी नित्य प्रतिष्ठा है अभेद भूमि में ही।[15] जिस शक्ति की सहायता से प्रभु अपनी लीला प्रकट करता है उसी की सहायता से सर्वव्यापी होकर भी अनधिकारियों के अदर्शन और शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक के लिए प्राण बहाने के हेतु अपने को छिपाए हुए है।[16] फिर भी वे विशेष लीला हेत्वर्थ शक्तियों सहित सगुण साकार हो जाते हैं।[17] सम्पूर्ण परिवर्तनों में उसी का चिद्विलास प्रस्फुरित होता है। इसका बहुत सुन्दर उदाहरण केनोपनिषद् के देवासुर-संग्राम में देवताओं की विजय के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बाद यक्ष-इन्द्रादि-संवाद में मिलता है। ब्रह्म की नित्य शक्ति भगवती उमा ने उस रहस्य का उद्घाटन किया कि वह यक्ष ब्रह्म ही था और उसी की कृपा से विजय हुई।[18] अर्थात उपनिषदों में जिस ब्रह्म को निर्गुण रूप से प्रतिपादन किया गया था वही आवश्यकता होने पर 'वक्ष' रूप में सगुण-साकार हुआ। उसकी अनिर्वचनीय शक्ति ने भी 'उमा' रूप में प्रकट होकर उसका रहस्य-निर्देश किया। इस प्रकार ब्रह्म सदैव अपनी शक्ति के द्वारा ही ज्ञेय होता है।

पुराणों में युगल उपासना का स्वरूप

आगे चलकर पुराणों में उसी निर्गुण-निराकार ब्रह्म का, जिसकी विश्वाभिव्यक्ति के अतिरिक्त यक्षादि रूपों में सगुण दर्शन उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, विशेष रूप से विविध लोकरक्षक एवं लोकरंजक लीलाओं का वर्णन किया गया। लेकिन शक्ति और शक्तिमान का युगल रूप में दर्शन मुख्य रूप से श्रीमद्भागवत, पद्म, ब्रह्माण्ड, शिवपुराण, स्कन्दपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में मिलता है। उनमें स्पष्ट रूप से शक्ति और शक्तिमान में भाव सम्बन्ध की स्थापना की गई है। श्री अक्षयकुमार बन्दोपाध्याय ने भी इसका समर्थन किया है—"उपनिषद् के अद्वय ब्रह्मतत्त्व में अभिन्न रूप से नित्य विद्यमान जो युगलरूप है उसका जो एक सर्वातीत रूप और एक सर्वकारण रूप है, एक स्थितिशील रूप और एक गतिशील रूप, एक निष्क्रिय रूप और एक सक्रिय रूप, एक सच्चिदानन्द घन रूप और एक विश्वजननी रूप है, वही पौराणिक और साम्प्रदायिक उपासना के क्षेत्र में युगल मूर्ति में प्रकाश को प्राप्त होता है। वस्तुतः यदि ब्रह्म के स्वरूप को मूर्ति की सहायता ने इन्द्रियगोचर आकार में हमारे भजन की सुविधा के लिए प्रकाशित ही करना हो तो युगल मूर्ति में ही उनका प्रकाश कदाचित पूर्ण तरह होता है।[19] षडदर्शन के आचार्यों में जो माया को ब्रह्म से नित्ययुक्त तथा जो नित्य सत्यस्वतन्त्र (रामानुजादि) मानते हैं वे भी किसी न किसी रूप से युगल मूर्ति की उपासना का समर्थन करते हैं। इसमें उनकी तार्किक बुद्धि का औपनिषद् अनुभूति के साथ समर्थन दिखाई पड़ता है। सांख्य-दर्शनकार भगवान कपिल ने प्रकृति पुरुष को स्वतन्त्र मानकर भी सृष्टि-लीला में अन्धे और लँगड़े के सम्बन्ध की स्थापना कर युगल स्वरूप के नित्य परस्पर सहयोग का रहस्य स्पष्ट किया है। तन्त्र शास्त्रों तथा परवर्ती वैष्णवाचार्यों ने तो पूर्ण रूप से युगल उपासना पर ही जोर दिया। विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने भी उन मन-बुद्धि अगोचर की उपासना शक्तियों के साथ विधान कर भक्ति मार्ग को सुगम बना दिया। साथ ही विश्व के प्रत्येक कण में उन युगल मूर्तियों के ही दर्शन किए। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सभी स्त्री और पुरुष तत्त्व उसी युगल सत्ता की अभिव्यक्ति हैं और तब इस प्रश्न का कि 'नित्य आनन्द स्वरूप को सृष्टि की आवश्यकता क्यों' का समाधान 'स एकाकी न रमते' का सहृदयता से हो गया। शिवा-शिव, सीता-राम, राधा-कृष्ण के युगल रूप का यही रहस्य है। केन्द्र में ये ही हैं—सारा विश्व-ब्रह्माण्ड इन्हीं की प्रतिच्छवि है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सामरस्य या महामिलन

'सामरस्य' का भाव ही है समभाव की प्रतीति। श्वास-प्रश्वास का गति के अन्त में जैसे भीतर और बाहर एक श्वासहीन निस्तब्ध भाव रहता है, जिसकी आकाश से उपमा होती है एवं जिसे पाने के लिए लोग कुम्भक का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार सृष्टि और संहार की प्रान्त भूमि में जो स्थित बिन्दु है उसे पकड़ने के लिए साधक चेष्टा करता है। इन दो बिन्दुओं के मध्य में एक गहरा आकर्षण का खेल है, जिसके प्रभाव से एक-दूसरे को खींच रहा है। इस आकर्षण के रहते भी दोनों में परस्पर मिलन नहीं होता—आकर्षण का खेल निरन्तर चलता रहता है।

ब्रह्म की परावस्था

इस समरस अवस्था को अद्वय अवस्था भी कहा जाता है। यह चिदानन्दमयी परावस्था है जो बुद्धि के अतीत, विचार के अतीत, ध्यान के अतीत, अव्यक्त और स्वयं प्रकाश है। वह सर्वातीत और सर्वात्मक है। इन देशों और सब कालों में महापुरुषों ने उसके सम्बन्ध में डर-डर कर चर्चा की है। यहाँ तक की उसका वर्णन करने में वेद भी चकित होते हैं।

अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि

परब्रह्म, परशिव आदि शब्दों द्वारा उसे लक्ष्य किया जाता है। सर्वत्र ही वह है, गुप्त रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर में भी है। पिण्ड में स्थित परब्रह्म का पिण्ड से अलग कर वर्णन नहीं किया जा सकता। निष्कल और सकल सभी तत्त्व उसमें हैं। सभी वही है। इन सबको नित्य लीला के रूप में जब वे प्रकट करना चाहते हैं तब उसमें इच्छा का आविर्भाव होता है। यह इच्छाहीन की इच्छा होने से वास्तव में स्वातन्त्र्य का ही विलास-मात्र है।

सामरस्य का उदय

शिव और जीव का मिलन तथा दोनों शक्तियों का मिलन ऊर्ध्वभाग में चलते-चलते प्रत्येक स्तर में होता है। अन्त में सामरस का भाव उदय होता है। तब जीव की भक्तिरूपा शक्ति शिव की चित्त शक्ति के साथ समान रूप से मिल जाती है। इस भक्ति का नाम समरसा भक्ति है—श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव और आनन्द के बाद यह समरसभाव उदित होता है। जीव तब जीव रहकर भी शिव के समान होता है। यही महायोग का सामरस है। ईसाइयों के धर्मशास्त्र में जिस अवस्था को 'कम्युनियन' कहते हैं, मिस्टिक गण जिसे 'युनिटिव लाइफ' आदि नामों से पुकारते हैं वह सामरस्य का ही आभारी है। इस अवस्था में बन्धन नहीं रहता, मुक्ति भी नहीं रहती, रहता है एकमात्र सामरस्य रूपा भक्ति-स्वयं प्रकाश अद्वैत रसतत्त्व। यह एक ही सत्ता का प्रकाश है। इसलिए यह ज्ञान है। पर इसमें पृथक भाव का आस्वादन रहता है। इसलिए यह भक्तिरस है। यह अद्वैत भक्ति-अवस्था है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सन्त 'टेरेसा' (Teresa) को श्रीभगवान के विशेष अनुग्रह से यह उपलब्धि हुई थी, उन्होंने स्वयं इसका वर्णन करने की चेष्टा की है—"Anreimination which shines like a most dazzling cloud of light." मिस्टर एरवार्ट के शिष्य प्रसिद्ध रहस्यवेत्ता हेनरी सुसो (Suso) ने आत्मा-परमात्मा के मिलन अथवा सामरस की बात कही है। परमात्मा मानो कह रहे हैं I will kiss them (the suffering saints) affectionately and embrace them so lovingly that I shall be they and they shall be I, and we two shall be united forever.

कामकला-विज्ञान में सामरस्य

यह सामरस तत्त्व कामकला विज्ञान में खूब स्पष्ट हुआ है। अग्नि और सोम परस्पर विरुद्ध हैं। अग्नि शोधन करती है, संहार करती है, किन्तु सोम आप्यायन करता है, सृष्टि करता है। अग्नि और सोम का संघर्ष स्वभाव-सिद्ध है। अग्नि-काररूपी संहारशक्ति है, यह जब सोम पर आघात करती है तब सोम बिन्दु विगलित होकर चूता है। इससे भी सोम जब अग्नि पर आघात करता है तब अग्नि ईंधन पाकर प्रज्वलित हो उठती है, और उसका शोषण करती है। काम-कला का यह काम रुचि है एवं कला अग्नि और सोम है। कामकला के श्वेतबिन्दु और रक्तबिन्दु दोनों में परस्पर विहार करने वाले शिव और शक्ति का निरन्तर कर्म चल रहा है। ये दो बिन्दु ही काम-कामेश्वरी रूप दिव्य मिथुन हैं। विमर्श रक्तबिन्दुरूप है और प्रकाश शुक्लबिन्दुरूप है। दोनों के मिलन से मिश्ररूप उत्पन्न होता है। वह सर्वतेजोमय परमात्मा है, यही रयि है, कमनीय होने से काम है। यह रयि ही शुक्ल और रक्तबिन्दुओं का समरसीभूत मिश्रबिन्दु है। यही सब की आत्मा है—

शुक्लः शिवा रक्तशक्त्यां परा शाम्भव वेधतः।
रक्त शाम्भव स्त्रोण परातत्वेन शक्तितः॥
रक्तः शिवः शुक्लशक्तयां परशुम्भैवय भावतः।
रक्तः शिवः शुक्लशक्तयां सच्चिदानन्दलक्षण॥

यह सामरस्य वास्तविक अद्वयतत्त्व है। वस्तुतः वह द्वैत और अद्वैत की एकतामात्र है। अवधूत गीता में कहा है—

अकैतं केचिविच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं ना जानक्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

अर्थात समरसता ही अमरत्व है।

श्री राधाकृष्ण-तत्त्व

श्री राधा-तत्त्व

राधिका जी परस्पर ब्रह्म श्री कृष्णचन्द्र की ह्लादिनी शक्ति हैं। श्री भक्तिविनोद ठाकुर ने 'श्री गौरांगलीला स्मारक मंगलस्तोत्रम्' नामक लघु ग्रन्थ में इस तत्त्व का संक्षेप में वर्णन किया है—"स्वरूप शक्ति के तीन प्रभाव हैं—ह्लादिनी, संवित और सन्धिनी। ह्लादिनी के प्रणय-विकार में श्री कृष्ण सर्वदा अनुरक्त हैं और संवित शक्ति के द्वारा प्रकटित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अंतरंग भाव के द्वारा सर्वदा रसिक-स्वभाव हैं। सन्धिनी शक्ति के द्वारा प्रकटित निर्मलवृन्दावन आदि धाम में वे स्वेच्छामय ब्रजरसविलासी श्री कृष्ण नित्य रस-सागर में निमग्न रहते हैं।''[20] वे स्वयं श्री कृष्ण को अतिशय आनन्द प्रदान करती हैं। अपने कार्यव्यूह रूप में आठ प्रकार के भावों को आठ प्रमुख सखियों के रूप में प्रकट करती हैं। ये चिद् जगद्रूप ब्रज की नित्यसिद्धा सखियाँ हैं। स्वरूप शक्ति की 'संवित' ब्रज के समस्त भावों को अभिव्यक्ति करती है। स्वरूप शक्ति की संधिनी ब्रज के भू-जलादि विशिष्ट ग्राम, वन तथा गिरिगोवर्द्धनादि विलासपीठ तथा श्री कृष्ण के और श्री राधिका तथा उनके सखी-सखा, गोधन, दास, आदि चिन्मय कलेवर और विलास के उपकरण के रूप में प्रकाशित है। श्री कृष्ण ह्लादिनी के प्रणय-विकार में सर्वदा परमानन्दरत हैं तथा संवित के आविर्भूत रहस्यजनित भावों के साथ क्रियावान हैं। वंशीवादन के द्वारा गोपी मन्त्र का आकर्षण तथा गोचारण, रासलीला आदि समस्त श्री कृष्ण क्रियाएँ संविद आश्रित हैं। सन्धिनीकृत धाम में ब्रजविलासी श्री कृष्ण सर्वदा रसमग्न रहते हैं।

श्री राधिका जी ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति

श्री मत्परमहंस स्वामी हरिहरानन्द जी (श्री करपात्री जी महाराज) ने यहीं बात कही है—''किन्तु सभी गोपांगनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री वृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता, विशाखा आदि हैं, वे दो नित्यसिद्धा हैं। वे तो भगवान की नित्य सहचर हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्र में माधुर्य होता है, उसी प्रकार भगवान के साथ उनका अभेद ही है।''[21] श्रीराधोपनिषद् में लिखा है—भगवान हरि श्री कृष्ण ही परम देव हैं। वे छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण भगवान, गोप और गोपियों के सेव्य, श्री वृन्दा (तुलसी) देवी से आधारित और श्री वृन्दावन के अधीश्वर हैं। वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। उन्हीं श्री हरि के एक रूप नारायण भी हैं, जो कि अखिल ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं। वे श्री कृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं। ये ही परम अन्तरंगभूता राधा हैं। श्री कृष्ण इनकी आराधना करते हैं। इसलिए ये राधा हैं। अथवा ये सर्वदा श्री कृष्ण की आराधना करती हैं, इसलिए 'राधिका' कहलाती हैं। श्री राधा को 'मान्धर्वा' भी कहते हैं। ब्रज की गोपांगनाएँ, द्वारका की समस्त श्री कृष्ण महिषियाँ और श्री लक्ष्मी जी इन्हीं श्री राधिका जी की कायव्यूह (अंशरूपा) हैं। ये राधा और श्री कृष्ण रस-सागर होते हुए ही शरीर से क्रीड़ा के लिए दो हो गए हैं। ये राधिका जी भगवान हरि की सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्री कृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। वेद एकान्त में इनकी ऐसी ही स्तुति किया करते हैं।[22]

श्री राधिका जी महाभावरूपा

मधुर भक्तिरस के पाँच भाव मुख्यतया माने गए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें सर्वात्मनिवेदन पूर्ण होने के कारण मधुर भाव ही परिपूर्णतया सर्वश्रेष्ठ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। अन्य भाव इसकी भूमिका हैं। यह मधुर भाव जहाँ पूर्ण रूप से लीलायमान तथा आत्यन्तिक रूप से अभिव्यक्त होता है, वही 'महाभाव' है और वही श्री राधा जी का स्वरूप है। रस-साम्राज्य में प्रेम का विकास होते-होते 'महाभाव' तक पहुँचना होता है। उसके आठ स्तर माने गए हैं—प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। जिसके भीतर यह भाव परिपूर्ण रूप में वर्तमान रहता है, वैष्णव परिभाषा में उसी का नाम है राधा। श्री राधा महाभाव-स्वरूपा हैं, सुतराँ श्री राधा भक्त की नित्य परिपूर्ण आदर्शस्वरूपा हैं। श्री राधा के परम प्रेममय भजन और आस्वादन क्षेत्र में ही सर्वाराध्य भगवान का नित्य परिपूर्ण प्रकाश होता है।[23]

श्री राधा जी में मादन-भाव

इस महाभाव के परमोज्ज्वल, नितान्त पवित्र, निर्मल, दिव्य, स्वर्गसदृश, मोदन और मादन दो सर्वोत्तम स्तर हैं, जो प्रेम के पूर्ण प्राकट्य का परिचय देते हैं। इनमें 'मादन' नामक 'महाभाव' परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। इसका प्रकाश केवल श्री राधिका जी में ही है। इसके अतिरिक्त स्नेह से मोदन तक सभी स्तर श्री कृष्ण में तथा समस्त ब्रजांगनाओं में मधुरभावमयी रागात्मिका प्रीति से संयुक्त गोप-रमणियों में है। ब्रजसुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरों के प्रेम से श्री कृष्ण-सुखार्थ श्री कृष्ण की नित्य-नवोत्साहपूर्वक सेवा-उपासना करती हैं। श्री राधा जी उनमें मुख्य तथा सर्वप्रधान श्री कृष्ण-सेविका तथा श्री कृष्ण-राधिका हैं। अतएव, श्री कृष्ण इस प्रेम के विषय हैं। साथ ही इस प्रेम के समस्त स्तर श्री कृष्ण में भी हैं। अतएव इस प्रेम के आश्रय भी हैं, अर्थात वे भी ब्रजसुन्दरियों को सुख पहुँचाना चाहते हैं। गोप-रमणियों में श्री राधा मादनाख्य महाभाव-रूपा हैं। इसलिए वे परम आश्रयरूपा हैं और वे श्री कृष्ण को सुखी देखकर उससे अनन्तगुना सुख-लाभ करती हैं। श्री राधा जी के इस सुख की स्थिति पर विचार करके श्री कृष्ण इस प्रेम के आश्रय बनते हैं और वे नित्य श्री राधा को आराध्य मानकर उनकी सेवा-उपासना करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। यह उनका परस्पर आश्रय विषय सम्बन्ध नित्य है। यही प्रेम का वह सर्वोच्च स्तर है, जहाँ तक मानव-बुद्धि अनुमान लगा सकती है। यों तो वास्तविक प्रेम उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वर्द्धनशील है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अचिन्त्य भी है। इस प्रेम के मूर्तिमान दिव्य चिन्मय विग्रह श्री राधा-कृष्ण युगल हैं। यही इनका युगल-स्वरूप है। प्रेमी साधक इन्हीं श्री राधामाधव युगल की उपासना किया करते हैं।

श्री राधा नाम का विकास

भारतीय चिन्तकों की यही परम्परा रही है कि साधनात्मक क्षेत्र में उन्होंने साधकों की जन्मतिथि, स्थान, जाति आदि से उदासीन होकर उनकी साधना-पद्धति का ही वर्णन किया है। पुराणों का रचना-काल शक-संवत्, विक्रम-संवत् या ईसवी-सन् की तरह नहीं थी, थी भी तो उसकी अवधि इतनी सुदीर्घकालीन थी और आज भी है, जिसमें निश्चित रूप से किसी व्यक्ति के काल-क्रम का पता लगाना अत्यन्त कठिन है। मन्वन्तर इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अवश्य ही ज्योतिष की गणितीय परिगणना इस सम्बन्ध में कुछ सफल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रयास रही है। इसलिए पुराणादिकों के रचना-काल के सम्बन्ध में भी सबका मतैक्य नहीं है। पुराणों में श्रीमद्भागवतपुराण सबसे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक पुराण है। यह महाभारत काल की ही रचना मानी जाती है, जो कृष्ण के समकालीन थे। श्रीमद्भागवत के रासपंचाध्यायी में एक प्रिय गोपी का वर्णन मिलता है। रासलीला में अन्तर्धान हुए श्री कृष्ण को खोजती हुई गोपियाँ उनके चरण-चिह्नों को देकर कहती हैं—ओह! जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराज के साथ जाती है और गजराज उस हथिनी के कन्धे पर अपना सूँड़ रख दे और दोनों मिलकर चलें, वैसे ही अपने कन्धे पर श्रीश्यामसुन्दर की भुजा को धारण किए हुए उनके साथ-साथ चलनेवाली किस सौभाग्यवती ब्रजसुन्दरी के वे दूसरे चरण-चिह्न हैं।[24] निश्चय ही यह हमलोगों का मनहरण करनेवाले सर्वशक्तिमान श्री कृष्ण की आराधना करने वाली, उनसे प्रेम करने वाली आराधिका होगी। उस परम प्रेम के फलस्वरूप ही इस पर रीझ कर गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस बड़भागिनी को एकान्त में ले गए हैं और हमलोगों को वन में छोड़ दिया है।[25] इसी 'आराधितो' पद से राधा शब्द की व्युत्पत्ति बताई है। क्योंकि परवर्ती राधोपनिषद् इसकी व्याख्या इसी तरह करता है—"कृष्ण इनकी आराधना करते हैं, अथवा वे सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं, इसीलिए वे राधा कहलाती हैं।"[26] श्रीराधिका गोपियों से सर्वश्रेष्ठ तथा महाभावरूपा हैं। प्रेम की अतिशयता गोप्य होती है। शायद इसीलिए वेदव्यास ने इनके नाम से ही कहा है। परवर्ती विद्वान् विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या में—"नूनं हरिरयं राधिताह राधां इत्येह पपिताह" लिखकर राधा से इसका सम्बन्ध जोड़ा है। कृष्णदास कविराज भी इसका समर्थन करते हैं।[27] अंग्रेज विद्वान् जे०एन० फकुँहार ने भी राधा का उद्भव और राधा-भक्ति का प्रारम्भ भागवतपुराण से ही माना है।[28]

परवर्ती पुराणों में विष्णुपुराण, पद्मपुराण, वाराहपुराण, देवीभागवतपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा शब्द दिखाई पड़ता है। परन्तु, सबमें एक समान वर्णन नहीं है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'राधा' नाम तथा उनकी लीलाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। हरिवंशपुराण महाभारत का अंग माना जाता है। इसमें श्री कृष्ण की शृंगारपूर्ण वृन्दावन की लीलाओं का वर्णन तो है परन्तु युगल भाव का वर्णन दिखाई नहीं पड़ता।

विष्णुपुराण के अट्ठाइसवें अध्याय के रासलीला-प्रसंग में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। लेकिन, यहाँ भी 'राधा' के सम्बन्ध में संकेत से ही बात—विष्णुपुराण में राधा नाम—कही गई है—

अत्रोपविश्य सा तेत्त कापि पुष्पैरलङ्कृता।
अन्यजन्मनि सर्वात्मा विष्णुरभ्यर्चितो यया॥

अर्थात यहाँ बैठकर कोई रमणी उस कृष्ण द्वारा पुष्पों से अलंकृता हुई है, जिस रमणी के द्वारा दूसरे जन्म में सर्वात्मा विष्णु अभ्यर्चित हुए हैं। यहाँ 'राधित' या 'आराधित' शब्द की जगह 'अभ्यर्चित' शब्द का प्रयोग हुआ है।

पद्मपुराण में एक-दो स्थलों पर 'राधा' नाम की चर्चा की गई है। श्री रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ में और कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' में पद्मपुराण से 'राधा' नाम का उल्लेख उद्धृत किया है।[29] इसी पुराण में 'राधिका' की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जयन्ती 'राधाष्टमी' का वर्णन माहात्म्य-सहित मिलता है, जिस व्रत के करने से विविध पातकों से मुक्ति की चर्चा की गई है। इसके बाद वाले अध्याय में देखते हैं कि एक दिन वृन्दावन में बालकृष्ण को देखकर नारद ने उन्हें साक्षात भगवान का अवतार समझ लिया और सोचा कि लक्ष्मी देवी अवश्य ही किसी गोप के घर अवतीर्ण हैं। ढूँढ़ते हुए भानु नामक गोपवर्ण के घर में सुलक्षणा गौरी कन्या को देखकर वे समझ गए कि ये ही कृष्णवल्लभा लक्ष्मी की अवतार हैं, ये माहेश्वरी, रमा, आद्याशक्ति, मूलप्रकृति, इच्छाज्ञान-क्रिया-शक्ति हैं।[30] इस सम्बन्ध में श्री शशिभूषण दासगुप्त ने क्षेपक कहकर शंका व्यक्त की है। परन्तु, इनका अनुमान स्वयं निर्दोष नहीं है।

मत्स्य-पुराण से भी इसका बहुत ही अल्प वर्णन हुआ है। इसमें कहा गया है कि रुक्मिणी द्वारावतो में हैं, और राधा हैं वृन्दावन के मन में।[31]

इस तरह उपर्युक्त पुराणों में विशेषतः वायुपुराण, वाराहपुराण, मत्स्यपुराण, नारदीयपुराण आदि पुराणों में राधा-वर्णन की स्वल्पता का प्रमुख कारण है उनका विष्णु के अन्य रूपों का प्रतिपादन करना। इन पुराणों के नामों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा का स्वरूप

वैष्णवपुराणों में ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्री कृष्णलीला-वर्णन में श्रीमद्भागवत के बाद आता है। इसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का विशद वर्णन दिखाई पड़ता है। इसके ब्रह्मखण्ड के पंचम अध्याय में राधा की उत्पत्ति गोलोक में रासपरायण श्री कृष्ण के वाम पार्श्व से हुई है—"वहाँ श्री कृष्ण के वाम पार्श्व से एक कन्या प्रकट हुई, जिसने दौड़कर फूल ले आकर उन भगवान के चरणों में अर्घ्य प्रदान किया। उसके अंग अत्यन्त कोमल थे। वह मनोहारिणी और सुन्दरियों में सुन्दर थी। उसके सुन्दर एवं अरुण ओष्ठ और अधर अपनी लालिमा में वन्धुजीव पुष्प (दुपहरिये के फूल) की शोभा को पराजित कर रहे थे।"[32] इसी क्रम में श्री राधा से अनेक गोपांगनाओं के प्राकट्य का वर्णन मिलता है। पुनः श्री कृष्ण के रोमकूपों से भी अनेक गोप तथा गौएँ प्रकट हुईं। गोलोक में प्रकट श्री राधा का ब्रज में उत्पन्न होने का कारण श्रीदामा का शाप बताया गया है। श्रीमद्-भागवतपुराण में राधा-कृष्ण के विवाह की चर्चा नहीं हुई है, लेकिन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा और कृष्ण के विवाह का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है और बताया गया है कि राधा की छाया के साथ रायाण गोप का विवाह हुआ था, जो लौकिक महत्व रखता है।

ज्योतिषीय राधा शब्द का पौराणिक राधा से सम्बन्ध

इस तरह हम देखते हैं कि ज्योतिष में अनुराधा, विशाखा आदि नामों के द्वारा राधा शब्द का साम्य दिखाकर सौरमण्डल से सम्बद्ध रूपक स्थापित किया गया है, वह केवल बुद्धि का विलास-मात्र है। अनुराधा और विशाखा आदि शब्दों से कथमपि पौराणिक राधा का सम्बन्ध नहीं हो सकता। पुराणकारों को ज्योतिष के अनुराधा का वर्णन कभी अभीष्ट न होगा। उनका तो सम्बन्ध 'अनयाराधितो नूनं' से ही हो सकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतः ब्रह्म की जिस आदिशक्ति का वर्णन वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, पांचरात्रों, तन्त्रों तथा विविध आर्ष ग्रन्थों में पाते हैं, उसी का लीला-हेत्वर्थ प्रकट रूप-वर्णन वैष्णवपुराणों में दिखाई पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कुतर्क का आश्रय लेकर 'राधा' का सम्बन्ध बाहर से आए आभीरों के साथ जोड़ने का दुष्प्रयास किया है। परन्तु, श्री मुंशीराम शर्मा ने इसका सप्रमाण खण्डन अपने ग्रंथ 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में किया है। कृष्ण भक्ति का प्रचार पुराणों द्वारा ही उत्तर भारत से दक्षिण भारत में हुआ था। अतः दक्षिण के सुप्रसिद्ध आलवार भक्तों की कृष्ण-भक्ति का आधार श्रीमद्भागवतपुराण ही है। अवश्य वे भक्तशिरोमणि रासलीला के रहस्य से परिचित होंगे। तमिल का 'कुर वैकुट्ट नृत्य' रासलीला से समता रखता है। ये भक्त मधुर भावना के उपासक थे। इन भक्तों के चार हजार पद श्री कृष्ण-लीला से सम्बद्ध पाए जाते हैं। इनमें श्री कृष्ण तथा एक प्रमुख गोपी का वर्णन है। यद्यपि उस गोपी का नाम 'नोप्पिनाई' है, फिर भी अनुमान किया जाता है कि वह प्रमुख गोपी राधा ही होगी।

शिलालेखों पर राधा

ईसवी-सन् के पूर्व के किसी भी शिलालेख पर राधाकृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध किसी प्रकार के चित्र नहीं मिलते। ईसा की चौथी शताब्दी के शिलालेखों पर श्री कृष्णलीला से सम्बद्ध चित्र मिलते हैं, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराणों द्वारा इन लीलाओं का पूर्ण प्रचार हो गया था। डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई से प्राप्त मूर्ति में जो गोपी का चित्र है, उसे निश्चित रूप से राधा ही माना है। इससे भी स्पष्ट होता है कि पाँचवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण की लीलाओं का व्यापक प्रचार हो गया था।

संस्कृत-साहित्य में राधा

संस्कृत-साहित्य में भी राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन पर्याप्त रूप में मिलते हैं। संस्कृत की साहित्यिक रचनाओं के पूर्व ही श्रीमद्भागवत को मानना उचित होगा; क्योंकि राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार साहित्य द्वारा नहीं, बल्कि पुराणों द्वारा हुआ था और सभी पुराणों को प्राचीनतम न भी माना जाए, तो भी श्रीमद्भागवत और पद्मपुराण को तो प्राचीनतम मानना ही होगा। अतः पुराणों से पूर्व साहित्यिक ग्रन्थों में राधा की लीलाओं का वर्णन मिलता है, कहना युक्ति-संगत नहीं होगा। अवश्य ही, परवर्ती संस्कृत-साहित्य में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन पर्याप्त रूप में दिखाई पड़ता है। बाद में हिन्दी के भक्त कवियों ने भी इसका वर्णन अपनी रचनाओं में किया है, इसका वर्णन यथास्थान किया जाएगा।

चीर-हरण और रास-रहस्य

चीर-हरण की लीला श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित है। एक बार गोपियों ने कात्यायनी देवी का व्रत किया। उसी व्रतकाल में वे सब वस्त्र उतार कर स्नान कर रही थीं। इसी बीच में योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण ब्रजांगनाओं के व्रत का अभिप्राय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जानकर, उस कर्म की सिद्धि के लिए अपने दाम, सुदाम, वसुदाम, किंकिणी, गन्धपुष्पकादि परम अन्तरंग सखाओं से परिवृत होकर वहाँ गए। ये सखा श्री कृष्ण के साक्षात अन्तःकरण ही हैं।[33] गोपियों के नग्न स्नान करते देखकर उन्हें कौतूहल हुआ। वे उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब के ऊपर चढ़ गए और गोपियाँ जब अपना वस्त्र माँगने लगीं तब वे कहने लगे—

भवत्वो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥

हे सुहासिनियो! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा मानने को तैयार हो तो यहाँ आकर अपने वस्त्र माँगो। परन्तु, संकोच की मारी गोपियाँ आगे बढ़ नहीं पातीं। अपना नग्न रूप वे अपने प्राणवल्लभ के भी सम्मुख खोलने में हिचकती हैं। इसके बाद का श्लोक है—

यूयं विवस्त्रा यदपी धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदुदेवहेलमन्।
बद्धाञ्जली मूर्ध्न्यपनत्त येह सः
कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम्॥[34]

तुमने व्रत धारण करके भी वस्त्रहीन होकर जल में स्नान किया। इसमें तुम्हारे द्वारा वरुण देव का अपराध हुआ है। अतः उस दोष की शान्ति के लिए तुम मस्तक पर हाथ जोड़कर उन्हें झुककर प्रणाम करो और फिर अपने वस्त्र ले जाओ। भगवान के इस प्रकार कहने से उन ब्रजबालाओं ने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारा व्रत खण्डित हो गया, अतः उसकी निर्विघ्न पूर्ति के लिए उन्होंने समस्त कर्मों के साक्षी भगवान कृष्ण को प्रणाम किया। कृष्ण ने गोपियों से छल की बातें कीं, उनकी लज्जा छुड़ाई, उनसे हँसी की, उन्हें कठपुतलियों के समान नचाया और उनके वस्त्र हर लिए, तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, बल्कि अपने प्रियतम के संग से परम प्रसन्न हुईं। उन्होंने अपने वस्त्र तो लिए, किन्तु प्रियतम के समागम में आसक्त होकर उनका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे वहाँ से चल न सकीं, वरन लजीली दृष्टि से उन्हीं की ओर निहारती रहीं। सामीप्य और साहचर्य के रहते हुए भी हम अपने प्राणनाथ और अपने बीच पर्दा बनाए रखना चाहते हैं। हम पूर्णतः अपना नग्न हृदय सर्वस्व रखने में संकोच करते हैं। हमें अपना आवरण ही प्रिय है। जो हमारे हृदय का स्वामी है, उससे लाज किस बात की?

निरावरण हो जाना ही साधन है। मन की गति विचित्र है। भगवान को पाए बिना भी नहीं रहा जाता, पर्दा भी हटाते नहीं बनता। भगवान भी मिलें और आवरण भी रहे, यही जीव की इच्छा है। दुनिया के हँसने और अनावृत्त हो जाने का भय ही हमें भगवान से मिलने नहीं देता। परन्तु, वह तो हमारे अनावृत्त हृदय को ही देखना चाहता है। गोपियाँ नग्न होकर, प्रेमविभोर होकर सब कुछ छोड़कर, सर्वशून्य होकर, लोकलाज को तिलांजलि देकर परम प्रियतम को प्राप्त करने के लिए उन चरणों में दौड़ी आई हैं। इसी को Lifting of the veil कहते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवान श्रीराम द्वारा मुनियों को गोपी होने देने का वरदान

श्री कृष्णोपनिषद् में वर्णन आया है कि रामावतार में भगवान के सुन्दर रूप को देखकर दण्डकारण्य के मुनिजन मुग्ध हो गए। भगवान के रूप-रस का पान तो उन्होंने किया ही, पर वे भगवान का अंग-संग चाहते थे, भगवान का आलिंगन करना चाहते थे और उनके अधरामृत से अपने प्राणों को तृप्त करना चाहते थे। उनकी इस आन्तरिक लालसा को देखकर भगवान राम ने उन्हें वर दिया और वे ही गोपियों के रूप में प्रकट हुए।[35] कुछ गोपियाँ चित्-शक्ति की और कुछ साक्षात श्रुति की ऋचाओं के अवतार हैं। उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान के चरणों में सर्वथा समर्पित कर दिया था। वे यही जपती रहती थीं कि 'नन्दगोप सुतं देवि पतिं मे गुरु ते नमः'—हे महामाये, हे महायोगिनी, हे कात्यायिनि! आप नन्दगोप के पुत्र कृष्ण को हमारा पति बनाइए! हे देवि! हम आपको नमस्कार करती हैं। नन्दनन्दन हमारे पति हों—यही उनके हृदय की निगूढ़तम लालसा है। फिर भी, निरावरण रूप से वे श्री कृष्ण के पास नहीं हैं। थोड़ी-सी झिझक थी। यही झिझक दूर कर देने के लिए, उनकी साधना, उनके समर्पण को पूर्ण कर देने के लिए भगवान ने उनका आवरण-भंग कर दिया, उनका आवरण-रूप चीर हर लिया।

प्रेमी और प्रियतम के बीच एक हार का व्यवधान भी खलता है। इसीलिए श्री कृष्ण ने कहा—'मुझसे अनन्य प्रेम करने वाली गोपियो! एक बार, बस एक बार अपने सर्वस्व को और अपने को भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही', गोपियों ने कहा—'श्री कृष्ण! हम अपने को कैसे भूलें? हमारे जन्म-जन्म की धारणाएँ भूलने दें तब न? हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है? हम तुम्हारी दासी हैं। परन्तु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।'

परन्तु, श्री कृष्ण इस पर्दे को कैसे रहने देते? उन्होंने प्रणय का जादू डालकर इस आवरण को हटा ही दिया। आत्मा के आत्मा श्री कृष्ण का निरावरण मिलन का मधुर आमन्त्रण पाकर गोपियाँ प्रेम में निमग्न होकर प्रियतम के चरणों में दौड़ आईं। फिर, न उन्हें वस्त्रों की सुध रही, न लोगों का ध्यान रहा—उन्होंने न जगत की ओर देखा, न अपनी ओर!

चीरहरण-लीला का रहस्योद्घाटन करते हुए स्वामी श्रीमत्परमहंस हरिहरानन्द जी सरस्वती (करपात्रीजी) ने कहा है—"यह लीला अलौकिक एवं अप्राकृत है, यही बात प्रदर्शित करने के लिए इस श्लोक में श्री कृष्ण के लिए भगवान और योगेश्वर इत्यादि विशेषण आए हैं। अर्थात भगवान ब्रजकुमारियों की शुद्ध भावना से की गई आराधना से सन्तुष्ट होकर उनकी कर्मसिद्धि के लिए पधारे हैं, गोपियों के नग्न अंग देखने के लिए नहीं। योगिसिद्ध प्राणी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर योगेश्वर तो सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता आदि के स्वामी होते हैं, उनके मन में ऐसी वासनाओं का जाग्रत होना नितान्त असम्भव है। फिर, महामहायोगेश्वर, जिनके पाद-पंकज का सेवन करते हैं वे योगेश्वरेश्वर भगवान श्री कृष्ण अज्ञात यौवना उन कुमारिकाओं का नग्न अंग देखने की ही

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रुचि से वहाँ गए, ऐसी दुर्भावना जिनके मन में उठे उनसे अधिक हतभाग्य कौन हो सकता है?''—नन्ददास जी ने श्री कृष्ण और ब्रजांगनाओं के सम्बन्ध को इसी रूप में दिखलाया है—'तरंगन वारि ज्यों।' जैसे तरंग के प्रत्यंश में बारि भरपूर है, वैसे ही ब्रजांगनाओं की अन्तरात्मा, अन्तःकरण कि बहुना रोम-रोम में श्री कृष्ण-रस भरपूर है।[36] पुनः समग्र ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, श्री एवं सम्पूर्ण ज्ञान, वैराग्य जहाँ विद्यमान हों, उन्हें भगवान कहा जाता है। भिन्न-भिन्न साधकों में भगवान की कृपा से भगवान का ही कुछ (असमग्र या सम्पूर्ण) ऐश्वर्य एवं धर्म प्राप्त होता है। यही स्थिति ज्ञान-वैराग्य की भी है। साधारण धर्मात्मा पुरुष भी नग्न कुमारी को या परस्त्री को देखने के लिए उत्सुक नहीं होते। सम्पूर्ण रूप से धर्म जिसमें विराजमान है, उसकी ऐसी उत्सुकता क्यों होगी? कोई भी वैराग्यवान एवं ज्ञानवान, मायामय विषयों के प्रलोभन में नहीं फँसता, फिर सम्पूर्ण वैराग्य, मानसम्पन्न भगवान ब्रजकुमारियों के सुन्दर निरावरण अंगमात्र देखने के लिए ऐसा कैसे कर सकते थे।[37] लज्जा-त्याग की उदात्त आवश्यकता पर कहते हैं—''जो ब्रह्मनिष्ठा औरों को दुष्प्राप्य है, वही इनके लिए दुस्त्याज्य है। अन्यान्य दुस्त्यजों का भी त्याग हो सकता है, परन्तु यह अन्तिम दुस्त्यज है। श्रीभगवान से अधिक माधुर्य कहाँ सम्भव है कि जिससे उसका त्याग सम्भव होगा? जैसे लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा विनिर्मुक्तब्रह्मनिष्ठ सर्वकर्मसंन्यासी का कर्मत्याग भूषण है, दूषण नहीं। वैसे ही श्री कृष्ण प्रेमोन्माद में लोकवेदातीत श्रीब्रजांगनाओं की लज्जा एवं आर्यधर्म-त्याग भूषण ही है, दूषण नहीं। जैसे मुख्य पति की प्रतिमा के पूजन का त्याग, किंवा मुख्य विष्णु की प्राप्ति में विष्णु-प्रतिमा का पूजन-त्याग दोष नहीं है, वैसे ही परमाराध्य परम पति भगवान श्री कृष्ण की प्राप्ति में ब्रजांगनाओं का भी आर्यधर्म-त्याग भूषण ही है।''

परमानन्द रसामृतसिन्धु भगवान की तरंगस्थानीया उनकी चिदानन्दमयी शक्तियाँ ही जीव हैं। वही भगवान की अन्तरंग एवं परा-प्रकृति या शक्ति पद से कही जाती है—''प्रकृति विद्धि मे परां, जीवभूतां महाबाहो ययेद धायते जगत।'' जब तरंग के भीतर, बाहर और मध्य में या अंश-अंश में जल भरपूर रहता है, तब समुद्र से तरंग का क्या व्यवधान (पर्दा)? वैसे ही जब चिदानन्दमयी जीव शक्तियों के अन्तर्बाह्य सर्वत्र परमानन्द रसामृत-मूर्ति श्रीभगवान व्याप्त हैं, तब उन भगवान से जीव का क्या छिपाव? विश्व के स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीरों की समस्त हलचलों का जो कारण एवं भासक साक्षी है, उससे क्या छिप सकता है? प्राणियों की मनःबुद्धि और अहंकार की सभी सद्भावनाओं और दुर्भावनाओं का जो साक्षी है, पिपीलिकाओं की भी समस्त मनोवृत्तियों का जो सर्वदा ज्ञाता है, उससे क्या छिपाव; फिर भी अनादि अनिर्वचनीय मोहिनी शक्ति के अभाव से वे मोहिनी शक्तियाँ भगवान से अपने अंगों को आवृत रखना चाहती हैं और उनमें लज्जा करती हैं। वे ही ब्रजांगना हैं, और सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षी ही श्री कृष्ण हैं। चैतन्याभासी प्रेम-बुद्धि वृत्तियाँ भी ब्रजांगना कही जा सकती हैं। उनके प्रकाश साक्षी श्री कृष्ण हैं। यद्यपि साक्षी की अन्तरंगता न समझने से उनसे छिपने की चेष्टा होती है। साभास मनोमयी वृत्ति रूपा श्रुतियाँ भी ब्रजांगना हैं। इनका हृदय जिस परम तत्त्व में निहित है, उन परमान्द रसामृत-मूर्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवान से उनका क्या अन्तर ?[38] और भी, जैसे सब मनों के अभिमानी होने से चन्द्र के संस्पर्श से किसी भी साध्वी का पातिव्रत्य नहीं बिगड़ता, वैसे ही सर्वान्तरात्मा श्री कृष्ण का संस्पर्श किसी के भी पातिव्रत्य का व्यापादक नहीं है।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह दोषभाक्॥

जो गोपियों और उनके पतियों एवं सभी की अन्तरात्मा हैं वह सर्वाध्यक्ष एवं सर्वथा निर्लेप एवं निर्दोष ही रहता है।[39] इससे स्पष्ट होता है कि चीरहरण-लीला अविद्या-संवरणपूर्वक जीव और ब्रह्म के मिलन का रहस्य है।

रास-रहस्य

वैष्णव सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों में 'परम भाव' के उपासकों को जमुनातट, वंशीवट, वृन्दावन की गलियों तथा उनमें होने वाली रास की क्रीड़ा ने बहुत आकृष्ट किया है। परम भाव की सम्यक उद्भावना में रास का बहुत हाथ है।

शरद की शोभनीया यामिनी में यमुनातट पर दूर तक फैली हुई, लहराती हुई, कुंज-कुटीर में चन्द्र-ज्योत्सना छिटकी-बिखरती है। यमुना के नीले-नीले जल-प्रवाह पर भगवान चन्द्रदेव अमृत-वर्षा कर रहे हैं। वृन्दावन की समस्त वन-भूमि मधुमयी हो गई है। निर्मल-ज्योत्सना में स्नान कर कुसुमों से लदी हुई तरु लताएँ ज्योत्सना-प्लावित यमुना का पुलिन आज किसी अपूर्व आनन्द में 'किसी' के साथ क्रीड़ा करने की तैयारी में है।

सैकड़ों कुंज-कुटीर हैं। श्रीभगवान की विहार-वासना ने आज इसे पागल बना दिया है। इसो समय वंशी में काम-बीज कली[40] की ध्वनि गूँज उठती है। वंशी की ऐसी परमाकर्षक सुमधुर ध्वनि को सुनकर गोपियाँ जिस किसी भी अवस्था में रास में सम्मिलित होने के लिए घर से दौड़ पड़ती हैं—

वंशी धुनी सुनी गोप कुमारी।
अति आतुर ह्वै चली श्याम पै,
तन-मन की सब सुरति बिसारी॥
गल को हार पहिर निज कटि महँ
कटि की किंकिणि गल महँ डारी।
पग पायलने धारण कर में,
कर की पहुँचिया पगन मँझारी॥
कान बुलाक, कपोलन बेंदी,
नाक में पहिरि कान की बारी।
एक नैन अंजन बिनु सोहे,
एक नैन में काजर सारी॥
कोउ भोजन पति परसत दौरी,
कोउ भोजन तजि दीन्ही थारी।
नारायण जो जैसी हुती घर,
सो तैसेही उठि विपिन सिधारी॥

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गोपियों की प्रेम-परीक्षा लेने के लिए भगवान ने उन्हें पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देते हुए घर लौट जाने को कहा। परन्तु, गोपियों के अविचल प्रेम को देखकर भगवान ने उनके साथ अपने स्वरूपभूत आनन्द का उद्रेक करते हुए विविध क्रीड़ाएँ कीं। इससे उनके मन में ऐसा प्रेमाभिमान आ गया कि पृथ्वी-भर की समस्त स्त्रियों में हमीं सबसे श्रेष्ठ हैं।[41] भगवान भक्तों के अहंकार को उनके हित के लिए ही दूर कर देते हैं। वे भगवान प्रेम को बढ़ाने तथा मान को दूर करने के लिए वहीं अन्तर्धान हो गए। अतः उन्हें न देखकर गोपांगनाएँ व्याकुल होकर विलाप करने लगीं। उन्मत्त के समान एक वन में जाकर श्रीहरि का पता वृक्षों से पूछने लगीं। इधर भगवान श्री कृष्ण और गोपियों को छोड़कर जिस एक गोपी को लेकर एकान्त में आए थे, उस प्रेमगर्विता गोपांगना ने श्री कृष्ण से कहा—"प्यारे! मुझसे अब अधिक नहीं चला जाता, तुम्हारी जहाँ चलने की इच्छा हो, कन्धे पर चढ़ा लो।" ऐसा सुनकर ज्योंहि वह कन्धे पर चढ़ने को तैयार हुई, भगवान तुरन्त अन्तर्धान हो गए। तदनन्तर, कृष्णचन्द्र के आगमन के लिए अत्यन्त उत्सुक वे समस्त गोपियाँ फिर यमुना की रेती में लौट आईं और परस्पर मिल-जुलकर उन्हीं का गुणगान करने लगीं।

'गोपी-गीत' यहीं से आरम्भ होता है, जिसमें गोपियों ने अधरामृत पिलाकर जीवनदान की प्रार्थना की है। 'गोपीगीत' रासपंचाध्यायी का प्राण है। गोपियाँ भाँति-भाँति से प्रलाप करती हुईं कृष्ण-दर्शन की लालसा से फूट-फूटकर रोने लगीं और फिर—

तासामाविरभूच्छौरि स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

अन्तर्धान हुए श्री कृष्ण का प्राकट्य तथा रासलीला

कामदेव के भी मन को मथने वाले भगवान श्री कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किए मधुर-मधुर मुस्कान की फुलझरियाँ छोड़ते हुए उनके आगे प्रकट हुए। प्रियतम को आया देख समस्त ब्रजबालाओं के नेत्र आनन्द से खिल गए और सब-की-सब इस प्रकार खड़ी हो गईं जैसे प्राणों के आ जाने से शरीर उठ बैठता है। उनमें से किसी ने अति आनन्दित हो अपनी अंजलि से भगवान का कर-कमल पकड़ लिया, किसी ने उनकी चन्दन-चर्चित भुजा अपने कन्धे पर रख ली और किसी ने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथ में रख लिया। एक विरह सन्तप्ता बाला ने अपना चित्त शान्त करने के लिए अपने वक्षस्थल पर उनका कोमल चरण-कमल रख लिया। किसी ब्रजवाला ने भगवान को नयनों के पथ से हृदय में ले जाकर आँखें मूँद लीं, फिर भीतर ही भीतर आलिंगन करने से उसके शरीर में रोमांच हो आया और वह परमानन्द में लीन हो गई। फिर गोपियों ने कृष्ण के बैठने के लिए अपने कुचकुंकुममण्डित दुकूल बिछा दिए। फिर महारास शुरू होता है। दो-दो गोपियों के बीच योगेश्वर श्रीकृष्ण उनके गले में हाथ डाल कर खड़े हुए। उस समय सब गोपियों ने उन्हें अपने ही निकट पाया। रासोत्सव देखने के लिए उत्सुक देवगण तथा देवांगनाओं के सैकड़ों विमानों से सम्पूर्ण आकाश भर गया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इधर रासमण्डल में अपने प्रियतम के साथ नृत्य करती हुईं गोपांगनाओं के कंगन, पाजेब और करधनी के घुँघरुओं का महान शब्द होने लगा—

अंगनामंगनामन्तरे माधवो, माधवोमाधवो चान्तरे अंगना।
इत्थमाकल्पितं मण्डलं सुन्दरं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

बीच में राधा और कृष्ण की युगल जोड़ी है, चारों ओर गोपियाँ और प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण। सारी प्रकृति रसमय, रासमय, आनन्दमय, मधुमय, कृष्णमय हो रही है। गोपियों के प्राण कृष्णरसामृत से ओत-प्रोत हैं। नाचते-नाचते सारी सुध-बुध खो जाती है—

लोचन श्यामरु, वचनहिं श्यामरु श्याममरु चारु निचोल।
श्याम हार हृदय मिलि श्यामरु श्यामरु सखि करु कोल॥

श्रीमद्भागवत का 'रासपंचाध्यायी' इसी लीला-माधुर्य से ओत-प्रोत है। भगवान की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है—

"रेमे रमेशो ब्रज सुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।" जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के साथ खेलता है वैसे ही श्री कृष्ण और ब्रजसुन्दरियों ने रमण किया। निखिल ब्रह्माण्ड रास के फाँस में गुँथा हुआ है।

चित्तवृत्ति-स्वरूप गोपियाँ

राधा और श्री कृष्ण का केन्द्र में होना प्रकृति तथा पुरुष की कौतुक-प्रियता तथा संयोग का ही व्यंजक है। चारों ओर गोपियाँ-रूपी आत्माएँ अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ नाच रही हैं। कृष्ण सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। सभी को वे अपने-अपने भिन्न दिखाई पड़ते हैं। परन्तु सभी गोपियों के हृदय-प्रवाह में कृष्ण 'एकरस' समान भाव में विद्यमान हैं। हमारा हृदय ही वृन्दावन की विहारस्थली है, जिसमें हमारे प्रेम के कालिन्दी-तट पर श्रद्धा के कुंजों के नीचे हमारी राधा-रूपिणी आत्मा अपने प्राणवल्लभ कृष्ण के साथ अनन्त रास में संलग्न है। भगवान श्री कृष्ण ही हमारी आत्मा के आत्मा हैं। आत्माकार वृत्ति श्री राधा है, और शेष आत्माभिमुखी वृत्तियाँ गोपियाँ।[42] उनका धाराप्रवाह रूप से निरन्तर आत्मारमण ही रास है।

जीव-स्वरूपा गोपियाँ

भगवान श्री कृष्ण परात्पर ब्रह्म हैं, उनकी वंशी विद्या माया[43] का अवतार है और उससे निस्सृत ध्वनि आदि नाद ओंकार है तथा गोपियाँ श्रुतिरूपा हैं। श्रुतियों का चरम लक्ष्य ब्रह्म की प्राप्ति है।[44] उनमें ॐ नित्य प्रतिष्ठित है। अतः वंशी-ध्वनि सुनकर वे सहज भाव से श्री कृष्ण की ओर आकृष्ट हो जाती हैं।[45] उस दिव्य ध्वनि का लोकायतन प्रभाव होता है।[46] पुनः गोपियाँ जीव-स्वरूपा कही गई हैं। जीव और ब्रह्म का नित्य अभिन्न सम्बन्ध है।[47] अतः यह रासलीला ब्रह्म और जीव की चिन्मयी लीला है। इस प्रकार प्रतीकात्मक[48] अर्थों द्वारा इसका रहस्य समझना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'रासलीला' के सम्बन्ध में प्रतिवादियों द्वारा प्रश्न होते रहे हैं, लेकिन इसके पूर्वापर प्रसंग, भाव एवं लीला के हेतु पर विचार करने से कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। श्रीमद्भागवत महापुराण परमहंसों की संहिता है। इसके वक्ता परम ज्ञानी शुकदेव जी तथा श्रोता मरणासन्न महाराज परीक्षित हैं। अतः ऐसे परम ज्ञानी कथमपि ग्रामकथा के वक्ता नहीं हो सकते। पुनः यदि किसी को अपनी मृत्यु का पता चल जाए तो वह कभी भी शृंगारिक कथा-श्रवण में प्रवृत्त नहीं हो सकता। महाराज परीक्षित को सातवें दिन ही तक्षक नाग के दर्शन से मृत्यु का शाप था। अतः वे कैसे इसे शृंगारिक समझकर इसके श्रवण में रुचि रख सकते हैं?

रासलीला ही भगवान[49] शब्द से प्रारम्भ होती है। इसके प्रथम अध्याय के बयालीसवें श्लोक में 'योगेश्वरेश्वरः' शब्द आया है।

रास पंचाध्यायी में आए हुए भगवन्नाम

साथ ही कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर पूरे रास पंचाध्यायी में गोपियों ने अनेकों बार 'उरूक्रम विक्रमात्' वराहवपुषः[50] अच्युतः, खलानाम्, दण्डधृक्, महात्मनः (चरण-चिह्नों में परमात्मा-सम्भव ध्वजाम्भोजवज्रांकुशयादिभिः का दर्शन), भगवान हरिरीश्वरः, आत्मरतः, आत्मारामः, श्रीकरग्रहम्, प्रणत देहिनाम् पाप कर्षणम, श्रीनिकेतनम्, प्रणतकामदम्, पद्मजाचितम्, श्रियःस्कान्त वल्लभम्, अच्युतम्, स्वयं स्वरतिः आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। उन्होंने स्वयं 'निरवधसंयुजाम्' कहकर रासलीला को निर्दोष सिद्ध किया है। श्रीशुकदेवजी ने 'सत्यकामः' तथा 'अवरुद्धसौरतः' विशेषणों का प्रयोग कर भगवान श्री कृष्ण को नित्य ब्रह्मचारी बताया है। परीक्षित ने इस सम्बन्ध में रहस्योद्घाटन के लिए भी शंका व्यक्त की है। लेकिन श्रीशुकदेव ने भगवान श्री कृष्ण को सबकी आत्मा कहकर उनकी 'कमलपत्रइवाम्भसा' पवित्रता सिद्ध की है[51] और इस रासलीला को 'काम-विजय' का महामन्त्र बतलाया है।[52]

गोपियों का स्वकीयात्व, परकीयात्व विवेचन

लौकिक-शृंगार की तरह मधुरोपसना में भी परकीया में प्रेमाधिक्य की कल्पना की जाती है। लेकिन भगवान की दृष्टि में स्वकीयात्व और परकीयात्व का भेद नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार का मन्तव्य देखने योग्य है—गोपियाँ श्री कृष्ण की स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्री कृष्ण के स्वरूप को भुलाकर ही उठाया जाता है। श्री कृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत की वस्तुओं में उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उनका एकमात्र पति श्री कृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थना में गोपियों ने और परीक्षित के प्रश्न के उत्तर में श्री शुकदेव जी ने यही बात कही है कि गोपी, गोपियों के पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत के समस्त प्राणियों के हृदय में आत्मारूप से जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रम से, अज्ञान से भले ही श्री कृष्ण को पराया समझे, वे किसी के पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्री कृष्ण की दृष्टि से, जो वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया नहीं, सब स्वकीया हैं, सब

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूपभूता आत्मरूपा अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बात को जानती थीं और स्थान-स्थान पर उन्होंने ऐसा कहा भी है।

ऐसी स्थिति में 'जार भाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ औपपत्य और जार भाव की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं, परन्तु उनमें परकीया भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अन्तर है। परकीया-भाव में तीन बातें बड़ी महत्त्व की होती हैं—अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कट उत्कण्ठा; और दोष-दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया भाव में निरन्तर एक साथ रहने के कारण ये तीनों गौण हो जाती हैं, परन्तु परकीया भाव में ये तीनों भाव उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। कुछ गोपियाँ जार भाव से श्रीकृष्ण को चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्री कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती थीं और श्री कृष्ण के प्रत्येक व्यवहार को प्रेम की आँखों से ही देखती थीं। चौथा भाव और विशेष महत्त्व का है, वह यह है कि स्वकीया अपने घर का, अपना और अपने पुत्र-कन्याओं का पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पति से चाहती हैं। वह समझती हैं कि इनकी देख-रेख करना पति का कर्तव्य है, क्योंकि ये सब उसी के आश्रित हैं और वह पति से ऐसी आशा भी करती हैं। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीया में यह स्वकाम भाव छिपा ही रहता है। परन्तु परकीया अपने पति से कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती, वह तो केवल अपने को देकर ही उसे खुश करना चाहती है। श्रीगोपियों में यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषता के कारण संस्कृत-साहित्य के कई ग्रन्थों में निरन्तर चिन्तन के उदाहरणस्वरूप परकीया भाव का वर्णन आता है।

रासलीला में वर्णित शृंगार के भाव दिव्य प्रेम के भाव हैं न कि प्रकृत प्रेम के। यद्यपि ये शृंगार के भाव हैं—रसीले भाव हैं, पर यह लौकिक शृंगार से ऊँची वस्तु है।[53] इस विषय में श्रीभरतादि नाट्याचार्यों की सम्मति है कि ऐसे समस्त शृंगार के उदात्त भाव, भेद, प्राकृत नायक-नायिकादि में समन्वित नहीं हो सकते, यदि हो सकते हैं तो केवल रसिकशेखर श्री राधाकृष्ण में ही। उनके प्रेम सुधा-सिन्धु के तो एक बिन्दु में ही ये सब समा जाएँगे। अत: गोपियों का दिव्य-प्रेम ही काम कहा गया है—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमत् प्रथाम्।' और 'चेष्टा यदंगिनी रसे कविभिः परोढ़ा तद् गोकुलाम्बुज दृशां कुलमन्तरेण।' अर्थात जिन कवियों ने शृंगार रस में परोढ़ा (परकीया) कामिनी को अनभिमत माना है, वह तो गोकुल कुलांगनाओं को छोड़ कर माना है अर्थात यहाँ की नायिका और नायक दोनों ही अलौकिक हैं,[54] अप्राकृतिक हैं। अत: उनकी लीला भी अप्राकृतिक या परम दिव्य ही है। गोलोक में वह रासलीला नित्य चलती रहती है। विश्व इसी रासलीला का परिणाम है। श्री अक्षयकुमार बन्दोपाध्याय ने कहा है—"पूर्ण ब्रह्म श्री कृष्ण नित्य रस-विलासी हैं। श्री राधा की श्री कृष्णाराधना से समुद्रभूत श्री राधा के ही अनन्त वैचित्र्यमय रूप-रूपान्तर का अनादि अनन्तकाल से श्री कृष्ण आस्वादन करते हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड में जितना रूप, जितना भाव, जितना रस, जितनी सम्भोग्य सामग्री हैं सभी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री राधा की ही आंशिक अभिव्यक्ति है, श्री राधा का ही खण्ड-खण्ड प्रकाश है, सभी के भीतर ह्लादिनी शक्ति का देशकाल भावावच्छिन्न परिचय है, सबके भीतर से ही श्री राधा-श्रीकृष्णाराधना है। सबका श्री कृष्ण आस्वादन करते हैं। सब लेकर ही उनकी रास-मण्डली विरचित है। विश्व का सब कुछ श्रीकृष्णाराधना में रत है, सबके ही प्राणरूप में, सम्भोक्ता रूप में, आत्मारूप में श्रीकृष्ण विराजमान हैं। सबकी ही सत्ता श्री कृष्णचन्द्र को केन्द्र करके ही विचित्र रूपों में परिणाम को प्राप्त होती है, सभी श्रीकृष्ण की रस-विलासमयी सत्ता के भीतर अपने को विलीन करके अपनी-अपनी सत्ता को चरम सार्थकता सम्पादन करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। समस्त विश्व रास के संगीत के द्वारा ही मुखरित हो रास की नृत्यकला के द्वारा स्पन्दित है, रास के आनन्द द्वारा ही संजीवित है। रास के भीतर ही विश्व के स्वरूप का परिचय है। विश्वनाथ के स्वरूप का परिचय है। विश्व में सर्वत्र रास की उपलब्धि होने पर मानवसाधना की कृतार्थता हो जाती है। शैव और शाक्त साधकगण इस रासतत्त्व को ही शिव-गौरी का नित्य मिलन एवं महामाया की नित्य-निरन्तर शिवाराधना के रूप में ध्यान और आस्वादन करते हैं। इस सच्चिदानन्दमयी आत्मास्वरूपा महाशक्ति या परमाशक्ति को नित्य आलिंगनबद्ध करके ही महायोगेश्वर शिव अर्धनारीश्वररूप में साधकों के सम्मुख अपने को प्रकट करते हैं। रामभक्तगण तत्त्वदृष्टि से रामसीता के नित्य मिलन का भी इसी भाव से आस्वादन करते हैं। भीतर-बाहर इस महारास का आस्वादन होने पर ही जीवन अमृतमय, रसमय, परमानन्दमय हो जाता है।''

प्रतीकात्मक अर्थ का उपयोग केवल उसकी रहस्यात्मकता से है। प्रतीक अर्थ लेने से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह लीला काल्पनिक है। बल्कि परम सत्य है कि जैसा वर्णन हुआ है वैसी ही लीला हुई थी।

इस 'रासलीला' का परवर्ती संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। भारत के विभिन्न प्रान्तों के गीतों, नृत्यों एवं नाटकों पर भी रासलीला ने अपना प्रभाव डाला। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में इसके दार्शनिक स्वरूप की बहुत ही सुन्दर व्याख्या हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. 'जगत: पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरी।'
2. गिरा अर्थ जल वीचि सम, गनियत भिन्न न भिन्न।
   वन्दौ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥ —*रामचरितमानस*
3. यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नापवीर्ध्रुवम्।
   यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
   यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहन्वयि सन्तमम्। —*ब्रह्मवैवर्तपुराण,* श्री कृष्णजन्म खण्ड 6 : 214
4. *देव्युपनिषद्,* उपनिषद् अंक, पृ० 646

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

5. *श्रीराधिकातापनीयोपनिषद्*, श्लोक 12
6. विद्वांसोपि वदन्त्येवं पुराणैः परिगीयते।
   द्रुहिणे सृष्टि शक्तिश्च हरौ पालनशक्तिता
   हरे संहार शक्तिश्च शेषं कूर्मे तथैव च।
   साद्याशक्तिः परिणता सर्वस्मिन् या प्रतिष्ठितः।
   दाह शक्तिस्तथा बह्नौ समीरे प्रेरणात्मिका।
   एवं सर्वगता शक्ति सा ब्रह्मति विविच्यते। (*देवीभागवत* 1, 8 : 28–30, 34, 46)
7. सदेकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वेदेव ममास्य च।
   यौऽसौ साहमहं यासो भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥
   आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
   विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः। (*दे०भा०*, 3/6–2–3)
8. सर्वमेवाह मित्येवं निश्चतं विद्ध पद्‌भज॥
   नून सर्वेषु देवेषु नाना नामधरा क्यहम्।
   भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम्॥
   गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिव
   वारुणी चापि कौवेरी नारसिंही च वासवी॥
   जले शीतं तथा वह्नावौषायं ज्योतिर्दिवाकरे।
   निशानाथे हि मां कामं प्रभवामि यथा तथा॥ *दे०भा०*, 3/6 11, 13, 14–16
9. पर ब्रह्म परं ज्योतिः प्रणवद्वन्द्व रूपणी।
   अहमेवास्मि सकल मदन्यो नास्ति कंचन॥
   निराकारापि साकारा सर्वतत्वस्वरूपणी।
   अप्रतर्क्यगुणा नित्या कार्यकारणरूपिणी॥
   कदाचिद्दयिताकारा कदाचिद् पुरुषाकृतिः
   मदशादेव संजातास्तथेमाः सकलाः कलाः॥ *शि०पु०* उ०स० 48/27–31
10. *शिव पुराण,* वायावीय सं० उ०स०, अध्याय 4
11. या उमा सा स्वयं विष्णुः
    यऽर्चयन्ति हरि भक्तया तेऽर्चन्ति वृषभवजम्
    कृष्ण यजुर्वेदीय रुद्रहृदयोपनिषद्।
12. एवं परम्परापक्षा शक्तिशक्तिमतोः स्थिता।
    न शिवेन विना शक्तिर्नशक्तया विना शिवः॥ (*शिव०* वाय० स० उत्तर० 4)
13. नित्यं विभुं सर्वगत सुसूक्ष्मं तदव्ययं पड्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः। (*मुण्डक०*, 1/1/6)
14. तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय इति। (*छान्दोग्य०*, 6/2/1)
15. तदेजति तन्नैजति तदुरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्य ब्राह्मतः। (*ईशावास्योपनिषद्,* 5)
16. तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितंगह्वरेष्ठं पुराणम्।
    अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति॥ 12॥ *(कठोपनिषद्)*
17. य एको वर्णा बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्नितार्था दधाति।
    विवचैति चान्ते विश्वनादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥ 1॥
    अर्थात जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूप में रूप-रंग आदि से रहित होकर भी सृष्टि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के आदि में किसी अज्ञात प्रयोजन से अपनी स्वरूपभूत नाना प्रकार की शक्तियों के सम्वन्ध से अनेक रूप-रंग आदि धारण करते हैं तथा अन्त में यह सम्पूर्ण जगत जिसमें विलीन भी हो जाता है अर्थात जो बिना किसी अपने प्रयोजन के जीवों का कल्याण करने के लिए उनके कर्मानुसार इस नाना रंग-रूपवाले जगत की रचना, पालन और संहार करते हैं, ये परमेश्वर वास्तव में एक अद्वितीय हैं। उनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ये हमें शुभ बुद्धि से युक्त करें।

(*श्वेताश्वतरोपनिषद्,* चतुर्थ अध्याय 1)

18. (क) स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम वहुशोभमानामुमा
हेमवती-तां होवाच किमेतद् यक्ष मिति। (*केनोपनिषद्,* तृतीय अध्याय 12)
(ख) सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्वि जये महीमध्वभिति,
मतो हैव विदांचकार ब्रहनेति। (*केनोपनिषद्,* चतुर्थ अध्याय 1)
19. *सीमा के भीतर असीम का प्रकाश,* पृष्ठ 245
20. स वै ह्लादिन्या य: प्रणयविकृते ह्लादनरत-
स्तथा संविच्छक्तिप्रकटितरहोभावरसित:।
तथा श्रीसन्धिन्या कृत विशदतद्धामनिचये
रसाम्भोधौ मग्नो ब्रजरसविलासी विजयते॥
गौरांगलीलास्मरणमंगलस्तोत्रम्। (श्लोक 79)
21. *भक्ति सुधा,* तृतीय खण्ड, रासपंचाध्यायी, स्वामी करपात्रीजी, पृ० 64
22. *श्रीराधोपनिषद्*
23. श्रीअक्षयकुमार वन्दोपाध्याय, *सीमा के भीतर असीम का प्रकाश,* पृ० 239
24. कस्या: पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठाय: करेणो: किरणा यथा॥ (*श्रीमद्भागवत,* पृ० 10, 30, 27)
25. अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर:।
यन्नो विहाय गोविन्द: प्रीतो यामनयद् रह:॥ (*श्रीमद्भागवत,* पृ० 10, 30, 28)
26. *राधोपनिषद्।*
27. कृष्ण वांछापूर्ति रूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने॥ आदि॥
28. श्रीधरस्वामी ने इस श्लोक की टीका में कुछ भी नहीं लिखा है, लेकिन श्री सनातन गोस्वामी ने अपनी वैष्णवतोषिणी टीका में कहा है—

(क) अनैयत आराधित: आराध्यवशीकृत न त्वस्माभि:। राधापति आराधया: राधेति नामकरण च दर्शितं।

इस विषय में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी टीका में कहा है कि गोपियों ने पग-चिह्न से ही इस कृष्ण-प्रियाविशेष गोपी को वृषभानुनन्दिनी के रूप में पहचान लिया, लेकिन पहचान कर भी जैसे नहीं पहचाना है, इसके अभिनय के बहाने मानो राधा के सुहृदगण ने उनका नाम लिया था। और नाम-निरुक्ति के द्वारा राधा के सौभाग्य को ही व्यंजित करके उन्होंने 'अनयाराधित:' कहा है। पदचिह्नैरेव तां वृषभानुनन्दिनीं परिचित्यान्तर: मजरता बहुविधगोपीजनसंघटे तत्र बहिरपरिचयमिवाभिनयस्त्यस्तस्या सुहृदस्तनामनिरक्तिद्वारा तस्या: सौभाग्यं सहर्षमाहुरनय:।

(ख) We have seen above in the Bhagawat Puran, there is a Gopi whom Krishna favours so much as to wonder with her alone, and that the rest of the Gopies surmise that she must have worshipped Krishna

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

with peculiar devotion in a previous life to have thus won his special favour. This seems to be the source whences Radha arose and it is probable that the name Radha comes from the root in the sense of conciliating, pleasing. She is thus the pleasing one, in what book she first appears is not yet known.

J.H. Farquhar, *An Outline of the Religious Literature of India*, p. 237

29. यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सेवका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥ (*पद्मपुराण*)
30. *राधा का क्रमविकास*, श्री शशिभूषण दासगुप्त, पृ० 107
31. रुकमणी द्वारवत्यामं तु राधा वृन्दोवने वने। (*मत्स्यपुराण*, 13/38)
32. *ब्रह्मवैवर्त्तपुराण*, (ब्रह्मखण्ड, अध्याय 5)
33. भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णयोगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥ (*श्रीमद्भागवत* 10)
34. *श्रीमद्भागवत*, 10
35. *श्री कृष्णोपनिषद्*
36. *भक्तिसुधा*, द्वितीय खण्ड, पृ० 332
37. *भक्तिसुधा*, द्वितीय खण्ड, पृ० 333 (स्वामी करपात्रीजी)
38. *भक्तिसुधा*, द्वितीय खण्ड, पृ० 339
39. *भक्तिसुधा*, द्वितीय खण्ड, पृ० 342 (स्वामी करपात्रीजी)
40. *भक्तिसुधा*, द्वितीय खण्ड, पृ० 343
41. (क) यह कामबीज 'क्लीं' ही ॐ है। यही आदिनाद है। सृष्टि के संकल्प करने के बाद इसी से आकाशादि पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि आकाश महाभूत की 'तन्मात्रा' शब्द है। और वह आदि शब्द ओम् है। स्फोट दर्शन का शब्द सृष्टि रहस्य इसका प्रमाण है। गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् में लिखा है—"इसलिए सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत भगवान गोपाल ही ॐकार रूप में प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मचारी जन-क्लीम् तथा ॐकार का एक ही अर्थ में पाठ करते हैं। अतः कृष्ण के बीजभूत क्लीम् तथा ओम् में अर्थतः कोई अन्तर नहीं है।" (गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्, मन्त्र 59; गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्, मन्त्र 14)। योपनिषद् में क्लीं की व्याख्या इस प्रकार मिलती है जलयाचक 'क्' भूमि का बीज, 'ल' 'ई' तथा चन्द्रमा के समान आकार धारण करने वाला 'अनुस्वार' इन सबका समुदाय है। 'क्लीं' यही कामबीज है। इसको आदि में रख कर 'कृष्णाय' पद का उच्चारण करें।

भगवान श्री कृष्ण आप्तकाम हैं। उन्होंने लीला के लिए ही रास रचा है। अतः कामबीज क्लीं शुद्ध प्रेमबीज है।

(ख) इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की उक्ति द्रष्टव्य है—वस्तुतः प्रेम और काम में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। एक ही रस दो रूपों से कहा जाता है। प्राचीन काल में दोनों नाम एक ही वस्तु के वाचक रूप से प्रसिद्ध थे।

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

श्री कृष्ण बीजमन्त्र कामबीज हैं और गायत्री कामगायत्री हैं। 'कामदजाप्यः' यह बात बहुत प्रसिद्ध है। जगत के आदि दम्पति कामेश्वर कामेश्वरी हैं, यह आगमशास्त्र में प्रसिद्ध है। आदिरस श्रृंगार कामात्मक है। इन सब स्थलों में काम शब्द से प्रेम ही समझना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साधारणः, व्यवहार में काम और प्रेम का जो भेद दिख पड़ता है, जिसका अवलम्बन कर चैतन्यचरितामृत में काम लौह और प्रेम सुवर्ण कहा गया है, उस भेद का कारण रस की शुद्धता या मलिनता है। बाहरी विषयों के उपराग से रस में मलिनता आती है। कविराज गोस्वामी ने कहा है कि आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा काम है और कृष्णेन्द्रिय प्रीति की इच्छा प्रेम है। इसमें भी वही तत्त्व प्रकटित हुआ है। सारांश यह कि इस भेद को प्राचीन आचार्यगण भी जानते थे। गौड़ीय वैष्णवों ने स्पष्ट अक्षरों में कहा है—''श्री कृष्ण अप्राकृत मदन हैं और कामदेव प्राकृत मदन हैं। किन्तु मदन एक ही है। प्रकृति के ऊर्ध्व में, अर्थात रज और तम के सम्बन्ध से शून्य होने पर मदन श्री कृष्ण हैं। ये कोटि आदिनाद कन्दर्पलावण्य साक्षान्ममन्मथ हैं।'' यह ही आगामा की ललिता अथवा सुन्दरी है महायोगी अथवा महाज्ञानी भी इस विश्वविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से विचलित हो उठते हैं। कामदेव ने इन्हीं का कणमात्र सौन्दर्य पाकर त्रिभुवन को पागल बना रखा है। सौन्दर्यलहरीकार ने कहा है—

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनिनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥

सौन्दर्य एक ही है, वह अप्राकृत भाव से श्री कृष्ण में और प्राकृत भाव से कामदेव में है। अप्राकृत सौन्दर्य और अप्राकृत काम की रसावस्था शुद्ध शृंगार है। प्राकृत सौन्दर्य और प्राकृत काम की साम्यावस्था मलिन शृंगार है। अतएव, काम और सौन्दर्य रसस्फूर्ति-काल में नित्यमिलित रूप से ही प्रकाशमान होते हैं।

(ग) शृंगार-रस राजमय मूर्तिधर अतएव आत्मपर्यन्त सर्व चिन्तहर॥—चैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद, श्रीभगवान अपने सौन्दर्य से स्वयं भी मोहित हो पड़ते हैं। ललितमाधव में लिखा है—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मय गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमपभोक्तुं कामये राधिकेन॥

भारतीय संस्कृति और साधना, रस और सौन्दर्य, पृ० 317,
महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज

42. एवं भगवत् कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥ (*श्रीमद्भागवत पुराण,* 10-30-47)

43. इसलिए इन्द्रियों के लिए आकर्षण होने से वह मूल तत्त्व, भक्तजनों की परिभाषा में, 'कृष्ण' इस नाम से कहा जाता है और इन्द्रियों की वृत्तियों की गोपी (गो इन्द्रियों को पालने वा पुष्ट करने वाली) कहा जाता है।
कृष्णोत्याकर्षकं तत्त्वमिन्द्रयाणमतो मंतम्।
गोप्यस्तद् वृत्तपरत्तस्माद् भवतानां परिभाषया॥ *कृष्ण और गोपी,* डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री, *'कल्याण',* गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष 32, अंक 1, पृ० 501

44. माया के दो भाव हैं। विद्या माया और अविद्या माया। जो जीव का अपने आवरण का उच्छेदन कर ब्रह्म के साथ ऐक्य करा देती है उसे विद्या माया कहा गया है। अविद्या माया जीव को अपने स्वरूप की स्वमूर्ति होने नहीं देती।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

45. (क) तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा भणुः।
स्वेरुत्तरीयेः कुचकुंकुमंडितै
रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे॥

(ख) इनके अतिरिक्त श्रुतियों की अधिष्ठात्री महाशक्तियों ने, जब परमतत्त्व का अन्वेषण करते-करते महा तपस्या के पश्चात श्री कृष्ण का दर्शन पाया, तब उन्होंने उनके साथ रमण (तादात्मयेन सम्मिलन) की इच्छा प्रकट की। श्री कृष्ण ने कहा कि तुम मेरी आराधना द्वारा बृजकुमारिका बनो, तब वहाँ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। इस तरह कृष्ण का वर प्राप्त करके वे भी नन्दबृजकुमारिका हुई हैं। उनमें आगे चल कर साक्षात परब्रह्म पर्यवासिनी सत्य ज्ञान मन्त्र ब्रह्म इत्यादि श्रुतियाँ अन्य पूर्विका या स्वकीया हुई हैं, एवं कर्मकाण्ड या अन्याय, देवता तत्त्व पर्यवसायिनी श्रुतियाँ परकीया हुई हैं, जलसे सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति 'वेदैश्चसवैरहमेव वैधा' इत्यादि श्रुति स्मृति के अनुसार समस्त वेदों का महातत्त्व परब्रह्म में ही है। अन्यान्य अभिनारीत्व रमणी का अवन्तर ही तात्पर्य होता है। वैसे ही यहाँ भी श्रुतिरूपा गोपांगनाओं का, अन्य सम्बन्ध केवल काल्पनिक है, मुख्य सम्बन्ध तो उनका भगवान से ही है।

(*भक्तिसुधा,* द्वितीयखण्ड, स्वामी करपात्रीजी, पृ० 327)

46. उनमें भी श्रुतिरूपा गोपांगना वाच्यवाचक के अभेद रूप से ब्रह्मरूपा ही है, ओंकार मूल वाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ओंकार का विकार है, और सारा प्रपंच ब्रह्म का कार्य है। अतः ओंकार विकारभूत समस्त वाङ्मय, ब्रह्म के कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपंच का वाचक है। वाच्य और वाचक का अभेद हुआ करता है, इसलिए समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

(*भक्तिसुधा,* द्वितीयखण्ड, स्वामी करपात्रीजी, पृ० 327)

47. 'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरूणाम्।' उसे सुनकर जो गतिमान थे उनमें निस्पन्दनता आ जाती थी और वृक्षों की रोमावली खड़ी हो जाती थी अर्थात चेतन पदार्थ से जड़ता आ जाती थी और जड़ों में चेतन की क्रिया होने लगती थी।

48. (क) ये प्रिय सबहिं जहाँ लगी प्राणी। मन मुसुकाहि राम सुनि वाणी।

रामचरितमानस, बालकाण्ड

(ख) द्वा सुपर्णा सपुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति॥ *श्वेताश्वतरोपनिषद्* 4/6

49. तदभिन्नत्वे सति तद्वोधकत्वं तद्प्रतीकत्वं
अर्थात उससे भिन्न जो भावादि या लक्षणादि शब्द-शक्तियों द्वारा अर्थ-बोध हो उसे प्रतीक कहते हैं।

50. षडैश्वर्यपूर्ण को भगवान कहते हैं। षट ऐश्वर्य ये हैं—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य।
भगवान् अपि ता रात्रिः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्यरन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ (*श्रीमद्भागवत् पुराण,* 10/30/1)

51. *श्रीमद्भागवत् पुराण,* 10/30/10-11

52. गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
यौन्तश्चरतिसोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ *श्रीमद्भागवत् पुराण,* 10/20/36

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

53. विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोनु शृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्ति परां भगवति प्रतिलम्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ 40 ॥
अर्थात व्रजांगणाओं के साथ भगवान श्री कृष्ण ही इस रासलीला के वर्णन को जो श्रद्धा से युक्त होकर बार-बार सुनेगा अथवा कहेगा वह धीर पुरुष शीघ्र ही (उन) भगवान श्री कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर हृदय विकार रूप (लौकिक) काम से अविलम्ब मुक्त हो जाएगा।

54. *श्रीमद्‌भागवत* रास पंचाध्यायी की पाद टिप्पणी, पृ० 330-339

*सन्दर्भ ग्रन्थ : *वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव।*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

10

बौद्ध सिद्ध-काव्य में रहस्यानुभूति

वसुन्धरा मिश्र

रहस्य का सीधा अर्थ है गुप्त, गोपनीय, गुह्य, एकान्त। त्याग का भान भी इसमें स्पष्ट निहित है। अतः रहस्य शब्द के ध्वन्यर्थ को ग्रहण कर कहा जा सकता है कि भेद, मर्म या सारतत्त्व का जिससे बोध हो, वह रहस्य है। रहस्य शब्द का एक अन्य अर्थ मैत्री, प्रेम, पारस्परिक सख्यभाव और स्नेह है। इसी रहस्य शब्द में वाद को जोड़कर रहस्यवाद प्रचलित हुआ, जिसका सामान्य अर्थ है किसी गूढ़तत्त्व को मानना। वाद से तात्पर्य मत, विचार, अवधारणा, सिद्धान्त आदि है। इस शब्द को किसी एक परिभाषा में बाँधना सम्भव नहीं है। रहस्यवाद में ईश्वर के साथ एकता का भी स्पष्ट संकेत है।

रहस्यवाद की परम्परा बहुत प्राचीन है। आदिकाल के अपभ्रंश काल से सिद्धों और नाथयोगियों की परम्परा चली आ रही है। इन्होंने अपने साधनात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से की है। इस साधनात्मक रहस्यवाद में प्राणवायु-शासन आदि विविध यौगिक क्रियाओं के बल पर योगी, देह और देहातीत विविध चक्रों के वेधन एवं ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रयत्न करता था। इनकी शैली सन्ध्या या उलटबाँसी शैली है। ऊपर से देखने पर इन रचनाओं का बहुत कुत्सित और विरुद्ध अर्थ निकलता है किन्तु सम्प्रदाय के जानकार उसके मूल एवं साधनात्मक अर्थ को भलीभाँति समझ सकते हैं। यह धारा चिरकाल से भरत खण्ड में अविच्छिन्न चली आ रही है। वही धारा अपभ्रंश-साहित्य से होती हुई हिन्दी-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। समय-समय पर इस धारा का बाह्य रूप परिवर्तित होता रहा, किन्तु मूल रूप अपरिवर्तित रहा।

विद्यापति के पदों पर जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का प्रभाव माना जाता है किन्तु जयदेव से भी पूर्व सिद्धों के गीत मिलते हैं जिनमें गेयता और भाव-तीव्रता दोनों हैं। जब साधक अपनी आत्मा को परमात्मा के चिन्तन में लीन कर सांसारिक प्रतीकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करने लगता है तब काव्य में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार रहस्यवाद में जीवात्मा और परमात्मा के गहन तादात्म्य की अभिव्यक्ति है।

सिद्ध-काव्य से तात्पर्य बौद्धों से सम्बन्धित वज्रयानी परम्परा के सिद्धाचार्यों की उन रचनाओं से है जो दोहों तथा चर्यापदों में मिलती हैं। सिद्धों की वाणियों में वज्रयान के सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है, जो क्रमबद्ध नहीं है। हिन्दी-साहित्य में इनकी गणना आदिकाल के अन्तर्गत की जाती है। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल भाषा की दृष्टि से सन्धिकाल है। सिद्धों का साहित्य भी अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी की छाप लिए हुए है। उसमें दो भाषाओं और दो शैलियों की सन्धि है।[1]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्धों की रचनाओं में जीवन के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण मिलता है।[2] उन्होंने लोकभाषा में रचना कर भगवान बुद्ध की ही परम्परा का अनुसरण किया। राहुल जी का विचार है कि ब्राह्मण पण्डितों को चिढ़ाने के लिए उन्होंने प्रतीकों का प्रयोग किया। इनकी भाषा भी सन्ध्या या सन्धा मानी जाती है।

तारानाथ के अनुसार असंग से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक 300 वर्ष तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही। धर्मकीर्ति के पश्चात विशेषतः पालयुग में, इसमें बहुत वृद्धि हुई। गुह्यसमाज की तान्त्रिक परम्परा का उद्‌भव कदाचित तीसरी शताब्दी में हुआ तथा छठी शताब्दी तक उसका गुप्त प्रचार हुआ। सातवीं शताब्दी से गुह्यसमाज की अत्यन्त प्रसिद्धि हुई तथा उसपर बहुसंख्यक आचार्यों और सिद्धों ने व्याख्यायें लिखीं।[3]

महायान में पाँच स्कन्धों को ही संवृत्ति सत्य तथा परमार्थ सत्य को शून्यता प्रज्ञा अथवा बोधि कहा गया है। बुद्ध के तीन अथवा चार काय धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माण अथवा स्वाभाविक काय बताये गए हैं। शून्यता-करुणा-गर्भ बोधिचित्त के उत्पादन के द्वारा तथा क्रमिक अभिसम्बोधि के मार्ग से अन्त में धर्मकाय का अभिसमय अथवा शून्यता का परम साक्षात्कार होता है। मैत्रेयनाथ के 'अभिसमयालंकार' में द्वैत से अद्वैत तक के विकास का विवरण है। महायान में बुद्ध को ही परमार्थ कहा जा सकता है। बुद्ध में प्रज्ञा एवं करुणा का सामरस्य है। वज्रयान में प्रज्ञोपाय की इस युगनद्ध-सत्ता को ही परमतत्त्व माना गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार बुद्ध से पहले कई अनार्य जातियाँ किरात, यक्ष, गन्धर्व आदि विलासी थीं जो कामदेव, वरुण और वृक्षों की पूजा करती थीं। इनके देवता वज्रपाणि थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया। यही वज्रपाणि आगे चलकर बोधिसत्त्व मान लिए गए और बौद्ध धर्म में विलासमय जीवन, मदिरापान आदि तान्त्रिक साधनाओं का प्रवेश हुआ। वज्रयान शाखा का नाम यक्ष देवता वज्रपाणि से सम्बन्धित माना जाता है।[4]

सिद्धों का काल-निर्णय

साधारणतः सिद्धों का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा अन्य समसामयिक सिद्धों का काल 800 से 1200 ई० माना गया है। यह समय राहुल जी ने प्रथम सिद्ध सरहपा के काल के आधार पर ही माना है। तारानाथ के अनुसार सरहपा ने ही सबसे पहले महामुद्रा साधना की। रामकुमार वर्मा एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनका समय 8वीं शताब्दी माना है। सरहपा ने एक शताब्दी पूर्व महायान और वज्रयान का सन्धिकाल माना है।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में बौद्धों का पलड़ा भारी था। तीसरी-चौथी शताब्दी में सामन्त ब्राह्मणों के हाथ चले गए। जबकि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने अपने प्रौढ़ दर्शन को सामने रखा था, क्योंकि वे जनता की बहुत-सी समस्याओं के समक्ष कुण्ठित हो गए थे और ब्रह्मचर्य और भिक्षु जीवन पर जोर दिया गया जो ढोंग लगने लग गया था। गुप्त काल से ही बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और वैदिक परम्परा का प्रभाव बढ़ने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लग गया था। वैष्णव तथा शैव धर्मों का प्रभाव बढ़ जाने से भगवान बुद्ध, बोधिसत्त्व, तारा आदि हिन्दू देवी-देवता बन गए।[5]

छठी शताब्दी में उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति के गुरु अनंगवज्र थे। हर्ष के राज्य तक उत्तरी भारत में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिलता रहा। हर्षवर्धन के पश्चात बौद्धों को राजकीय सहायता मिलनी बन्द हो गई। फलस्वरूप बौद्ध चमत्कार दिखाकर अपना जीवन-यापन करने लगे। इन्द्रभूति के समय से पूर्व ही अनेक बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। हेवज्रतन्त्र के अलावा हेरूकचन्दमहारोषण, वज्रवाराही, क्रियासमुच्चय, वज्रावली, योगिनीजाल आदि अनेक तन्त्रों की अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ संस्कृत में हैं। म०म० हरप्रसाद शास्त्री ने सहजिया सम्प्रदाय का समय नवीं शताब्दी बताया है। वज्रगर्भ तन्त्रराजसूत्र में वर्णित है कि दक्षिण भारत के सम्राट वीरदत्त ने श्रद्धा और विश्वास से अनुत्तर धर्म की शिक्षा ली और महायान में दीक्षित हो गए।

राहुल जी ने कवियों के आधार पर सिद्धों का समय इस प्रकार माना है—सरहपा, शबरपा, लुईपा और समकालीन—800 ई० से 875 ई०, मत्स्येन्द्रनाथ और उनके समकालीन मीनपा—875 ई० से 925 ई०, गोरख, जालन्धरी, कण्हपा तथा समकालीन—925 ई० से 1000 ई०, तिलोपा, नरोपा, मैत्रीपा तथा समकालीन—1000 ई० से 1100 ई०।

सिद्धों की दो परम्पराएँ—एक कार्दियर की तंजूर की सूची में और दूसरी काजी द्वारा लिखित चक्रसंवरतन्त्र की भूमिका में मिलती है। पहली परम्परा पक्षवज्र-अनंगवज्र-इन्द्रभूति, भगवती, लक्ष्मींकरा, लीलावज्र, दारिकपा, सहजयोगिनी, चिन्ता, डोम्बी, हेरूक की है। दूसरी परम्परा सरह, नागार्जुन, शबरीपा, लुईपा, वज्रधराटा, कच्छप, जालन्धरी, कृष्णाचार्य, गुह्यपा, विजयपा, तिलोपा, नरोपा की है।

'चौरासी सिद्धों का वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ में सिद्धों का परिचय तिब्बती परम्परानुसार व्यवस्थित रूप में मिलता है। राहुल जी ने हिन्दी काव्यधारा में प्रमुख बौद्ध सिद्धों की रचनाओं का उल्लेख किया है तथा 'पुरातत्व निबन्धावली' में सिद्धों का परिचय दिया है।

महायान सूत्रों में वर्णित है कि महायान सूत्रों की देशना तीन कालों में हुई। प्रथम सम्बोधि के तीन सप्ताह के अनन्तर जिसमें तथागत ने अवतंसक सूत्र का उपदेश दिया। दूसरे काल में चार आगामों की देशना तथा तीसरे काल में सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता, महापरिनिर्वाण सुत एवं महावैपुल्य सूत्रों का विकास हुआ। भगवान् बुद्ध ने प्रथम उपदेश ऋषिपत्तन मृगदाय में दिया जिसको श्रावकयान या हीनयान कहते हैं। द्वितीय बार भगवान बुद्ध ने गृध्रकूट पर्वत पर बोधिसत्व परिवारों को सम्बोधित कर आगामों की देशना, षट्पारमिताओं का उपदेश दिया जो सर्वसत्यों के दुःखनिवृत्ति का मार्ग है जिसे बुद्धयान, बोधियान या महायान कहते हैं। तीसरी बार श्री धान्यकटक में श्री गुह्यपति, वज्रपाणि, राजा इन्द्रभूति आदि को सम्बोधित कर चतुर्विध तन्त्र का उपदेश दिया, जिसे तन्त्रयान कहते हैं। तीनों यानों की प्रज्ञापना प्रवृत्ति के अनुसार बतलाई गई है और तीनों को एकयान या बुद्धयान कहा गया है। 800 से 1200 ई० का समय बौद्ध धर्म तन्त्र-मन्त्र का युग था। इन चार सौ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वर्षों में महायान का तान्त्रिक वज्रयान के रूप में विकास हुआ तथा वज्रयान के प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों का आविर्भाव हुआ। तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश भी इसी काल में हुआ।

डॉ० ब्रेडेल के अनुसार पाँचवीं शताब्दी में महायान का उग्र रहस्यवाद आत्मा सम्बन्धी सर्वात्मवादी विचारधारा तथा योग अथवा व्यक्ति का विश्वात्मा के साथ संयोग का स्थान जो पतंजलि द्वारा हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हुआ था, बौद्ध धर्म में समाविष्ट होने का कारण बना। मान्यता है कि भगवान ने गुह्य उपदेश बोधिसत्व को दिया था। बुद्ध के प्रकट और गुह्य दो प्रकार के उपदेश माने गये हैं। महायान सूत्रों में असंग, बसुबन्धु, नागार्जुन आदि ने बुद्ध के गुह्य उपदेशों की विद्यमानता को स्वीकार किया है और उसे मूल बुद्धवचन कहा है।[6]

सिद्धों का साहित्य दोहाकोश तथा चर्यापदों में मिलता है। दोहे टीकाओं में एवं दोहागीतियाँ बौद्धतन्त्रों तथा साधनाओं में मिलती हैं। ये दोहे चतुष्पदियों के कड़वक शैली में हैं। कण्हपा का दोहाकोश, तिलोपा का दोहाकोश, सरहपा का दोहाकोश तथा अन्य दोहागीति आदि प्रकाशित दोहाकोश हैं। कण्हपा के दोहाकोश में 32 छन्द मिलते हैं जिसमें 27 दोहे और 5 चतुष्पदियाँ हैं। तिलोपा का दोहाकोश सरहपा के साथ प्रकाशित हुआ जिनमें तिब्बती रूपान्तर और दोहों का भावार्थ भी प्रकाशित है। 112 छन्दों का सरहपा का दोहाकोश अद्वयवज्र की सहजाम्नाय संस्कृत टीका के साथ 'बौद्धगान ओ दोहा' में प्रकाशित है। राहुल जी द्वारा सम्पादित 'हिन्दी काव्यधारा' एवं 'पुरातत्त्व निबन्धावली' में सिद्धों के पदों एवं दोहों का संकलन किया गया है। डॉ० बी० भट्टाचार्य ने गुह्य साधना के चार दोहों और एक अपभ्रंश दोहागीति का उल्लेख किया है।

सिद्धों के गीत आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक, बौद्ध धर्म जब तक उत्तरी भारत में रहा तब तक गाए और पढ़े जाते थे। इस गुप्त पूजा-पाठ को चर्या, अनुष्ठान या आचरण कहा जाता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 50 चर्यापदों के साथ सहजाम्नाय पंजिका 'बौद्धगान ओ दोहा' में प्रकाशित की है। डॉ० सुकुमार सेन ने ओल्ड बंगाली टेक्स्ट में चर्यागीति, वज्रगीति तथा कुछ प्रहेलिकाओं का अंग्रेजी अनुवाद किया है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'बौद्ध सिद्धों के चर्यापद' नाम से प्रमुख चर्यापदों का संग्रह किया है। चर्यापद में चर्या शब्द आचरणीय या आचरण एवं पद शब्द छन्द गेयत्व के गुणों को व्यक्त करता है।[7] म०म० हरप्रसाद शास्त्री ने चर्यापद को वैष्णव कीर्तन गानों की भाँति माना है।[8] कुक्कुरीपा ने भी चर्या शब्द का प्रयोग किया है।[९]

राहुल जी ने कहा है कि सिद्धों का काव्य न तो कबीर की तरह गूढ़ है, न संकीर्ण ही है और न बहुत अच्छा, लेकिन उनकी कविता से लाखों व्यक्तियों को आत्मतृप्ति मिलती है। इसलिए इसे कविता तो मानना ही पड़ेगा।[10] सिद्ध-साहित्य में महासुख की उपलब्धि तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति इन दोनों की प्राप्ति ही प्रमुख लक्ष्य है।

सिद्धों के साहित्य का सर्वाधिक आकर्षक-तत्त्व जीवन जगत के प्रति स्वीकारात्मक दृष्टिकोण एवं कथन की निर्भीकता है। सहजरस की उद्भावना और उसका आस्वादन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बाह्याभिव्यक्ति से परे है। जैसे सुरंग में उड़ने वाली धूल सुरंग में ही मिल जाती है।[11] अनुभूति प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रवृत्त होना आवश्यक है।[12] सरहपा ने इसे अनुभव की वस्तु कहा है, अभिव्यक्ति की नहीं। मन नायक के रूप में और शून्यता ख-सम को नायिका रूप में आयोजित कर सहजभाव कहा है।

सिद्धों की साधना के वास्तविक नायक और नायिका, तथागत तथा उनकी भगवती नैरात्मा है। नायक नायिका रूप में उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक् को बोधिचित्त तथा नैरात्मा, साधक तथा महामुद्रा महाराग के रूप में आते हैं। नायिका रूप में प्रज्ञा, डोम्बी, चाण्डाली, रजकी आदि हैं। बागची ने इन्हें डोम्बी, नटी, चाण्डाली, रजकी तथा ब्राह्मणी पाँच कुलों में बाँटा है। इन्हीं के आधार पर पाँच स्कन्ध माने गए हैं।[13] अद्वयवज्र ने शून्यता को कामिनी और बोधिचित्त को उसका नायक बताया है। दोनों एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। गुरु उनके बीच दूती का कार्य करता है।[14]

सिद्धों ने अपनी कविता लोकभाषा में शुरू की थी। वे धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयों में क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वे अच्छी-बुरी सभी रूढ़ियों को उखाड़ फेंकना चाहते थे, लेकिन आचारविरोधी कार्यकलापों को छिपाने के लिए तथा जनता की घृणा से बचने के लिए विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करते थे। इसी कारण प्राकृतपैंगलम आदि ग्रन्थों में इनका सन्दर्भ नहीं मिलता। सरहपा ने भाषा को 'गहण गुहिर भास' कहा है।[15] विरूपा ने अभिसन्धि का प्रयोग किया, जिसका तात्पर्य सन्ध्या या सन्धा है। बौद्ध सिद्धों ने परमानन्द की स्थिति का एवं उस मार्ग की साधना का योगपरक वर्णन प्रतीकात्मक भाषा में किया है तथा तत्कालीन समाज की कुरीतियों, सामाजिक रूढ़ियों की निन्दा एवं ब्राह्मण धर्म का भण्डाफोड़ सन्धा भाषा में किया है। महायान में बोधिसत्वों को सन्ध्या शैली अपनाने का उपदेश दिया था जिससे वे अशिक्षितों को दीक्षित कर सकें। ह्वेन सांग ने सिद्धों की भाषा का अभिप्राय गुह्य अभिप्राय वाली भाषा कहा है।

सिद्धों की समस्त रचना-शैली विवेचन, खण्डन और चेतावनी में विभक्त की जा सकती है।

विवेचन में शून्य, सहज, प्रज्ञोपाय समाधि, भव, निर्वाण, चित्त, वज्रयान, नैरात्म्य दर्शन आदि का उपदेश है।

खण्डन में समकालीन अन्य सम्प्रदायों का खण्डन तथा वज्रयान में ही अनुष्ठानों और हठयोग के माध्यम से महामुद्रा सिद्ध कर लेने के उपरान्त अनुष्ठानों का निषेध है।

चेतावनी में बाह्य को त्याग कर आन्तरिक मर्म को समझने और चित्त को दृढ़ करने का उपदेश है। पाखण्डों का उपहास किया गया है और जो इनके व्यंग्य को नहीं समझता था, उसे इन्होंने मूर्ख कहा।[16]

महायान सूत्रालंकार में बोधिचित्त समुत्पाद को यान, राजा तथा गन्धर्वों के मधुर कोष के समान बताया है, जो चर्यापदों में भी आए हैं। सरह योगाचार दर्शन की तरह आलय विज्ञान को मूल तत्त्व मानते थे एवं उसे रहस्यमय रूप देना चाहते थे। प्रज्ञा महासुखात्मक शून्य ज्ञान के लिए आवश्यक है। यह नारी का भौतिक शरीर-मात्र नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह नैरात्मा, शून्यता एवं सहज-सुन्दरी है जो निर्वाण तत्व और पारमार्थिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती है।

सिद्धों ने 64 प्रकार की योगिनियाँ बताई हैं। योगिनियों के दो अर्थ नाड़ी और नारी से माने जाते हैं।

सिद्धों ने गुरु को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। गुरु को सिद्ध से बड़ा बताया गया है और गुरु की बात बिना विचारे ही करने को कहा गया है। तान्त्रिक साधना में गुरु का स्थान अनिवार्य हो गया। गुरु आम्नाओं को जानते थे। वे अपने शिष्यों को दीक्षित करके प्रज्ञोपायात्मक सहज सुख में प्रतिष्ठित करवाते थे।[17] गुरु का तथागत से अधिक महत्त्व है क्योंकि गुरु बुद्ध, धर्म और संघ तीनों है जबकि तथागत केवल बुद्ध है।[18] गुरु की आज्ञा से विषय इन्द्रियों का सुख भी सेव्य है। गुरु को भी युगनद्ध रूप मिथुनाकार कहा गया है जो शून्यता एवं करुणा की युगल मूर्ति परम ज्ञान है तथा आर्तप्राणियों के उद्धार के लिए हृदय में दया रखता है।

बोधिचित्त शून्यता और महाकरुणा की एकाकार अवस्था है। बोधिचित्त के दो पक्ष हैं—संवृत्त तथा विवृत्त। सामान्य चंचल अवस्था में संवृत्त तथा असामान्य निश्छल, शान्त अवस्था में विवृत्त, जिन्हें क्रमशः सांवृतिक तथा पारमार्थिक भी कहा जाता है। माध्यमिकों ने भी संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य दोनों की कल्पना की है। चित्त को भवजाल से मुक्त कर करुणा से समन्वित कर इस साधना की ओर अग्रसर करने वाली प्रणाली समुत्पाद है। साधना का आरम्भ चित्त का महाहृदय तथा महाउत्साह कहा गया है। करुणा समन्वित महाचित्त के लिए पृथ्वी, रत्नाकर, चिन्तामणी, नौका तथा मेघ आदि रूपकों का प्रयोग मिलता है। भुसुकपा ने काव्य और चित्त से परे आनन्द की कल्पना की है—हरिणी बोलअ सुण हरिणा तों, ए वन छाड़ि होहु भान्तो। तरसत हरिनार खुर न दीसई, भूसुक भणई मूढहिअहिं ण पइसइ (हिन्दी काव्यधारा)। जो मूर्ख के हृदय में प्रवेश नहीं करता और इस वनकाय रूपी चित्त को छोड़कर अन्यत्र भ्रमण करने का आदेश देते हैं।

सिद्धों ने चित्त को भव तथा निर्वाण दोनों का बीज कहा है। इसी से बन्धन और निर्वाण की प्राप्ति होती है। ये निरालम्ब है। चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ इन्दीअ विसअ तहिम दीसई। आइ रहिअ रहिअ एहु अन्त रहिउ वरगुरू पाअ अधउ कहिअ॥ (तिलोपा का दोहाकोश)। तिलोपा के अनुसार चित्त खसम (शून्य) का रूप धारण कर समसुख में प्रवेश करता है जो आदि-अन्त से परे है। भुसुकपा ने चित्तरूपी चूहे को मारने का आदेश दिया है—मार के जोइया मूसा पवणा (चर्यापद)। भुसुकपा ने संसार को भ्रान्ति कहा है। इसे रस्सी में सर्प के समान, दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान, बन्ध्यासुत और बालुका से मिश्रित तेल के समान बताया (हिन्दी काव्यधारा, पृ० 132)।

सरहपा ने देह में बुद्ध का वास बताया है। काया में इस अशरीर बुद्ध को जान लेने पर बुद्ध काया को जान लेना कहते हैं जो पवनरूपी काल का निषेध कर चन्द्र दिव्यकर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का संगम कर शरीर प्राप्त करता है (बागची दोहाकोश, 19 चर्या)। सरहपा ने कहा है कि जो अर्ध और ऊर्ध्व का भेद न जान कर दोनों का युगनद्ध नहीं करते वे बीच में ही पड़कर नष्ट हो जाते हैं—अधउध मज्झे सअल मूलणासी। अरध उरध श्वास गति की दो सीमाएँ हैं जहाँ से श्वासबिन्दु को स्थिर किया जाता है। प्रथम स्थल मूल स्थान या मूलाधार चक्र और अन्तिम स्थान सहस्रार चक्र है।

सिद्धों में खसम को अक्षय, अचिन्त्य, परमप्रभु तथा महासुख के रूप में चित्रित किया है। अवाच्य और अचिन्त्य बतला कर उसके दर्शन का उपदेश दिया है। सरहपा ने पति की मृत्यु पर पत्नीरूप में साधक का चित्रण किया है और उसे योगिनी मार्ग कहा है—नहिं खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणवि धरिज्जइ (बागची दोहाकोश)। सिद्धों ने वज्रयान को परमतत्व के रूप में लिया और वज्र दृढ़सार, अपरिवर्त्तनशील, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अविनाशी और शून्यता के अर्थ में लिया—

दृढ़सारभसौशीर्यम उद्देद्या अभेद्य लक्षणम्।

अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते (वज्रशेखर) सिद्धों ने इसका प्रयोग रहस्यात्मक विज्ञान और पुरुष-सिद्धान्त के रूप में किया है।[19]

सिद्धों ने अपनी साधना-पद्धति में सभी का नाम वज्र से जोड़ दिया है। सम्प्रदाय का नाम वज्रयान, उपास्य देवता वज्रसत्व, साधना-विधि, साधक, मन्त्र, पूजा आदि सभी वज्र कहे गए और वज्रसत्व के अनुसार सभी प्राणी वज्रसत्व हैं।

वज्रयानियों की रहस्यपूर्ण भाषा में वज्र शब्द का अर्थ पुरुष की प्रजनेन्द्रिय भी है। गुह्यसमाज तन्त्र में वज्र का सांकेतिक अर्थ इस प्रकार दिया है—

पंच हेतिश्च वेतिश्च वज्र मित्यमिथीयते।
धारणं घृगिति ख्यातं विज्ञानं वज्रघृंड्सनः।

शून्यता तथा करुणा के अभेद को महामुद्रा कहते हैं। इसकी साधना का उद्देश्य बोधि या बिन्दु की रक्षा करना है। गुरु इसकी दृढ़ता के प्रति विशेष आग्रह दिखाता है जिसकी अभिव्यक्ति वज्र के द्वारा की जाती है। वज्र शून्यता का भौतिक प्रतीक है। मुद्रा का प्रयोग तीन अर्थों में मिलता है—शारीरिक अंगों की स्थिति, जैसे भू-स्पर्श मुद्रा से अभय मुद्रा। बाह्य चिह्न कुण्डल आदि, वह नारी जो तान्त्रिक अनुष्ठानों (मैथुन तथा बिन्दु रक्षा) की सहसाधिका है।

दोहाकोश तथा चर्यापद के तान्त्रिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त सहसाधिका नारी मुद्रा के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। विकास की चार अवस्थाओं के आधार पर मुद्राएँ चार प्रकार की बताई गई हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा तथा महामुद्रा[20] जिनकी प्राप्ति के साथ ही क्रमशः आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द की प्राप्ति होती है। निर्वाण चक्र में आनन्द, धर्मचक्र में परमानन्द, सम्भोग चक्र में विरमानन्द तथा महाचक्र में सहजानन्द की प्राप्ति होती है। चारों मुद्राएँ मोक्ष प्रदान करने वाली हैं। यह व्याख्या तन्त्रों में नहीं थी, बौद्धों ने दी।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साधना—महासुखात्मक ज्ञान के लिए प्रज्ञा आवश्यक है। साथ ही नैरात्मा शून्यता एवं सहज सुन्दरी है। प्रज्ञा शक्ति के रूप में ग्रहण की गई है जो निर्वाण तत्त्व और पारमार्थिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती है। सिद्ध आचार्य जिस सहजावस्था की बात करते हैं उसके प्राप्त होने पर वह अवधूत कहलाता है। अवधूति को वह शक्ति कहा गया है कि जो अनायास ही क्लेश आदि पापों को दूर कर दे। बौद्ध तान्त्रिकों में अवधूतीवृत्ति नाम की विशेष यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है। सहज रस को वारुणी कहा गया, जिससे अमृत रस की प्राप्ति होती है, जिसे सरहपा ने प्रतीत्यसमुत्पाद के लिए जन्ममरण रहित नैरात्म्य ज्ञान की व्याख्या दी—

जो एथुनाम मरणे-विसंका सो करइरस रसनेई करना।
जो सचराचर तिअस भमन्ति से अजरामर किंमिन होन्ति।

(चर्यापद, पृ० 129)

सहजावस्था को महासुख कहा गया है—

आहण अन्त ण मज्झतहिं णउभव णउ णिब्बाण।
एहु सो परममहासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥

ताड़कपा ने कहा है कि संसार का भय, जन्म, मृत्यु आदि शब्द इस आनन्द से विस्मृत हो जाते हैं। इस वाक्सुख से अतीत कहा है—पांडकुरुपद सन्तारे जानी, वाक् पथातीत काहि बखानी (चर्या 37)।

प्रज्ञा तथा उपाय को युगनद्ध में परिणत कर बोधिचित्त को उसकी संवृत्त अवस्था से विवृत दशा में ले जाना है। प्रज्ञा तथा उपाय युगनद्ध रूप है। भगवान वज्रधर और भगवती नैरात्मा, चित्त, वज्र और नैरात्म स्वभाव, वज्र और खसम, कुलिश और कमल, मणि और यक्ष, शुक्र और रज, चन्द्र और सूर्य ये सब युगनद्ध रूप में प्रज्ञोपाय सिद्धान्त हैं। प्रज्ञोपाय सम्मिलित होने के कारण सिद्धों की साधना मिथुनपरक हो गई थी। प्रज्ञापारमिता के आधार पर अद्वय ज्ञान प्रज्ञोपाय युगनद्धी तथागत रूप है। महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से महायान बतलाया गया है।[21]

ब्रह्माण्ड के मूल धर्म शून्यता तथा करुणा माने गए हैं जो इनकी एकता को मानते हैं, सरहपा ने इन दोनों को अभिन्न बताया है।[22] प्रज्ञा और उपाय के समागम से प्रज्ञोपाय समाधि या सहज समाधि उद्भूत होती है। महामुद्रा के साथ साधक की साधना की चरम परिणति समाधि है। प्रज्ञोपाय समाधि या सहज समाधि वज्रयान की देन है। चर्यापद में चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने गए हैं, नाद न बिन्दु न रवि शशि मण्डल इसका सर्वप्रथम प्रयोग सरहपा ने किया है।[23] विज्ञान को शून्य का स्वरूप बतलाया गया है जो न भाव है, न अभाव रूप—

भणइ लुई आम्हे झाणे दिट्ठा। धमण चमण वेणि उपरि बइट्ठाः।

शून्य करुणा की भिन्नता से दारिकपा गगन के परम तट पर विलास करते हैं—सुन करुण अभिन्ने चारे काऊ वाऊ चिअ। विलसइ दारिक गअणत पारिमकूले॥ रुई के धुनते-धुनते उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश निकलते जाते हैं उसका कोई कारण नहीं रहता। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकार चित्त को भलीभाँति धुनने पर उसमें कोई कारण नहीं मिलता। अतः समग्र वृत्तियों से रहित और निःस्वभाव कर शून्यत्व को प्राप्त करना चाहिए—तुलाधुणि धुणि अंशूहि अंशू, अंशू धुणि धुणि णिखर सेसू। सरह ने करुणा के बिना ध्यान या शून्यता को व्यर्थ बताया है। करुणा से प्रेरित होकर लोगों को अन्धेरे से बाहर निकालना चाहते हैं—करुण रहिअ ज्जो सुणहिं लग्गा। णउ सोपावडुउत्तिम भग्गा।

राग करुणा का प्रतीक है, शून्यता से संग करने के लिए उन्मुख है। अतः उसे वज्रराग कहते हैं—

महारागानुरागेण महाराज स्वभावतः।
महाराग समाधिस्थो महामुद्रा प्रासध्यते॥[24]

यह राग तरुणी महामुद्रा ज्ञानरूपी प्रज्ञा के प्रति स्नेह के रूप में है। सम्बोधि का वास्तविक लक्षण भी महाराग को कहा गया है। राग को राग के द्वारा परिशमित करने की बात कही गई है। मिलन से भी अद्वय शून्य अवस्था तथा परमानन्द का लाभ होता है। देह-रूपी वृक्ष के चित्तरूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है। महासुख और मुक्ति की प्राप्ति होती है। वैराग्य दमन करने वाला पुरुष वीर कहा गया है। बौद्ध सिद्ध-कवियों ने राग और विराग की स्थापना कर राग को विराग का आवश्यक साधन बताया है।

सिद्ध-काव्य के भाव पक्ष में महासुख की उपलब्धि तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति ही प्रमुख लक्ष्य है। सहजरस की उद्भावना और उसका आस्वादन बाह्याभिव्यक्ति से परे है—जैसे सुरंग में उड़ने वाली धूल सुरंग में ही मिल जाती है (बागची दोहाकोश, पृष्ठ 31) अनुभूति प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रवृत्त होना आवश्यक है। कण्हपा ने 10वें चर्यापद में कापालिक के रूप में डोम्बी से समागम की इच्छा प्रकट की है—

नगरवाहिरे डोम्बि तोहोरि कुडिआ।
छाइ छोइ जोइ सो बाहण नाडिया।
आलो डोम्बि तोएसम करिब म संग
निधिण काण्ह कपालि जोई लांग।

प्रज्ञा की अभिव्यक्ति के रूप में पच्चीस योगिनियाँ हेरूक से समागम के लिए जाती हैं और विभिन्न चेष्टाओं से आकर्षित करती हैं। लौकिक श्रृंगार में नायक निष्क्रिय और निष्काम नहीं रहता लेकिन वज्रसाधक में प्रज्ञोपाय भाव सुप्त रहता है लेकिन जब वह प्रज्ञा का आलिंगन करता है तब साधना में प्रवेश करता है—

सुरनैरामणि कण्ठे लइया महासुहे राति पोहाई।

अद्वयवज्र ने शून्यता को कामिनी और बोधिचित्त को उसका नायक कहा है। दोनों एक-दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। गुरु उनके बीच दूती का कार्य करता है। सिद्धों की दृष्टि में महामुद्रा गुरु का उपदेश है, जो महायानी ग्रन्थों का तत्व है। गुरु शिष्य की शिक्षा के प्रारम्भ में चित्ताभिषेक कराता है जिसमें शिष्य को नवयौवना युवती को संगिनी बनाना पड़ता है, जिसका तान्त्रिक नाम मुद्रा है। इसके लिए गुरु और शिष्य दोनों का योग्य होना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आवश्यक है।[25] लुईपा के चरणों का आश्रय लेने से शिष्य दारिकपा ने बारह भुवन प्राप्त कर लिए।

लुइपाउ यह दारिक द्वादशभुवनेण लाघा—चर्या 34

सरह गुरुवचनों को अमृत-रस मानते हैं—

गुरुवउण अमिअ-रस, धवडि णविविअउ जेहिं।

सिद्धों में शून्यता के विविध सिद्धान्त मिलते हैं। वज्रयानी-साहित्य में शून्य और करुणा की भिन्नता के आधार पर उसके चार विकास माने गए हैं। शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य। प्रथम शून्य क्रमशः प्रज्ञा, द्वितीय वज्र, तृतीय प्रज्ञोपाय युगनद्ध और चतुर्थ उपलब्धि है। तीन शून्यों को पार करना है और चौथा उपलब्धि है, जिसे सहज शून्य भी कहा गया है।[26]

कण्हपा ने शून्य को चार पंखुड़ियों के रूप में बताया है। ज्योति के रूप में, प्रभास्वर शून्य की ज्योति तथा चण्डाग्नि की ज्योति भी मिलती है। तिलोपा ने शून्य को उत्पाद, व्यय एवं आदि-अन्त रहित अद्वय बतलाया है।

सहजें भावाभावण पुच्छहा सुण्ण करुण तहि समरस इच्छअ।
सारह चित्त णिबाणैं हणिआ, तिहुअण सुण्ण निरंजन पलिआ।
आइ़-रहिअ एहु अन्तर-हिय, वरगुरू-पाअ अछह कहिअ।[27]

विज्ञानवाद के शून्यवाद को सिद्धों का मूल कहा जाता है। नागार्जुन ने शून्यता के आधार पर सभी धर्मों को शून्य कहा है। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में भी आत्मा की शून्यता बताई गई।

सिद्धान्त—सिद्धों ने सभी सम्प्रदायों और साधना-पद्धतियों में निहित बुराइयों का खण्डन किया तथा सहज सुख को नैसर्गिक सुख की संज्ञा दी। सरह भोग स्वातन्त्र्य को अति में नहीं ले जाना चाहते। वे अक्षर की साधना करते हैं। उनका कहना है कि अक्षर में सकल आबद्ध हैं जो अक्षर की साधना करते हैं, वही एक महाक्षर बीज के रूप में समस्त बौद्ध तान्त्रिक देवताओं का उत्पादक हैं। यह बीज शून्यता रूपों का है। इसी से देवताओं को बिम्बन्यास विन्यास की भावना उद्‌भूत होती है।

अक्खर वण्णपरमगुण रहिओ भणइ ण जाणइ एमउ कहिजे।
सो परमेसरू कासु कहिज्जई। सुरअ कुमारी जीभ पड़िज्जई।

सरह ने सभी वाक् द्वारा कहा—

वरगुरु वअण पत्तिजई साच्चे। सरह भणइ मई कहिअइ बाचें।

अक्षर, पद, वाक् सभी प्रज्ञोपाय भावना से युक्त होते हैं। सरह ने जीवन के भोगों को त्याज्य न मान उनमें व्याप्त आसक्ति को त्याज्य बताया है। बालक के समान रहने का आदेश दिया तथा घर और वन के प्रतीक के माध्यम से गृहस्थ और संन्यास की स्थिति को दो छोरों के बीच गृहस्थ जीवन की आसक्ति पर जोर दिया।

घरमहिं थकुम जाहिवणें, जाहि तहिमण परिआण[28]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्धों ने अविद्या से मुक्त रहकर सहजानन्द की प्राप्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है। टेढ़े मार्ग को छोड़कर सीधे सहजमार्ग को अपनाने को कहा है—

उजुरे उजु छाडि लेहुबंक। तिउड़ि बेहि मा जाहु रे लङ्क
बाम दहिण जो खाल बिखाला। सरह भणइ बप! उजुवट भइला॥

सहजानन्द या निर्वाण एक प्रकार से अहं भाव से मुक्त होने की दशा है।[29] जब साधक भवमोह को छोड़कर धर्मकाय, तथता या शून्यता में लीन होता है तब करुणा एवं शून्य के मेल से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

कण्हपा ने शान्त निश्छल समाधि दिशा आनन्द की उपमा कमल मकरन्द से दी है। सहस्त्रार कमल में महामुद्रा धारण कर सुरति वीर आनन्द का अनुभव उसी प्रकार करता है जैसे भौंरा पराग को सूँघता है—

एवंकारबीऊ लइऊ कुसुमिऊ अरविन्दए।
महुअर रूपं सुरअबीर जिंघइ न अरविन्दए॥

लक्ष्य—सिद्धों की साधना का लक्ष्य अनुभूति था, जिसके लिए उन्होंने प्रज्ञोपाय कल्पना में समस्त तत्व-ज्ञान, साधना-पद्धति, हठयोग, अनुष्ठान और अभिव्यक्ति को लगा दिया। उन्होंने पूर्व परम्पराओं से विद्रोह कर उनकी नई व्यवस्था दी। बौद्धों के दुःखवादी निवृत्तिमूलक रूप का निराकरण कर सुख, आनन्द, भावना और भोग की प्रतिष्ठा की। निर्वाण को गौण बनाकर उसे केवल भव का ज्ञान बताकर पथ का एक नया मोड़-मात्र माना और उसके आगे प्रज्ञोपाय अनुष्ठान और सहजानन्द का उपदेश दिया। वैराग्यमूलक अस्वाभाविक जीवन का त्याग कर महामुद्रा रूप में गृहिणी से परिणय कर गृहस्थ जीवन में भोगों-उपभोगों के बीच तत्त्वज्ञान सिद्ध किया। पाण्डित्यपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा भावनात्मक अनुभूतियों को महत्व दिया। स्वस्थ तृप्ति में जीवन का पूर्ण विकास और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रस्फुटन माना। उन्होंने कहा कि जैसे विष का विधानपूर्वक उपभोग करने से विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है, भव का विधानपूर्वक उपभोग करने से भव में लिप्तता नहीं रहती—

जिम जिस भक्खइ विसंहि पलुत्ता।
तिम भव भुंजहि भवहि ण जुत्ता।

कान में कष्ट पहुँचाने वाला जल जैसे जल के ही आघात से निकलता है, काँटा काँटे से ही निकलता है, मैल छुड़ाने के लिए मिट्टी लगाई जाती है या लोहा पानी में डूब जाता है लेकिन पात्र रूप में गठित होने से जलपोत रूप में तैरता है और दूसरों को भी पार उतारता है, अग्नि दाह्य होते हुए भी दीपशिखा के रूप में तिमिर का नाश करती है। उसी प्रकार इनके उपभोग का आध्यात्मिक अर्थ है।

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक तत्वों का प्रवेश—महायान सम्प्रदाय में धारणियों से मन्त्रों का विकास के साथ माना गया है। गोविन्दचन्द पाण्डेय ने परावृत्ति के सिद्धान्त को तान्त्रिक साधना की भूमिका मानी।[30] पहले धारणी का प्रयोग रक्षण के लिए ताबीज के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप में किया जाता था तथा यह गूढ़ शब्दों से युक्त होती थी। धारणियों के मन्त्रात्मक विकास में करण्डव्यूह तथा अवलोकितेश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है। मंजूश्री मूल कल्प में मन्त्र व धारणी के अनेक मण्डल और मुद्राएँ हैं। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र में प्रज्ञापारमिता को ही धारणी बना दिया गया है।

मूल बुद्धवचनों में तन्त्र के विषय विद्वान खोजते हैं। चार ऋद्धिपाद को अलौकिक सिद्धियों को उत्पन्न करने वाला धर्म कहा है। दीघनिकाय के आटानाटीय सुत्त में शान्ति और सौभाग्य के लिए पूजा, गान्धारी विद्या एवं आवर्त्तनी विद्या आदि पर लोगों का विश्वास वर्णित है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अव्याकृत के आधार पर महायान एवं सिद्धों में रहस्यवाद का विकास माना जाता है तथा कहा जाता है कि बुद्ध के पास एक गुह्य उपदेश था जिसे उन्होंने चुने हुए शिष्यों को दिया।

400 ईसवी सन् तक महायान के देवतापरक पूजा, मन्त्र आदि का विकास हो चुका था। इसके बाद छठीं शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश होता है और वज्रयान में उनका बहुत प्रसार हुआ है। बौद्ध और हिन्दू तन्त्र में प्रमुख भेद यह है कि हिन्दू तन्त्र में शक्तिपूजा का एक केन्द्रीय स्थान है किन्तु बौद्धों में महाशक्ति को माया बताया गया है।

बौद्ध धर्म में वज्र इन्द्र की कल्पना से प्रवेश हुआ और प्रज्ञा शचि इन्द्र की पत्नी के रूप में। सिद्धों ने इन्हें उलट दिया। सिद्धों ने तान्त्रिक मतों को अपनाकर बौद्ध व्याख्याएँ ढूँढ लीं और उसे योगाचार की परम्पराओं से सूत्रबद्ध किया। साथ ही सिद्धों ने अपना अलग मार्ग बनाया। बौद्ध सिद्धों में कपाल, शिव, डमरू आदि को बौद्ध अर्थ देकर वज्रसत्व से उद्भूत माना।

शैव और बौद्धों ने मिलकर वैष्णवों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। शैव-शाक्तों के ग्रन्थों में वैष्णवों के प्रति तीखी आलोचना भी मिलती है और कौल सिद्धान्त, सहज सिद्धि, डाकिनी आदि की सिद्धि मिलती है। शैव और वज्रयान में समानता और विरोध की अनेक कथाएँ हैं। शैव साधना ने बौद्ध साधना में प्रवेश कर उसे भी आत्मसात किया था।

1. *हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,* पृ० 67-68, डॉ० रामकुमार वर्मा, रामनारायण लाल, तृतीय संस्करण, 1954
2. *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान,* पृ० 273, नामवर सिंह, 1965
3. *गुह्यसमाज तन्त्र* (भूमिका), पृ० 30-32, सं० डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, 1932
4. *हिन्दी-साहित्य की भूमिका,* पृ० 228-33, हजारीप्रसाद द्विवेदी, 1944
5. *हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव,* पृ० 45, श्रीमती सरला त्रिगुणायत, 1963
6. *बौद्ध धर्म तथा अन्य भारतीय दर्शन,* 1, पृ० 575, भरतसिंह उपाध्याय
7. *चर्यागीति परिचय,* पृ० 35, सत्यब्रत दे
8. *चर्यापद संग्रह*-द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० 4

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

9. अइसन चर्या कुक्करि पाए गाइड, को ड़िमाझे एकुहि आदि समाइउ, हिन्दी काव्यधारा, पृ० 144; *राहुल सांकृत्यायन*
10. *हिन्दी काव्यधारा,* अवतरणिका, पृ० 47
11. *बागची दोहाकोश,* पृ० 31, सं० डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, 1935, 1938
12. *सरहपा,* बागची, दोहाकोश, पृ० 47
13. *सिद्ध-साहित्य,* पृ० 242
14. *अद्वयवज्र-संग्रह,* पृ० 58, सं० हरप्रसाद शास्त्री, 1926
15. *बौद्धगान ओ दोहा,* पृ० 8, सं० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, 1358 बंगावद
16. दोहाकोश, पृ० 40, सं० राहुल सांकृत्यायन, वि० 2014
17. *प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि,* पृ० 6, सं० बी० भट्टाचार्य, 1929 ई०
18. गुरुर्बुद्धो भवेद्धर्म : संघश्चपि स एवहि—*ज्ञानसिद्धि,* पृ० 13, डॉ० बी० भट्टाचार्य, 1929
19. *इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स,* भाग 12, पृ० 92
20. *सिद्ध-साहित्य,* धर्मवीर भारती, पृ० 219
21. महाप्रज्ञा महोपाय महाकृपा धिमोक्षतः, महायान समुद्दष्टम् महासत्वस्य गोचरम्॥ 84॥ *चित्तविशुद्धि प्रकरण,* पृ० 6, सं० बी०षी० पटेल, 1949
22. एअभिण्ण जो मुणई सो भवणिब्बाण-विभुक्क, *हिन्दी काव्यधारा,* पृ० 16, राहुल सांकृत्यायन
23. *बौद्ध गान ओ दोहा,* भूमिका, पृ० 32, सं० पं० हरप्रसाद शास्त्री, 1358 बंगावद
24. *सुभाषित संग्रह,* सं० सी०वण्डे, ब्रमेस, 1905, द्रष्टव्य *सिद्ध-साहित्य,* पृ० 195
25. चर्यापद, पृ० 151
26. *सिद्ध-साहित्य,* पृ० 35
27. *हिन्दी काव्यधारा* , तिलोपा
28. *सरह का दोहाकोश*
29. *सरह चर्या,* 39
30. *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,* पृ० 463, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, 1976

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

11

जैन धर्म में रहस्यवाद

पुष्पलता जैन

सृष्टि के सर्जक तत्त्व अनादि और अनन्त हैं, उनकी सर्जनशीलता, प्राकृतिक शक्तियों के संगठित रूप पर निर्भर करती है। पर उसे हम प्राय: किसी अज्ञात शक्तिविशेष से सम्बद्ध कर देते हैं, जिनका मूल कारण मानसिक दृष्टि से स्वयं को असमर्थ स्वीकार करना है। इसी असामर्थ्य में सामर्थ्य पैदा करने वाले **सत्यं शिवं सुन्दरम्** तत्त्व की गवेषणा और स्वानुभूति की प्राप्ति के पीछे हमारी रहस्यभावना का एक बहुत बड़ा सम्बल है। साधक के लिए यह एक गुह्य तत्त्व बन जाता है, जिसका सम्बन्ध पराबौद्धिक ऋषि-महर्षियों की गुह्य साधना की पराकाष्ठा और उसकी विशुद्ध तपस्या से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक दृष्टा के साक्षात्कार की दिशा, अनुभूति और अभिव्यक्ति समान नहीं हो सकती। उसका ज्ञान और साधनागम्य अनुभव अन्य प्रत्यक्षदर्शियों के ज्ञान और अनुभव से पृथक होने की ही सम्भावना अधिक रहा करती है। फिर भी लगभग समान मार्गों को किसी एक पन्थ या सम्प्रदाय से जोड़ा जाना भी अस्वाभाविक नहीं। जिस मार्ग को कोई चुम्बकीय व्यक्तित्व प्रस्तुत कर देता है, उससे उसका चिरन्तन सम्बन्ध जुड़ जाता है और आगामी शिष्य-परम्परा उसी मार्ग का अनुसरण करती रहती है। यथासमय इसी मार्ग को अपनी परम्परा के अनुकूल कोई नाम दे दिया जाता है जिसे हम अपनी भाषा में धर्म कहने लगते हैं। रहस्य भावना के साथ ही उस धर्म का अविभाज्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है और कालान्तर में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सीमा में बाँध दिया जाता है।

जहाँ तक जैन-साहित्य का प्रश्न है, उसमें रहस्य शब्द का प्रयोग अन्तराय कर्म के अर्थ में हुआ है, धवलाकार ने इसी अर्थ को रहस्य मन्तराय: (1/1, 1/44,1) कहकर स्पष्ट किया है। रहस्य शब्द का यह अर्थ कहाँ से आया है, यह गुत्थी अभी तक सुलझ नहीं सकी। सम्भव है अन्तराय कर्म की विशेषता के सन्दर्भ में रहस्य शब्द को अन्तराय क़र्म का पर्यायार्थक मान लिया गया हो। जो भी हो, इस अर्थ को उत्तरकालीन आचार्यों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया अन्यथा उसका प्रयोग लोकप्रिय हो जाता। दूसरी ओर जैनाचार्यों ने रहस्य शब्द के इर्दगिर्द घूमने वाले अर्थ को अधिक समेटा है। गुह्य साधना के अर्थ में उन्होंने रहस्य शब्द का प्रयोग भले ही पहले न किया हो पर उसमें सन्निहित आध्यात्मिक वस्तु-निष्ठता को तो मूल भावना के रूप में स्वीकार किया ही है। तीर्थंकर ऋषभदेव को प्रथम रहस्यवादी व्यक्तित्व स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होगा और उन्हीं की परम्परा का प्रवर्तन किया नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों ने। इस रहस्य-साधना को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयत्न करने वालों में आचार्य कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगेन्दु मुनि रामसिंह, बनारसीदास, आनन्दघन जैसे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साधकों का नाम आता है। जैन साधक टोडरमल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी इसी अर्थ को व्यक्त करती है। इसी तरह पाइअलच्छिनाममाला, सुपासणाहचरिउ (318) तथा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (204) आदि ग्रन्थों में भी रहस्य शब्द को गुह्य अथवा 'आध्यात्म' की परिधि में मढ़ दिया है। जैन साधकों ने रहस्य शब्द का प्रयोग अध्यात्म के अर्थ में ही किया है। अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा को अर्थात स्वयं को अधिश्रित करके वर्तमान होना (आत्मनमधिश्रिन्य वर्तमानोऽध्यात्मम् अष्टसहस्री, कारिका 2)। इसमें आत्मा को केन्द्रित कर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन अर्धमागधी जैनागमों में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस रहस्य तत्त्व की भावानुभूति वासना रूप भाव के माध्यम से भावक के मानस-पटल पर अंकित होती है। इसी को साक्षात्कार कहा जाता है। यह साक्षात्कार तभी हो पाता है जब मिथ्यात्व या अज्ञान का आवरण साधक की आत्मा से हट जाए। तब इसे रहस्यानुभूति कहा जाएगा। भावानुभूति काव्यात्मक है और रहस्यानुभूति साधनात्मक या दार्शनिक है। एक का सम्बन्ध रस से है और दूसरे की परिधि आध्यात्मिक है। प्रथम प्रक्रिया विचार से प्रारम्भ होती है और भावना से होती हुई अनुभूति में विराम लेती है। द्वितीय प्रक्रिया अनुभूति से प्रारम्भ करती है और भावना से होती हुई विचार में गर्भित हो जाती है। प्रथम को विषयप्रधान (Objective) कहा जा सकता है और द्वितीय को आत्मप्रधान या भावात्मक (Subjective) माना जा सकता है।

भावना को न्याय प्रणाली में 'चिन्ता', वेदान्त में निदिध्यासन, योग में ध्यान और काव्य के क्षेत्र में साधारणीकरण व्यापार, व्यापना आदि के रूप में चित्रित किया गया है। अध्यात्म के क्षेत्र में भावना साधन-मात्र है पर काव्य के क्षेत्र में वह साधना और साध्य दोनों है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रहस्य भावना का सम्बन्ध आत्मिक-आध्यात्मिक साधना से है। परन्तु उसकी भावात्मक भावना काव्यात्मक क्षेत्र में आ जाती है।

रहस्य भावना एक आध्यात्मिक साधना है। अध्यात्म से तात्पर्य है चिन्तन। जैन दर्शन में प्रमुखतः सात तत्त्व माने जाते हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जर, और मोक्ष। व्यक्ति इन सात तत्त्वों का मनन, चिंतन और अनुपालन करता है। साधक सम्यक चारित्र का परिपालन करता हुआ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है। यहाँ सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र साधन के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

रहस्यवाद की दूसरी विशेषता है स्वानुभूति। बिना स्वयं की प्रत्यक्ष अनुभूति के साधक साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में सम्यग्दर्शन कह सकते हैं। अनुभूति के उपरान्त ही श्रद्धा दृढ़तर होती चली जाती है। यह अनुभूति भावात्मक होती है और यह भावात्मक अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है।[1] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर के दमकते हुए सन्तापदायक भावों को चीरकर प्रकट होती है और सहज शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[2]

बनारसीदास के गुरु रूप पण्डित रूपचन्द का तो विश्वास है कि आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अन्धेरा नष्ट हो जाता है।[3] कविवर द्यानतराय आत्मविभोर होकर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यही कहते हैं—आत्म अनुभव करना रे भाई। यह आत्मानुभव भेद-विज्ञान के बिना सम्भव नहीं होता। नव पदार्थों का ज्ञान, व्रत, तप, संयम का परिपालन तथा मिथ्यात्व का विनाश अपेक्षित है।[4] यह शुद्धानुभव राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व तथा पर पदार्थों की संगति को त्यागने, सत्यस्वरूप को धारण करने और आत्मा (हंस) के स्वत्व को स्वीकार करने से प्राप्त होता है।[5] इसमें वीतराग, भक्ति, अप्रमाद, समाधि, विषयवासनामुक्ति तथा षट्द्रव्यज्ञान का होना भी आवश्यक है।[6] शुद्धानुभवी साधक आत्मा के निरंजन स्वरूप को सदैव समीप रखता है और पाप-पुण्य के भेदक तत्त्व से सुपरिचित रहता है।[7] कविवर भूधर दास आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए आगमाभ्यास पर अधिक बल देते हैं। जीवन की अल्पस्थिति और फिर द्वादशांग की अगाधता हमारे कलाप्रेमी को चिन्तित कर देती है। इसे दूर करने का उपाय उनकी दृष्टि में एक ही है श्रुताभ्यास। यही श्रुताभ्यास आत्मा का एक चिन्तक[8] आत्मानुभव की भवबाधा को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है।[9] डॉ॰ राधाकृष्णन् ने भी इसी को रहस्यवाद कहा है। पर उन्होंने विचारात्मक अनुभूति को दर्शन का क्षेत्र तो बना दिया किन्तु उसका भावात्मक अनुभूति से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। पर यहाँ हम उनके विचारों से सहमत नहीं हो सकेंगे। अनुभूति में भाव यद्यपि प्रधान और मूल अवश्य है पर उनका निकट सम्बन्ध विचार अथवा दर्शन से भी बना रहता है। बिना विचार और दर्शन के भावों में सघनता नहीं आ सकती।

(3) आत्मतत्त्व आध्यात्मिक साधना का केन्द्र है। संसरण का मूल कारण है—आत्मतत्त्व पर सम्यक विचार का अभाव। आत्मा का मूल स्वरूप क्या है और मोह आदि विकारों से किस प्रकार जन्मान्तरों में भटकता है इत्यादि प्रश्नों का यहाँ समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है।

(4) परनपद में लीन हो जाना रहस्यवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति है। इसमें साधक आत्मा की इतनी पवित्र अवस्था में पहुँच जाता है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का एकाकारत्व एक ऐसी अवस्था है जहाँ साधक समस्त दुःखों से विमुक्त होकर एक अनिर्वचनीय शाश्वत-चिदानन्द चैतन्य का रसपान करने लगता है। इसी को हम निर्वाण अथवा मोक्ष कहते हैं।

जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य अखण्ड ब्रह्म के अंश के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, वहाँ तो विकारों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

जैन धर्म में आत्मा के तीन स्वरूप वर्णित हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादर्शन के कारण विशुद्ध नहीं हो पाता। अन्तरात्मा में विशुद्ध होने की क्षमता है पर वह विशुद्ध अभी हुआ नहीं तथा परमात्मा आत्मा का समस्त कर्मों से विमुक्त और विशुद्ध स्वरूप है। आत्मा के प्रथम दो रूपों को साधक और अन्तिम रूप को साध्य कहा जा सकता है। साधक अनुभूति करने वाला है और साध्य अनुभूति तत्त्व। जैन परिभाषा में अर्हन्त अथवा अर्हत् वही है जिसका ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मों का विनाश हो चुका हो और शरीरवान हो। हिन्दी-साहित्य में इसी को सगुण ब्रह्म कहा गया है। आत्मा की निष्फल अवस्था में वेदनीय,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों का भी विनाश हो जाता है और आत्मा निर्देही बन जाता है। यही निर्गुण ब्रह्म है। उत्तरकालीन जैन कवियों ने आत्मा की सफल और निष्फल अवस्था के प्रति भावविभोर होकर भक्ति प्रदर्शित की है और भक्तिभाव में प्रवाहित होकर दाम्पत्यमूलक अहेतुक प्रेम का चित्रण किया है। समरस हो जाने पर वह उस अनुभूतिगत आनन्द और चिदानन्द चैतन्य रस का पान करता है।

जैन धर्म में जीव का अर्थ आत्मा है और अजीव का विशेष सम्बन्ध उन कर्मों से है जिनके कारण यह आत्मा संसार में बार-बार जन्म ग्रहण करती रहती है। इन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से कैसे हो सकता है इसके लिए आश्रव और बन्ध शब्द आए हैं तथा उनसे आत्मा कैसे विमुक्त होती है, इसके लिए संवर और निर्जरा तत्त्वों को रखा गया है। आत्मा का कर्मों से सम्बन्ध जब पूर्णतः दूर हो जाता है तब उसका विशुद्ध और मूल रूप सामने आता है। इसी को मोक्ष कहा गया है।

इस प्रकार रहस्य भावना का सीधा सम्बन्ध जैन संस्कृति में उक्त सात तत्त्वों पर निर्भर करता है। इन तत्त्वों की समुचित विवेचना ही जैन ग्रन्थों की मूल भावना है। आचार-शास्त्र और विचार शास्त्र इन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए दिखाई देते हैं। अध्यात्मवादी ऋषि-महर्षियों और विद्वान-आचार्यों ने रहस्यभावना की साधना में अनुभूति के साथ विपुल साहित्य का सृजन किया है।

रहस्यवाद के बाधक तत्त्व

रहस्य-भावना का प्रयोग जैन दर्शन में अनुचिन्तन, ध्यान, अनुप्रेक्षण के अर्थ में हुआ है। वेदान्त में इसी को निदिध्यासन माना है। व्याकरण में भावना को व्यापार का पर्यायार्थक कहा है।[10] भावना के अभाव में अभिव्यक्ति किसी भी परिस्थिति में सम्भव नहीं है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टा रहस्य की साक्षात भावना करता है जबकि कवि उसकी भावात्मक अनुभूति करता है। जैन साधक आध्यात्मिक कवि हुए हैं जिनमें रहस्य-भावना का संचार दोनों रूपों में हुआ है। परमात्मासार में कहा ही गया है—

जो जिण सो हउं, सो जि हउं, एहउ भाउ णिभन्तु,
जोइया, उण्णु णतन्तु णमन्तु मोक्खहो कारणि।

जो रहस्यवादी शैली का द्योतक है और भावना अनुभूति परक है।

रहस्यभावना का चरमोत्कर्ष ब्रह्म साक्षात्कार है। साहित्य में इस ब्रह्म साक्षात्कार को परमार्थप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार परमपद प्राप्ति, परम सत्य, अजर-अमर पद आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए उसे एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम उसे स्वयं में विद्यमान राग-द्वेष-मोहादिक विकारों को विनष्ट करना पड़ता है। ये ही विकार संसारी को जन्म-मरण के दुःखसागर में डुबाये रहते हैं। इनको दूर किए बिना न साधना का साध्य पूरा होता है और न ब्रह्म-साक्षात्कार रूप परम-रहस्य तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी साधनाओं में उनके विमुक्त होने का उपदेश दिया गया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सांसारिक विषय-वासना

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजभाव से भावुक हो जाता है। उस अवस्था में वह कभी अपने को दोष देता है तो कभी तीर्थंकर को बीच में लाता है। कभी रागादिक पदार्थों की ओर निहारता है तो कभी तीर्थंकारों से प्रार्थना, विनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति और दास्यभाव को अभिव्यक्त करता है। इन सभी भावनाओं को हिन्दी जैन कवियों ने कई रूपों में अपने शब्दों को अभिव्यक्ति दी है।

कविवर बनारसीदास ने संसार की नश्वरता पर विचार किया है—

वा दिन को कर सोच जिय मन में।
वनज किया व्यापारी तूने टाँडा लादा भारी।
ओछी पूँजी जूआ खेला आखिर बाजी हारी रे॥
आखिर बाजी हारी, कर ले चलने की तैयारी।
इक दिन डेरा होयगा वन में॥ वा दिन॥ 1॥
झूंठे नैना उलफत बाँधी, किसका सोना किसकी चाँदी।
इक दिन पवन चलेगी आँधी, किसकी बीबी किसकी बाँदी
यह मिट्टी है तेरे मन में॥ वा दिन॥ 2॥
कहत बनारसि सुनि भव प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सौ नाहीं, सिर पर काल निशाना रे॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में॥ वा दिन॥ 3॥

जगजीवन को यह सारा संसार धन की छाया-सा दिखता है 'जगत सब दीसत धन की छाया।'[11] पर जब रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का प्रकाश और अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य) का सुख मिलने लगता है तब कवि को यह सारा संसार क्षणभंगुर लगने लगता है।

जगतराम कवि अपनी आदतों से अत्यन्त दुःखी होकर कहते हैं—'मेरी कौन गति होसी हो गुसाई।'[12] द्यानतराय को तो यह सारा संसार बिलकुल मिथ्या दिखाई देता है। आत्मज्ञान को पाए बिना असत्य के माध्यम से जीव द्रव्यार्जन करता, असत्य साधना करता, यमराज से भयभीत होता 'मैं' और 'मेरा' की रट लगाता संसार में घूमता फिरता है। इसलिए संसार की विनाशशीलता देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार रे।'[13]

दौलतराम ने भी संसार को 'धोखे की टाटी' कहा है और बताया है कि संसारी जीव जानबूझकर अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे हुए हैं। उसे समझाते हुए वे कहते हैं कि तेरे प्राण क्षण में निकल जाएँगे, तो तेरी यह मिट्टी यहीं पड़ी रह जाएगी। अतः अन्तःकपार खोल ले और मन को वश में कर ले।[14] भक्तकवि द्यानतराय को माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि सभी स्वार्थांध दिखाई देते हैं। शरीर का रतिभाव कवि को और भी विराग की ओर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाने को बाध्य करता है। इसलिए इससे दूर होने के लिए वे ब्रह्मज्ञान का अनुभव आवश्यक मानते हैं। यही उनके लिए कल्याण का मार्ग है।[15]

जल के बुलबुले के समान यह संसार अस्थिर और क्षणभंगुर है। इस पर दर्प करने की क्या आवश्यकता है।[16] वह तो रात्रि का स्वप्न जैसा है, पावक में तृणमूल-सा है, काल-कुदाल लिए सिर पर खड़ा है, मोह पिशाच ने मतिहरण किया है।[17] सच तो यह है कि इस संसार में कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं दिखाई देता।[18] वह तो सांसारिक वासनाओं में लगा रहता है। पाण्डेजिनदास ने जीव को माली और भाव को वृक्ष मानकर माली रासो की रचना की।[19] सुन्दरदास ने संसार का आनन्द और मोक्ष-सुख दोनों को एक साथ प्राप्त करना सम्भव नहीं बताया। पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र के पार कैसे जाया जा सकता है? कृपाणों की शय्या से विश्राम कैसे मिल सकता है—

पाथर की करि नाव पार-दधि उतरयौ चाहै,
काग उड़ावनि काज मूढ़ चिन्तामणि वाहै।
बसै छोह बादल तणो रचै धूम के धूम,[20]
करि कृपाण सैंज्या रमै ते क्यों पावै विसराम।

विनय विजय प्राणियों की ममता प्रवृत्ति को देखकर भावुक हो सकते हैं, स्वयं में रहने वाले सुधा-सरोवर को नहीं देखा जिसमें स्नान करने से सभी दु:ख दूर हो जाते हैं।[21]

कविवर दौलतराम का हृदय भी संसार को केले के तने के समान असार मानता है। कवि अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कहता है, तुम भी यदि कर्मों से मुक्ति चाहते हो तो इस क्षणिक संसार से विरक्त हो जाओ और जिनराज के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दो—

मत राचौ घी-धारी।
भँवर भ्रमर सर जानके, मन राचौ धी-धारी
यों असार लख छार भव्य झट गये मोख-मग-चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी।

संसार की विषय-वासना में आसक्त जीवों की मन:स्थिति को स्पष्ट करते हुए कवि साधकों ने उससे विरक्त हो जाने का उपदेश भी दिया है। उनका चिन्तन स्वानुभूति के निर्मल जल से निखर कर आगे बढ़ गया।

शरीर से ममत्व

अध्यात्म रसिक भूधर कवि ने शरीर को चरखा का रूप देकर उसकी यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। मोह में लगे व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि शरीररूपी चरखा जीर्ण-शीर्ण हो गया। उससे अब कोई काम नहीं लिया जा सकता, वह आगे बढ़ता ही नहीं, उसके पैररूपी दोनों खूँटे हिलने लगे, फेफड़ों में से कफ की घर्ऱ-घर्ऱ आवाज आने लगी जैसे पुराने चरखे से आती है, उसे मनमाना चलाया नहीं जा सकता। रसनारूपी तकली लड़खड़ा गयी। शब्दरूपी सूत सीधा नहीं निकलता, जल्दी-जल्दी शब्दरूपी सूत टूट जाता है। आयुरूपी माल का भी कोई विश्वास नहीं, वह कब टूट जाए, विविध औषधियाँ देकर उसे प्रतिदिन स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मरम्मत की जाती हैं, वैद्यों और मरम्मत करने वालों ने घुटने टेक दिए। जब तक शरीररूपी चरखा नया था तब तक सभी को वह प्रिय था। पर जैसे ही वह पुराना हुआ, उसका रंग-विरंग हुआ। उसे कोई देखना ही नहीं चाहता। इसलिए हे भाई! मिथ्या तत्त्वरूपी मोटे धागे को महीन कर उसे सुलझा लो और सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न कर लो। उसका अन्त तो ईंधन में होना निश्चित ही है, बस प्रातःकाल समझकर पूरे आत्मविश्वास के साथ सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।[22]

छीटल कवि ने उदर गीति में जीव की अवस्थाओं, गर्भावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था का दर्शन किया है।

उदर उदधि में दस मासाह रहयौ।
जरा बुढ़ापा बैरी आइयो, सुधि-बुधि नाही जब पछिताइयो।

भूधर कवि ने भी शरीर के सौन्दर्य और बल पर अभिमान करने वालों को सचेत किया है।[23]

आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि बुधि विसरानी॥

पं० दौलतराम आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान कर शाश्वत सुख को प्राप्त करने को कहते हैं।[24]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र ये तीनों ही एकमात्र सम्पत्तियाँ हैं।

सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं सम्पति तोरी॥
सदा विलसो शिव-गोरी।[25]

विनय विजय ने रूपक के माध्यम से शरीर की नश्वरता और प्रकृति को प्रस्तुत किया है।

बुधजन ने शरीर की नश्वरता का भान करते हुए शुद्ध स्वभाव चिदानन्द चैतन्य अवस्था में स्थिर होने का सन्देश दिया है—

तन देख्या अस्थिर घिनावना।......
बुधजन तनतै ममत मेटना चिदानन्द पद धारण।[26]

शरीर की इस नश्वरता का आभास साधक प्रतिपल करता है और साधनात्मक प्रवृत्ति से शुद्ध स्वभावी चैतन्य की भावना भाता है। मृत्यु एक अटल तथ्य है जिसमें शरीर भग्न हो जाता है, मात्र स्वस्थ चेतन रह जाता है।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का तात्पर्य है अज्ञान और अज्ञान का तात्पर्य है धर्मविशेष के सिद्धान्तों पर विश्वास न करना। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविद्या, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि आदि शब्द समानार्थक हैं।

जैन साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व उस दृष्टि को कहा गया है जिसमें विशुद्धता न हो, परपदार्थों में आसक्ति हो, एकान्तवादी का पक्षपाती हो, भेद विज्ञान जाग्रत न हुआ हो, कर्म के झकोरों से संसार वैसे ही डोलता है जैसे बघरूड़े में पड़ा पत्ता, क्रोधादि कषायों से ग्रसित हो, और क्षण भर में सुखी और क्षण भर में दुःखी बन जाता है।[27] पुद्गल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अथवा पदार्थों से मोह रखना तथा पुदग्ल और आत्मा को एकरूप मानना यही मिथ्याभ्रम है।

कर्मरूपी रोग की दो प्रवृत्तियाँ हैं—एक कम्पन और दूसरी ऐंठना। यही क्रमशः पाप और पुण्य हैं।

पाप-पुण्य दोनों संसार-भ्रमण के बीज हैं। भैया भगवती दास ने दोनों को त्यागने का उपदेश दिया है। अजरामर पद प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है।[28]

बनारसीदास ने नाटक समयसार में पाप-पुण्य को एक वेदनीय कर्म के दो भिन्न-भिन्न पुत्र माने हैं जो संसार में भटकते हैं और दोनों बन्ध-परम्परा को बढ़ाते हैं, जिसकी ज्ञानी लोग अभिलाषा नहीं करते।[29]

कविवर द्यानतराय मिथ्याज्ञानी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन्! यह मिथ्यात्व तुमने कहाँ से प्राप्त किया? सारा संसार स्वार्थ की ओर निहारता है पर तुम्हें अपना स्वार्थ स्वकल्याण नहीं रुचा। मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे, परमात्मा कहला सकोगे। तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर सकोगे।[30]

जैन रहस्यवाद में मिथ्यात्व के तीन भेद होते हैं—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र। ये तीनों भेद गृहीत और अगृहीत रूप होते हैं। गृहीत का अर्थ है बाह्य कारणों से ग्रहण करना और अगृहीत का तात्पर्य है निसर्गज, अनादिकाल से होना। इन्हीं के कारण संसारी भव-भ्रमण करता रहता है। जीवादि सप्त तत्वों के स्वरूप पर यथार्थ रूप से श्रद्धा न करना अगृहीत मिथ्याज्ञान है। पंचेन्द्रियों के विषय भोगों का सेवन करना अगृहीत मिथ्या-चरित्र है। इनके कारण जीव अपने आपको सुखी-दुःखी, धनी, निर्धनी, सबल, निर्बल आदि रूप से मानता है, शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नष्ट होने पर अपना नाश समझता है, रागद्वेषादि कारणों को जुटाता है और आत्म-शक्ति को खोकर इच्छाओं का अम्बार लगाता है। गृहीत मिथ्यादर्शन में जीव कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन करता है। कुगुरु का तात्पर्य है वह व्यक्ति जो मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह और पीतवस्त्रादि बाह्य परिग्रह को धारण करता हो, अपने को मुनि मानता हो, मनाता हो। रागद्वेषादि युक्त देव-कुदेव हैं और हिंसादि का उपदेश देने वाला धर्म कुधर्म है। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति संसार में स्वयं डूबता है और दूसरे को भी डुबाता है। वे एकान्तवाद का कथन करते हैं तथा भेद विज्ञान न होने से कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करने वाली अनेक प्रकार की हठयोगादिक क्रियाएँ करते हैं।[31]

कषाय

धन-सम्पत्ति चपला-सी चंचल है, दावानल-सी तृष्णा को बढ़ाने वाली है, कुलटा-सी डोलती है, बन्धु विरोधिनी, छलकारिणी और कषायवर्धिणी है।[32] क्रोधादिक कषाय भी इसी तरह चेतन को दुर्गति में ले जाने वाले होते हैं। क्रोध, भ्रम, भय, चिन्ता आदि को बढ़ाने वाला, सर्प के समान भयंकर, विषवृक्ष के समान जीवन हरण करने वाला, कलहकारी, यशहारी और धर्ममार्गविध्वंसक है।[33]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माया कुमति-गुफा है, जहाँ बध-बुद्धि की धूमरेखा और कोप का दावानल उठता रहता है। मानी मदान्ध गज के समान रहता है।[34]

माया चेतन के शुभ भावों को प्रच्छन्न कर देती है। वह कुशलजनों के लिए बाँझ और सत्यहारिणी है।[35] भूधरदास ने उसे ठगनी कहा है।[36] आनन्दधन भी माया को महाठगनी कहते हैं।[37]

बनारसीदास ने सभी पापों का मूल लोभ को, दु:ख का मूल स्नेह को और व्याधि का मूल अजीर्ण को बताया है।[38] शाश्वत सुख की प्राप्ति में क्रोध, मान, माया, लोभादि विकास कषाय सर्वाधिक बाधक तत्त्व हैं जो आत्मा को संसार-सागर में भटकाते रहते हैं।

मोह

अष्टकर्मों में प्रबलतम कर्म है मोहनीय, उसी के कारण जीव संसार में भटकता रहता है। धन की तृषा-तृप्ति और वनिता की प्रीति में वह धर्म से विमुख हो जाता है। अपने इन्द्रिय-सुख के लिए सभी तरह के अच्छे-बुरे साधन अपनाता है। ऐसे व्यक्ति की मोह-निद्रा इतनी तीव्र होती है कि जगाने पर भी वह जागता नहीं।[39] वह मिथ्यावश मेरा-मेरा की ही रट लगाता रहता है। मोह के कारण ही जीव अनन्तकाल तक घूमता रहता है। राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयवासना आदि विकारों में मग्न रहा। उनके कारण दु:खों को भी भोगता रहा पर कभी सुख नहीं पाया।[40]

मोह से ही मिथ्यात्व पनपता है। देषो चतुराई मोह कारक जगतें, प्राणी सब राषे भ्रम सानिकै।[41] जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता, मोह नष्ट नहीं हो सकता। यशपाल का मोहपराजय, वादिचन्द सूरि का ज्ञान सूर्योदय, हरदेव का मयण-पराजय-चरिउ, नागदेव का मदन पराजय चरित और पाहल का मनक रहररास विशेष उल्लेखनीय हैं। बनारसीदास का मोह विवेक युद्ध इन्हीं से प्रभावित है। अचलकीर्ति को माया, मोहादि के कारण संसारसागर कैसे पार किया जाए, यह चिन्ता हो गई। मनरूपी हाथी आठ मदों से उन्मत्त हो गया।

बाह्याडम्बर

जैन साधकों ने धार्मिक बाह्याडम्बर को रहस्यभावना में बाधक माना है। बाह्य क्रियाओं से आत्महित नहीं होता इसलिए उसकी गणना बन्धपद्धति में की गई है। बाह्य क्रिया मोह-महाराजा का निवास है, अज्ञान भाव रूप राक्षस का नगर है। कर्म और शरीर आदि पुद्गलों की मूर्ति है। साक्षात माया से लिपटी मिश्री भरी छुरी है। उसी के जाल में चिदानन्द आत्मा फँसती जाती है। उससे ज्ञान-सूर्य का प्रकाश छिप जाता है। अत: बाह्य क्रिया से जीव धर्म का कर्ता होता है। निश्चय स्वरूप से देखो तो क्रिया सदैव दु:खदायी होती है।[42] सच तो यह है कि तत्वज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।[43] मिथ्याभ्रम से देह के पवित्र हो जाने से आत्मा को पवित्र मान लेते हैं। कुलाचार को ही जैन धर्म कह देते हैं, पुण्य-पाप कर्म के चक्कर में अनाज के स्थान पर कन्दमूल खा लेते हैं। मूँड को मुड़ाकर, देह को जलाकर ही धर्म मानते हैं। शास्त्र का प्रवचन करते हुए भी शास्त्र को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं समझते।[44] कान फाड़कर योगी बन जाते हैं, कन्धे पर झोली लटका कर तृष्णा का विनाश नहीं करते तो ऐसे ढोंगी योगी बनने का कोई फल नहीं। यति हुआ पर इन्द्रियों पर विजय नहीं पाई, पाँचों भूतों को मारा नहीं, जीव-अजीव को समझा नहीं, वेष लेकर भी पराजित हुआ, वेद पढ़कर ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाए पर ब्रह्मदशा का ज्ञान नहीं। आत्मतत्त्व को समझा नहीं तो उसका क्या तात्पर्य?

वेद पढ़े अरू बरामन कहावै, ब्रह्म दसा नहीं पाया है।
आत्म तत्त्व का अर्थ न समज्या, पोथी का जनम गुमाया है।[45]

शिथिचार और बाह्य क्रियाओं को सभी जैन हिन्दी कवियों ने व्यर्थ बताकर अन्तरंग शुद्धि पर बल दिया। दौलतराम ने आश्रित बाह्यक्रियाओं को मोक्ष की विफलता का कारण माना है इसलिए कहते हैं—

आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे।
निज-निंवेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे।[46]

मन की चंचलता

रहस्यभावना की साधना का केन्द्र मन है। उसकी गति चूँकि तीव्रतम है इसलिए उसे वश में करना साधक के लिए आवश्यक हो जाता है। मन शैथिल्य साधना को डगमगाने में पर्याप्त होता है। इसी कारण जैन साधना में मन को वश में करने की बात कही है। यह एक मनौवैज्ञानिक तथ्य है।

बनारसीदास ने मन को जहाज का रूपक देकर मन के स्वभाव को अधिक स्पष्ट किया है—

चेतन रूप स्वामी के जागने पर भँवर का प्रकोप कम हो जाता है—

जब चेतन मालिक जगै, लखै विपाक नतूम।
डारै समता श्रृंखला, थकै भ्रमर की धूम।[47]

जगजीवन का मन धर्म का मर्म नहीं पहचान सका।[48] जगतराम का मन भी बस में नहीं होता क्योंकि असाता कर्मों ने उसे खूब झकझोरा है इसलिए वह शिथिल और मुरझा-सा गया है। साता कर्मों का उदय आते ही वह हर्षित हो जाता है।[49] भैया भगवतीदास को जब ज्ञान का आभास होता है तो वह कह उठते हैं, रे मूढ मन तू चेतन को भूलकर इस परछाया में कहाँ भटक गए हो? इसमें तेरा कोई स्वरूप नहीं। यह तो मात्र व्याधि का घर है। तेरा स्वरूप तो सदा सम्यक् गुण रहा है और शेष माया रूप भ्रम है। इस अनुपम रूप को देखते ही सिद्ध स्वरूप प्राप्त हो जाएगा।[50]

भूधरदास कवि ने मन को सुआ और जिनचरण को पिंजरा का रूपक देकर सुआ को पिंजरे में बैठने की सलाह दी है और अनेक उपमाओं के साथ कर्मों से मुक्त हो जाने का आग्रह किया।[51] दौलतराम ने भी मन को परख कर कहा—रे मन, तेरी तो कुटेव यह। करम-विषय में धावै है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैनेतर आचार्यों की तरह हिन्दी के जैनचार्यों ने भी मन को करहा की उपमा दी है क्योंकि उसी के कारण उसे संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाने पड़े।

मन करहा भव बनिमा, चरइ, तदि विष वेल्लरी बहूत।
तहँ चरँतहँ बहु दुखु पाइयउ, तब जानहु गौ मीत।

इस विषय-वासना में शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होती। यह शीलरूपी वन को तहस-नहस कर देता है। भगवतीदास ने मन को सबसे अधिक प्रबल माना। मन को ध्यान में केन्द्रित करते ही इन्द्रियाँ निराश हो जाती हैं और आत्म ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है।

मन सो बलि न दूसरो, देख्यो इहिं संसार।
तीनलोक में फिरत ही, जतन लागै बार॥ 4॥[52]

द्यानतराय ने मन को सन्तोष धारण करने को कहा है और उसी को सबसे बड़ा धन मानते हैं।

उक्त बाधक-तत्त्वों के कारण साधक साधना पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। कभी वह सांसारिक विषय-वासनाओं को असली सुख मानकर उसी में उलझ जाता है, कभी शरीर से ममत्व रखने के कारण उसी की चिन्ता में लीन रहता है, कभी कर्मों के आश्रव आने और शुभ-अशुभ कर्मजाल में फँसने के कारण आत्म-कल्याण नहीं करता, कभी मिथ्यात्व, माया-मोह आदि के आवरण में लिप्त रहता है, कभी बाह्याडम्बरों को ही परमार्थ का साधन मानकर उन्हीं क्रिया-काण्डों में प्रवृत्त रहता है और कभी मन की चंचलता के फलस्वरूप उसका साधनारूपी जहाज डगमगाने लगता है जिससे रहस्य-साधना का पथ ओझल हो जाता है।

रहस्यभावना के साधक तत्त्व

(1) सद्गुरु
(2) नरभव दुर्बलता
(3) आत्म सम्बोधन
(4) आत्म चिन्तन
(5) आत्मा-परमात्मा
(6) आत्मा और पुद्गल
(7) चित्तशुद्धि
(8) भेदविज्ञान
(9) रत्नत्रय

बाह्यक्रियाओं से मुक्त होकर साधक का अन्त:करण शुद्ध होता है, स्व-घर विवेक रूप भेद विज्ञान को प्राप्त करता है और सम्यग्दर्शन और ज्ञानचरित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए साधना करता है। अभी तक साधक के लिए जो तत्त्व रहस्य बने थे, उसकी गुत्थी धीरे-धीरे रहस्यभावना और रहस्यतत्त्वों के माध्यम से सुलझने लगती है। वह कषाय, लेश्या आदि को पार करता हुआ महाव्रतों का अनुपालन कर गुणस्थानों के माध्यम से क्रमशः निर्वाणप्राप्ति की ओर अभिमुख हो जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सद्‌गुरु

जैन साधना में सद्‌गुरु प्राप्ति का विशेष महत्त्व है। साधना में सद्‌गुरु का स्थान वही है जो अर्हन्त का है। जैन साधकों ने अर्हन्त-तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधु को सद्‌गुरु मानकर उनकी उपासना, स्तुति और भक्ति की है।[53] गुरु के प्रसाद की उपलब्धि से शाश्वत सुख प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं होती। सद्‌गुरु की कृपा से मिथ्यांत्व का विनाश होता है, सुगति-दुर्गति के विधायक कर्मों के विधि-निषेध का ज्ञान होता है, पुण्य-पाप का अर्थ समझ में आता है, संसार-सागर को पार करने के लिए सद्‌गुरु वस्तुतः एक जहाज है। उसकी समानता संसार में और कोई भी नहीं कर सकता—

मिथ्यात्व दलन सिद्धान्त साधक, मुकतिमारग जानिए।
करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये॥
संसार सागर तरन तारन, गुरु जहाज विशेखिये।
जगमाँहि गुरुसम कह 'बनारसि' और कोउ न पेखिये॥[54]

कवि का गुरु अनन्तगुणी, निराबाधी, निरूपाधि, अविनाशी, चिदानन्दमय और ब्रह्मसमाधिमय है। उनका ज्ञान दिन में सूर्य का प्रकाश और रात्रि में चन्द्र का प्रकाश है।

पाण्डे हेमराज का गुरु दीपक के समान है, जो तम-नाशक और वैरागी है। रूपचन्द की दृष्टि में गुरु-कृपा के बिना भवसागर से पार नहीं हुआ जा सकता है। ब्रह्मदीप उसकी ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के लिए आतुर दिखाई देते हैं।

कहै ब्रह्मदीप सजन समुझाई करि जोति में जोति मिलावें।[55]

दौलतराम जैन गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए चिन्तित दिखाई देते हैं कि उन्हें वैसा गुरु कब मिलेगा जो कंचन-कांच में और निन्दक-वन्दक में समताभावी हो, वीतरागी हो, दुर्धर तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, संयमी हो। ऐसे ही गुरु भवसागर को पार करा सकते हैं—

कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक-बन्दक सारा हो
दुर्धर तप तपि सम्यक् निजधर मन वचन कर धारा हो॥[56]

त्रिभुवन में दीपक के समान प्रकाश करने वाला गुरु ही है। वह संसारसागर से पार लगाने वाला जहाज है। विशुद्ध मन से उसके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए।[57]

भूधरदास को श्रीगुरु के उपदेश अनुपम लगते हैं—

सुन ज्ञानी प्राणी, श्री गुरु सीख सयानी।

इस प्रकार सद्‌गुरु और उसकी दिव्य वाणी का महत्त्व रहस्य-साधना की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सद्‌गुरु के प्रसाद से ही सरस्वती और एकचित्तता की प्राप्ति होती है। ब्रह्ममिलन का मार्ग यही सुझाता है। परमात्मा से साक्षात्कार कराने में सद्‌गुरु का विशेष योगदान रहता है। माया का आच्छन्न आवरण उसी के उपदेश और सत्संगति से दूर हो पाता है। फलतः आत्मा विशुद्ध बन जाती है। उसी विशुद्ध आत्मा को पूज्यपाद ने निश्चयनय की दृष्टि से सद्‌गुरु कहा है।[58]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नरभव दुर्लभता

मन की चंचलता से दु:खित होकर रूपचन्द कह उठते हैं—'मन मानहि किन समझायो रे।' यह नरभव-रत्न अथक प्रयत्न करने पर सत्कर्मों के कारण प्राप्त हो सका है। पर उसे हम विषय-वासनादि विकार-भाव रूप कांचमणि से बदल रहे हैं।[59] द्यानतराय ने—'नहि ऐसो जनम बारम्बार' कहकर यही बात कही है। उनके अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नहीं बनाता तो 'अन्ध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गँवार' वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जाएगी।[60] यह नरभव मुक्तिमहल की सीढ़ी है, संसार-सागर से पार कराने वाला तट है फिर क्यों इसे व्यर्थ खो रहा है। कवि विषयासक्त की आहट को पहचानते हैं—

अरे हाँ तैं तो सुधरी बहुत विगारी।
ये गति मुक्ति महल की पौरी पाय रहत क्यों पिछारी।[61]

भूधरदास सचेत होकर नरभव की सफलता की बात कहते हैं।[62] नरभव दुर्लभता के चिन्तन के साथ ही साधक का मन संसार और शरीर की नश्वरता पर ही टिक जाता है। अत: यही समझना चाहिए कि सांसारिक सुख वस्तुत: वास्तविक सुख नहीं, बल्कि सुखाभास है। नरभव दुर्लभता का चिन्तन इस चिन्तन को और आगे बढ़ा देता है।

आत्म सम्बोधन

नरभव दुर्लभता, शरीर आदि विषयों पर चिन्तन करने के साथ ही साधक अपने चेतन को आत्मसम्बोधन से सन्मार्ग पर लगाने की प्रेरणा देता है। इससे असद्वृत्तियाँ मन्द हो जाती हैं और साध्य की ओर भी एकाग्रता बढ़ जाती है। साधक स्वयं आगे आता है और संसार के पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि पर सोचता है।

यह चेतन संसारी जीवात्मा बार-बार मोह में फँस जाता है इसलिए कवि बनारसीदास उसे सम्भालने को कहते हैं।

चेतन तोहिन नेक संसार,
नख शिख लों दृढ़ बन्धन बैठे कौन निखार[63]

संसारी जीव को भौंदू कहकर सम्बोधित किया।[64] दौलतराम ने इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा—'मान ले या सिख मोरी, झुकैमत भोगन ओरी।' उन्होंने भोगवासना को भुजंग के शरीर (भोग) के समान बताया है जो देखने में तो सुन्दर लगता है पर स्पर्श करते ही डस लेता है और मर्मान्तक पीड़ा का कारण बनता है।[65]

द्यानतराय ने जीव के मिथ्याज्ञान के विषय में कहा—'जानत क्यों नहीं हे नर आत्म ज्ञानी।' परन्तु माया-मोह के चक्कर में पड़कर स्वयं की शक्ति को भूल जाता है। जीव को तो सोहं छोड़कर अजपाजप में लग जाना चाहिए।[66]

भैया भगवतीदास आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए चेतन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—रे मूढ़, आत्मा को पहिचान। वह न ज्ञान में है और न ध्यान में है, न वह मरता है और न उत्पन्न होता है, न राव है न रंक। वह तो ज्ञान निधान है। आत्मप्रकाश करता है और अष्टकर्मों का नाश करता है।[67]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साधक आत्मसम्बोधन के माध्यम से अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप करता है, जिसे रहस्य-भावना की एक विशिष्ट सीढ़ी कही जा सकती है। उसकी यही मानसिक जागरूकता उसे साधना-पथ से विमुख नहीं होने देती। चित्त विशुद्ध हो जाने से सांसारिक आसक्ति कोसों दूर हो जाती है। फलतः वह आत्मचिन्तन में अधिक सघनता के साथ जुट जाता है।

आत्मचिन्तन

जैन दर्शन में सप्त तत्त्वों में जीव अथवा आत्मा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वहाँ जीव के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है—संसारी और मुक्त। ये आत्मा या परमात्मा के ही पर्याय कहे गए हैं। जीव के चिदानन्द, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबद्धस, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवन्त, प्राणवन्त, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कुलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय अक्षर, परमवियोगी आदि नामों का प्रयोग किया गया है और परमात्मा के लिए परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वन्द्व, मुक्त, मुकुन्द, अम्लान, निराबाध, निराकार, सुज्ञान, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान आदि नाम दिए जाते हैं।[68]

जैन दर्शन वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप पर विचार करने के लिए नय-प्रणाली का उपयोग करता है। तदनुसार वस्तु के मूल अथवा शुद्ध स्वरूप को निश्चय-नय और अशुद्ध स्वरूप को व्यवहारनय के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव की निष्कर्मावस्था पर शुद्ध अथवा निश्चय-नय से सकर्मावस्था पर अशुद्ध व्यवहारनय से विचार किया जाता है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में साधकों ने इन दोनों प्रणालियों को यथासमय अपनाया। शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपना भाव ही ज्ञान है उसी से माया-मोहादि दूर हो जाते हैं और सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द
चीततो मूको माया मोह गेह देखिए॥[69]

आत्मा का मूल गुण ज्ञान है। वह कर्मों के प्रभाव से प्रच्छन्न भले ही हो जाए पर लुप्त नहीं होता। जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि में अनेक रूप धारण करता है फिर भी वह अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता।[70] जीव की यह शुद्धावस्था, चैतन्य रूप है, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त शक्ति सहित है, अमूर्तिक है, शिव है, अखण्डित है सर्वव्यापी है।[71]

निहालचन्द ने भी सिद्ध रूप निर्गुण ब्रह्म को ओंकार रूप मानकर स्मृति की है। उन्हें वह रूप अगम, अगोचर, अलख, परमेश्वर, परमज्योति दिखा—

आदि ओंकार आप परमेश्वर परमजोति
अगम अगोचर अलख रूप गायौ है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह ओंकार रूप सिद्धों को सिद्धि, सन्तों को ऋद्धि, महन्तों को महिमा, योगियों को योग, देवों और मुनियों को मुक्ति तथा भोगियों को भुक्ति प्रदान करता है। वह चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान है। इसके समान दूसरा कोई मन्त्र नहीं है।

आत्मा एक स्थिति पर पहुँच कर सगुण और बाद में निर्गुण रूप हो जाती है।[72] आचार्य योगीन्द्र ने इन्हीं को क्रमशः सफल और निफल की संज्ञा दी है।[74] सफल का अर्थ है अर्हन्त और निफल का अर्थ है सिद्ध। एक साकार है और दूसरा निराकार।[75] अर्हन्त के चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शेष चार अघातिया कर्मों के नष्ट होने तक संसार में सशरीर रहना पड़ता है। पर अर्हन्त आठों कर्मों का नाश कर चुकते हैं और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। उन्हीं को सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी कहा गया है। हिन्दी के जैन कवियों ने सिद्ध को ही ब्रह्म कहा है।[76]

हीरानन्द मुकीम ने आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को अलख अगोचर बताया तथा आत्मतत्त्व के अनुपम रूप को प्राप्त करने का उपदेश दिया।[77]

आत्मा-परमात्मा

आत्मा की विशुद्धतम अवस्था परमात्मा है। भैया भगवतीदास ने चेतन कर्म चरित्र में जीव के समूचे तत्त्वों के रूप में इस पर प्रकाश डाला है। वह एक ही ब्रह्म है जिसके असंख्य प्रदेश हैं, अनन्त गुण हैं, चेतन हैं, अनन्त दर्शन-ज्ञान, सुख-वीर्यवान है, सिद्ध है, अजर-अमर है, निर्विकार है, इसी को परमात्मा कहा गया है।[78] उसका स्वभाव ज्ञान दर्शन है और राग-द्वेष, मोहादि विभाव आत्म परिणतियाँ हैं।[79] आत्मा और परमात्मा में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर मात्र इतना है कि 'मोह मेल दृढ़ लगि रहयो तातैं सूझै नाहिं।' शुद्धात्मा को ही परमेश्वर, परमगुरु, परमज्योति, जगदीश और परम कहा है।[80]

चित्तशुद्धि

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण का शुद्ध होना आवश्यक है। जो बाह्यलिंग से युक्त है किन्तु अभ्यन्तर लिंग से रहित है वह फलतः आत्मपथ से भ्रष्ट और मोक्षपथ का विनाशक है।[81] क्योंकि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्य-लिंग कभी भी परमार्थ प्राप्ति में कारणभूत नहीं होता। शुद्ध भाव ही गुण-दोष का कारण होता है।[82] बाह्य क्रिया से आत्महित नहीं होता इसलिए उनकी गणना बन्धपद्धति में की गई है। वह महादुःखदायी है। योगीन्दुमुनि और मुनिराम सिंह जैसे रहस्य साधकों ने कबीर से पूर्व बाह्य क्रियाएँ करने वाले योगियों को फटकारा है और अपनी आत्मा को धोखा देने वाले कहा है। चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।[83]

बनारसीदास ने अनुसार 'स्व-पर विवेक के जाग्रत न होने पर सारी क्रियाएँ आत्मशुद्धि बिना मिथ्या हैं, निरर्थक हैं।'[84]

यह चित्तविशुद्धि आत्मलोचनगर्भित होती है। आत्मालोचन के बिना साधक आत्मविकास की ओर सफलतापूर्वक पग नहीं बढ़ पाता। आत्मालोचन और आत्माशोधन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परस्पर गुँथे हुए हैं। जैन कवियों ने इन दोनों क्षेत्रों में सहजता और सरलतापूर्वक आत्म दोषों को प्रकट कर चित्त विशुद्धि की ओर कदम बढ़ाए हैं।

सम्यग्दृष्टि ही भेदविज्ञानी होता है। उसे भेदविज्ञान सांसारिक पदार्थों से ऐसे पृथक कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण को किट्टिका आदि से भिन्न कर देती है।[85] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते हैं—'प्रभु मोकौं अब सुप्रभात भयो।' वह मिथ्याभ्रम, मोहनिद्रा, क्रोधादिक कषाय, काम विकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[86]

भेदविज्ञान

भेदविज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है। अन्य पक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्दकन्द अमन्द मूर्ति में मन रमण करने लगता है।[87] इसलिए भेदविज्ञान को 'हिये की आँखें' कहा गया है। जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[88] जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथकण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदन-शक्ति से जीव और पुद्‌गल को जुदा-जुदा करता है। बाद में यह भेदविज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात केवल ज्ञान स्वरूप हो जाता है जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।[89]

भेदविज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है। इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को, प्रभाव को प्राप्त कर लेता है। पीताम्बर ने ज्ञानवावनी में इसी तथ्य को काव्यात्मक ढंग से बहुत स्पष्ट किया है।[90] बनारसीदास ने इसी को कामनाशिनी, पुण्य- पापताहरनी, रामरमणी, विवेकसिंहचरनी, सहज रूपा, जगमाता रूप सुमति देवी कहा है।[91]

स्वपर-विवेक रूप यह भेदविज्ञान साधक के मन में संसार और पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है और उससे सम्बद्ध रागादिक विकारों को दूर करने में सहायक होता है। उसके मन में रहस्य-भावना की प्राप्ति और उसकी साधना के प्रति आत्मविश्वास बढ़ जाता है और फलतः वह रत्नत्रय की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

रत्नत्रय

रत्नत्रय का तात्पर्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का समन्वित रूप है। इन तीनों की प्राप्ति ही मुक्ति का मार्ग है।[92] यह मार्ग भेदविज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। सम्यग्ज्ञानी वही है जिसे आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो, परमार्थ से सही प्रेम हो, सत्यवादी और निर्विरोधी हो, परपदार्थों में आसक्ति न हो, अपने ही हृदय में आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि और आत्मगुणों की वृद्धि प्रकट दिखती हो तथा आत्मीय सुख से आनन्दित हो।[93] इसी से आत्मस्वरूप की पहचान होती है और साधक समझ लेता है—'अब ग्यानकला जागी भरम की दृष्टिभागी, अपनी परायी सब सौंज पहिचानी है।'[94] ज्ञानरूपी दीपक से उसका मोहरूपी महान्धकार नष्ट हो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाता है। उस दीपक में किंचित भी धुँआ नहीं रहता, हवा के झकोरों से बुझता नहीं, एक क्षण भर में कर्मपतंगों को जला देता है, बत्ती का भोग नहीं, घृत-तेलादि की भी आवश्यकता नहीं, आँच नहीं, राग की लालिमा नहीं। उसमें तो समता, समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं, निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग जाग्रत हो जाते हैं।[95] कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप, प्रभुता ये आठ मद दूर हो जाते हैं। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक और कुधर्मसेवक—ये छह अनायतन, कुगुरुसेवा, कुदेवसेवा और कुधर्मसेवा ये तीन मूढताएँ सम्यक्त्वी के दूर हो जाती हैं।[96] इस प्रकार इस स्थिति में आते-आते साधक का चित्त मिथ्यात्व की ओर से पूर्णतः दूर हट जाता है तथा भेदविज्ञान में स्थिरता लाने के लिए साधक तप और वैराग्य के माध्यम से परमार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए क्रमशः शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी बन जाता है। अभी तक साधक के लिए जो तत्त्व रहस्य बना था उसकी गुत्थी धीरे-धीरे रहस्यभावना और रहस्य तत्त्वों के माध्यम से सुलझने लगती है। वह कषाय, लेश्या आदि मार्गों से मुक्त होकर महाव्रतों का अनुपालन कर गुणस्थानों के माध्यम से क्रमशः निर्वाण प्राप्ति की ओर अभिमुख हो जाता है।

1. *हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि*, पृ० 5
2. *बनारसी विलास*, परमार्थ हिण्डोलना, पृ० 5
3. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 36-37
4. *वही*, पृ० 111
5. *ब्रह्मविलास*, शत अष्टोत्तरी, 98, 101
6. *वही*, पृ० 101
7. *ब्रह्मविलास*, पुण्यपाप जगमूल पच्चीसी, पृ० 18
8. *अध्यात्म पदावलि*, पृ० 359
9. *Heart of Hindustan (भारत की अन्तरात्मा)*, अनुवादक—विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, 1953, पृ० 65
10. *वैयाकरण भूषणसार*, 106
11. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 77
12. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 102
13. *वही*, पृ० 130, 133
14. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 211
15. *ब्रह्मविलास*, सुपथ कुपथ पचीसिका, 10, पृ० 181
16. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 157
17. *जैनशतक*, भूधरदास, 32-33, छहढाला-बुधजन प्रथम ढाल
18. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 239, 194, 252, 211
19. *हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि*, पृ० 128
20. *वही*, पृ० 163, मन्दिर ठोलियान, जयपुर का गुटका
21. *जैन भक्तिकाव्य और कवि*, पृ० 295
22. *हिन्दी पद संग्रह*, पृ० 152

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

23. *हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि,* पृ० 105, उदरगीत, दीवान बधीचन्द्रजी का मन्दिर, जयपुर, गुटका नं० 27, वैष्टन नं० 973
24. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 158, बनारसी विलास
25. *अध्यात्म पदावली,* पद 4, पृ० 340
26. *बुद्धजनविलास,* पद 116
27. *बनारसी विलास,* ज्ञानवावनी, 5, नाटक समयसार, उत्थानिका, 9, भूधन विलास पद 9
28. *ब्रह्मविलास,* अनादि बत्तीसिका, पृ० 220
29. *नाटक समयसार,* पृ० 96
30. *अध्यात्म पदावलि,* पृ० 360
31. *छहढाला,* दौलतराम, द्वितीय ढाल, मनमोदक पंचशती, 106-8
32. *बनारसी विलास,* भाषा सूक्तावली, 73-76
33. *वही,* 45
34. *वही,* 51
35. *वही,* 53-56
36. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 154
37. *आनन्दधन बहोत्तरी,* पद 98
38. *ब्रह्मविलास,* भाषा सूक्तावली, 19, पृ० 205, ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, 11, पृ० 4
39. *हिन्दी पद संग्रह,* पं० रूपचन्द्र, पृ० 31
40. *ब्रह्मविलास,* परमार्थपद पंक्ति 15, माझा, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति।
41. *मनराम विलास,* मनराम, 63, ठोलियों का दिजैन मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं० 395
42. *नाटक समयसार,* सर्वविशुद्विद्वार, 96-97
43. *ब्रह्मविलास,* शत अष्टोत्तरी, 11, पृ० 10
44. *ब्रह्मविलास,* सुपन्थ कुपन्थ पचीसिका, 11, पृ० 182
45. रूपचन्द, स्फुटपद् 2-6, *अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद,* पृ० 184. अभय जैन ग्रन्थालय, वीकानेर की हस्तलिखित प्रति।
46. *हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि,* पृ० 332
47. *बनारसी विलास,* पृ० 152, 53
48. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 82
49. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 95
50. *ब्रह्मविलास,* शत अष्टोत्तरी, 47
51. *भूधर विलास,* पद 5
52. *ब्रह्मविलास,* पृ० 262
53. *बनारसीविलास,* पंचपद विधान
54. *बनारसीविलास,* पृ० 24
55. *मनकरहारास,* आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति
56. *दौलत विलास,* पद 72
57. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 126-127, 133
58. *समाधितन्त्र,* 75
59. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 34
60. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 116

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

61. *बुधजन विलास,* पद 26
62. *भूधर विलास,* पद 46
63. *बनारसी विलास,* अध्यात्म पद पंक्ति 12
64. *वही,* 18, पृ० 234-35
65. *अध्यात्म पदावली,* पृ० 340
66. सोहं-सोहं होत नित, सोंस उसास मंझार।
ताकौ अरथ विचाररिए, तीन लोक में सार। *धर्मविलास,* पृ० 65
67. *ब्रह्मविलास,* पुण्यपचीसिका, 13, 23
68. *नाटक समयसार,* उत्थानिका, 36-37, नाममाला भी देखिए
69. तत्वसार दूँहा-भट्टारक शुभचन्द्र, 91, *हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि,* पृ० 78
70. *नाटक समयसार,* जीवद्वार, 9
71. *नाटक समयसार,* उत्थानिका, 20
72. *बनारसी शिवपच्चीसी,* 7, पृ० 150
73. *परमात्मप्रकाश,* 1-25, पृ० 32
74. *नाटक समयसार,* मोक्षदार, 10
75. बनारसीदास, नाममाला, *ब्रह्मविलास,* ईश के नाम सिद्धचतुर्दशी, 1-3
76. *अध्यात्मवावनी,* गुर्जर कवियों, प्रथम भाग, पृ० 466-67
77. एकहि ब्रह्म असंख्य प्रदेश। गुण अनन्त चेतनता भेष॥ शक्ति अनन्त लसै जिस माहिं। जासम और दूसरौ नाहिं॥ 2॥ परका परस रंच नहिं जहाँ।
78. *ब्रह्मविलास,* मिथ्यात्व विध्वंस न चतुर्दशी, जयमाल, पृ० 104
79. *वही,* परमात्मा छत्तीसी, 9, पृ० 228
80. *वही,* ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, 1, पृ० 252, परमात्मशतक, पृ० 278-291
81. *मोक्ख पाहुड़,* 61
82. *भाव पाहुड़,* 2
83. *पाहुड़ दोहा,* 135, परमात्म प्रकाश, 2.70
84. *बनारसी विलास,* मोक्षपैड़ी, 8, पृ० 132
85. *नाटक समयसार,* जीवद्वार, 23
86. *हिन्दी पद संग्रह,* पृ० 36
87. *वही,* पृ० 36-37
88. *वही,* बनारसीदास, पृ० 59
89. *नाटक समयसार,* अजीवद्वार, 14, पृ० 64
90. *बनारसी विलास,* ज्ञानवावनी, पृ० 72-90
91. *वही,* नवदुर्गा विधान, पृ० 7, पृ० 169-70
92. सम्यग्दर्शनज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्ग, तत्वार्थ सूत्र 1, 1
93. *नाटक समयसार,* उत्थानिका, 7, पृ० 7
94. *नाटक समयसार,* कर्ता कर्म द्वार, 28, पृ० 87
95. *नाटक समयसार,* निर्जराद्वार, 38, 60
96. *दौलतराम,* 3. 11-15

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

12

सूफी मत—प्रेम का पथ

मौलाना सूफी मोबारक करीम जावहर

लोग पूछते हैं कहाँ उसे पाएँ हम/धरती के किस टुकड़े को फाड़कर
किस किसम का कैसा गुम्बद बनाएँ हम कि वह वहीं कैद हो जाए,
कितनी ऊँचाई से किस भाषा में,
कितनी जोर से दें आवाज हम कि उसे सुनाई पड़ जाए
अजीब बात है, मछली तो पानी में है पर पानी की तलाश है उसे।

सूफी धर्म का निर्माण सभी धर्मों के सार को लेकर हुआ है। धर्म के जितने भी मत हैं वे सब सूफी मत में समाहित हैं। ईश्वर-प्राप्ति की जितनी पथ-धाराएँ हैं उन सबमें सूफी मत में गूढ़ रहस्य झलकता है। सूफी मत सर्वधर्म प्रकाश से आलोकित है।

सूफी मत के अनुसार मनुष्य सृष्टि का सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रमाण धर्म के द्वारा दिया जाता है। धर्म की स्थापना के लिए मानव-जाति का सृजन हुआ है। साधना के द्वारा मनुष्य के जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति होती है। मनुष्य अपने अस्तित्व एवं उसके उत्स को जानने के लिए लालायित रहता है। उसके अन्वेषणशील मन ने तसाउफ या सूफीवाद को जन्म दिया है। सूफी मत समन्वयवादी पन्थ को लेकर चला है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति एवं उसके साथ सामंजस्य सूफी मत की विशेषता है।

भारतवर्ष के सूफी ग्रन्थों में तसाउफ के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, विकास एवं उसके महत्त्व तथा उसकी धारणा के विषय में बताया गया है। धर्म की अनुभूति, जीवन की वास्तविक उपलब्धि, चेतना सभी सूफी साधकों के जीवन में प्रस्फुटित हुए हैं।

जीवन ही तसाउफ की उत्पत्ति का क्षेत्र है। इस बात को ध्यान में रखकर यदि सूफी साधकगण चेष्टा करें तो मानव-जीवन की श्रेष्ठता एवं पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। इसी के द्वारा अनीहा, अविश्वास, हताशा, समस्या, शहरी सभ्यता, विश्व धर्म की सत्यता एवं विज्ञान का मिलन हो सकता है। जिस साधक के मन में यह चरम सत्य बैठ जाएगा, उस दिन भारतीय सूफी मत के अनुरागी परम शान्ति पा सकेंगे। भारत की सूफी धारा की विशिष्टता एवं सूफी साधना के विषय में आगे प्रकाश डाला जा रहा है।

सूफी शब्द की उत्पत्ति के विषय में मतभेद है। अरबी भाषा में सूफी का अर्थ होता है पशम। महान नवी हजरत मोहम्मद पशमी कम्बल काम में लेते थे। मदीना की मस्जिद में रहने वाले उनके अनुयायी भी पशमी कम्बल पहनते थे। इसीलिए उन्हें आहूस मुफ्फा या सूफी कहा जाता था। कुछ लोगों का मत है कि साफा (पवित्रता) शब्द से सूफी शब्द की उत्पत्ति हुई है।

ग्रीक भाषा में सोफिया शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि सोफिया शब्द से सूफी शब्द की उत्पत्ति हुई है। सूफ शब्द का बहुवचन होता है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आसवाफ। यह शब्द पवित्र कुरान में आया है। भक्त अब्दुल्ला खाफिफ का अभिमत है कि अल्लाह जिसे प्यार करते हैं उसकी आत्मा को पवित्र करते हैं—पवित्र आत्मा वाले लोग ही सूफी होते हैं। अल्लाह ने महान मोहम्मद की आत्मा को पवित्र कर दिया था। अत: ये ही सूफी कुलतिलक हैं। ये मुस्तफा नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। कई बार अली अल्लाह एवं सूफी का एक ही अर्थ लगाया जाता है। अली अल्लाह अर्थात जो अल्लाह को सृष्टि में सबसे अधिक चाहते हैं एवं साथ ही समग्र सृष्टि को भी चाहते हैं। अल्लाह की इच्छा से जो अपना सर्वस्व त्याग कर उनके ऊपर पूरी तरह से निर्भर रहते हैं, अल्लाह के नाम पर जो जिन्दा होते हुए भी मृत रहते हैं, अल्लाह उन्हें प्यार करते हैं। वे ही अली उल्लाह (अल्लाह के मित्र) कहलाते हैं।

सूफी मत अल्लाह के प्रेम एवं ध्यान के ऊपर टिका है। सूफीवाद में धारणगत या विश्लेषणात्मक ज्ञान का कोई स्थान नहीं है, इसमें आत्मिक तत्वज्ञान होता है। सूफी की व्यक्ति चेतना प्रेम और ध्यान के माध्यम से असीम चेतना में प्रसारित होती है। परमसत्ता में अपनी व्यक्ति चेतना को समाप्त करके अल्लाह के निकट जाने के लिए सूफी सदा चेष्टा करते हैं। परम सत्य अल्लाह के विषय में ज्ञान प्राप्त करके, परमात्मा के साथ एकात्म होना ही सूफी का लक्ष्य होता है। धार्मिक अनुष्ठान, धर्मतत्व, दर्शन, विज्ञान सूफी मत में पूर्व शर्त होती है। दार्शनिक परम सत्य को जानना चाहते हैं और सूफी इस परम सत्य को पूर्ण हृदय से उपलब्ध करना चाहते हैं। अल्लाह के प्रेम में आकण्ठ डूब कर एकात्म हो मिलने के लिए सूफी सदैव व्यग्र रहते हैं।

दर्शन अल्लाताला के बारे में युक्ति एवं प्रमाण द्वारा ज्ञान दे सकता है परन्तु अल्लाह के करीब नहीं पहुँचा सकता है। विज्ञान भी अल्लाताला द्वारा बनाई गई वस्तुओं का पता लगा सकता है, वह अल्लाह के महात्म्य एवं उनकी महत्ता के बारे में ज्ञान दे सकता है किन्तु सम्पर्क को प्रगाढ़ नहीं कर सकता है। इसीलिए सूफी की दृष्टि में ज्ञान, दर्शन तथा विज्ञान का उतना महत्व नहीं होता। अल्लाह के निकट पहुँचकर परम शक्तिमय बनना ही उनका परम ध्येय होता है।

महिमामय अल्लाताला ने अपनी वाणी में घोषणा की है कि हे आदम सन्तान, मैं अल्लाह हूँ, मुझे छोड़कर अन्य कोई उपास्य नहीं है। मैं जो भी बनने के लिए कहता हूँ वह बन जाता है। तुम मेरे बनो तो मैं तुम्हें ऐसी शक्ति प्रदान करूँगा कि तुम भी जो चाहोगे वही कर पाओगे। उन्होंने दुनिया को सम्बोधित करके कहा—''हे दुनिया, जो मेरे सेवक हैं तुम उनके सेवक बन जाओ और जो तुम्हारी सेवा में रत रहते हैं उन्हें तुम अपनी सेवा में लगाकर हैरान रखो।''

अल्लाह की निकटता प्राप्त करने वाले आध्यात्मिक महापुरुष से शक्ति प्राप्त करते हैं। वे ही अल्लाताला के वास्तविक खलीफा (प्रतिनिधि) हैं। जैसे नवी एवं अनेक वली उली उल्लाह मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित करते हैं। वर्तमान समय में भी उली उल्लाह की यह करामात कहीं-कहीं दिखाई देती है। उली उल्लाह की इस करामात के सामने दार्शनिक, वैज्ञानिक, ज्ञानी सबसे शक्ति प्राप्त करते हैं। वे ही अल्लाताला की वास्तविक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ताकत होते हैं। सूफी मतानुसार उली उल्लाह सभी समस्याओं का समाधान एक पल में कर सकते हैं। इसे ही करामात (अलौकिक कार्य) कहते हैं। इनके बारे में उल्लाह कहते हैं, ''विश्वासीगण, अल्लाह के ऊपर निर्भर रहो, अल्लाह के प्रेम में आत्माहुति देकर सूफी उनकी इच्छा के सामने नत होकर रहते हैं। इन्हें यदि अक्षरज्ञान न हो, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक ज्ञान भी नहीं हो तो भी अल्लाह इन्हें अपनी प्रेमसुधा पान कराके इनकी तरफ़ से ज्ञानदान करते हैं—इसे 'इलमेलादुन्नी' कहते हैं। यह हजरत मोहम्मद का एक विशेष राज्य है।''

अल्लाह के प्रेमी को जगत की किसी भी वस्तु से मोह नहीं होता है। ये शरीयत के विधि-विधान को अपने प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करते हैं। अल्लाह इन्हें अपने ज्ञान से ज्ञानवान, गुण से गुणी एवं शक्ति से शक्तिवान कर देते हैं। अल्लाह का प्रेम ही सूफी की प्रधान सम्पत्ति होती है। सूफी मत का मूल है—नीति, प्रेम, ध्यान, मननशीलता तथा कामनाओं का नाश। जब इच्छामयी की इच्छा इनके मन में जगती है तो इनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं रहता है। अल्लाहताला की शक्ति से जिन्हें शक्ति मिलती है उनकी शक्ति साधारण लोगों की शक्ति से अधिक प्रवल होती है।

शरीयत, तरीकत, मारीफत एवं हकीकत ये एक-दूसरे के पर्याय हैं। सूफी साधक को इन्हें पार करके आगे बढ़ना होता है। शरीयत इस्लाम के प्रारम्भ के स्तर एवं अनुष्ठान आदि कार्यों तक सीमित रहता है। तरीकत शिक्षा देता है, प्रेम, प्रीति, त्याग, ध्यान, धैर्य अल्लाह एवं बन्दों के बीच सम्पर्क बनता है। हकीकत तक पहुँच कर साधक वास्तविक अनुभूति के माध्यम से सत्य तत्व एवं दिवादर्शन का लाभ प्राप्त करके अल्लाताला की इच्छा एवं सत्ता के माध्यम से अपनी सम्पूर्ण सत्ता उनमें विलीन कर देता है।

त्याग सूफियों की अमूल्य सम्पदा होती है। करामात किसी को थोड़ी बहुत करामाती का अधिकारी बनाता है और किसी को करामाती से पूरी तरह मुक्त रखता है। दान के लिए अपना परिचय देना या जनसाधारण का ध्यान अपनी तरफ आकृष्ट करने के लिए करामाती दिखाना अवैध माना जाता है। अतः उली उल्लाहों का परिचय पाना अत्यन्त कठिन होता है। साधना के अलावा इनके स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता है। महान अल्लाह ने कहा है—

''मेरे वली मेरे प्रेम के अधीन रहते हैं। उन्हें मेरे अलावा और कोई नहीं पहचान पाता। उली उल्लाहों के बाह्य सौन्दर्य के अलावा लोगों को और कुछ नहीं दिखाई देता है। इन्हें अल्लाह को छोड़कर और कुछ नहीं पता होता है। इनका भीतर का सौन्दर्य साधारण लोगों की दृष्टि में नहीं आता है—ये आत्मगोपन होकर रहना पसन्द करते हैं। इसलिए अल्लाताला के अलावा अन्य किसी को इनका वास्तविक परिचय नहीं मिल पाता है। वली उल्लाह अल्लाताला की इच्छा के सामने अपनी समस्त इच्छाओं को विलीन करके एकदम खाली हाथ हो जाते हैं। वली उल्लाह अल्लाताला की इच्छा के विरुद्ध कोई करामात (अलौकिक कार्य) नहीं दिखाते। यदि अनजाने में कुछ करामात हो जाए तो वे पश्चात्ताप करते हैं। पार्थिव एवं अपार्थिव सब प्रकार के मोह से मुक्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होकर, सारी करामात का त्याग करके अल्लाताला के प्रेम में डूबे रहना सर्वश्रेष्ठ करामात है।''

अल्लाताला अत्यन्त करुणामय हैं। वे मनुष्य की प्रार्थना, उसके आवेदन से बेचैन हो जाते हैं। तब ये मनुष्य को अपने निकट आने के लिए पीर (पथप्रदर्शक) के रूप में सामने आते हैं। अल्लाह की कृपा से मनुष्य मनन एवं विनम्र रोदन करता है और तभी साधक के मन में तत्वज्ञान का उदय होता है। उसका विवेक उसे सही रास्ते पर ले जाता है। उसका हृदय पारस पत्थर की सही पहचान करने में सक्षम हो जाता है जिसके स्पर्श-मात्र से सब कुछ स्वर्णमय हो जाता है।

'कौलूल जमिल' ग्रन्थ के 8वें अध्याय में लिखा है, ''जिसको देखते ही अल्लाह का स्मरण हो वही सूफी साधक होता है। वली उल्लाह के संसर्ग में आने से दुनिया की माया से मुक्ति मिल जाती है। परलोक की बात मन में जगती है। अल्लाताला के प्रेम से मन खिल उठता है। वली उल्लाह के अनुयायी अल्लाह के नाम के अलावा दुनिया की किसी भी बात से सम्बन्ध नहीं रखते हैं। सत्चरित्र, विनम्र स्वभाव, धैर्य, कृतज्ञता आदि को ये अपना आभूषण मानते हैं। दूसरों को देखकर ईर्ष्या करना, हिंसा, द्वेष, परनिन्दा, झूठ बोलना आदि से ये दूर रहते हैं। वली उल्लाह के लोगों में नवी रसूल का स्वभाव दिखाई देता है। ये नवी मोहम्मद के अनुरागी होते हैं। ये शरीयत एवं हकीकत के ज्ञान के पिपासु होते हैं। ये अपना भार दूसरों पर नहीं डालते वरन हमेशा स्वावलम्बी रहना चाहते हैं तथा निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा करना चाहते हैं। अल्लाताला के नूर से इनका दिल नूरान्वित होता है। यहाँ तक कि इस नूर से इनका चेहरा भी दमकता रहता है।''

अल्लाताला के प्रेमीजनों के मन में एक गुप्त संवाद चलता रहता है। ये सृष्टि समस्त भेदों को जानते हैं। पीर मुरीद की सम्पदा के ऊपर इनकी नजर जाती ही नहीं है। मुरीदों की सेवा भी इन्हें नहीं चाहिए अपितु निःस्वार्थ भाव से अल्लाह के प्रति मुरीदों के मन में प्रेम जगाकर उन्हें स्वर्ण के रूप में बदलने का प्रयत्न करते हैं। अल्लाताला के प्रेम के अलावा अन्य कोई भी स्वार्थ इनके लिए निषिद्ध होता है। अतः पीर मुरीदी के बारे में निःस्वार्थ होना बहुत जरूरी होता है।

गुरु या पीर

पीर के प्रति गम्भीर प्रेम व शिष्टाचार सूफी सम्प्रदाय की आत्मा की उन्नति के लिए प्रधान सम्पदा के रूप में रहता है। शाह सूफी मौलाना अहमद सरहिन्द मुजाद्दिद अलफेसानी की लिखी माकतुवत शरीफ के पहले खण्ड के 292वें पृष्ठ पर कहा गया है—

''जहाँ त्याग नहीं है वहाँ धर्म अधूरा है। सूफी साधक मैं को त्याग कर, मानवीय गुणों को छोड़कर अल्लाताला की गुणावली के वस्त्रों को पहनकर अल्लाह के गुणों से गुणी बन जाता है। फाना फिशशेख (पीर के प्रेम में आत्माहुति देना), फाना फिररसूल (रसउल्लाह के प्रेम में आत्माहुति देना), फाना फिल्लाह (अल्लाहताला के प्रेम में आत्माहुति देना) इन तीनों को पार करके सूफी को वाका विल्लाह (अल्लाह की सत्ता में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपनी सत्ता का विलय करके चिर स्थायित्व की प्राप्ति करना) के स्तर तक पहुँचना होता है। इन स्तरों को पार करने के लिए योग्य पथप्रदर्शक की आवश्यकता होती है अर्थात कमिलपीर का शिष्य बन जाना पड़ता है।''

सूफी मत के अनुसार सर्वधर्म के प्रति आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा का होना जरूरी होता है। सभी प्रकार के ज्ञान का साक्षात स्वरूप हैं हजरत मोहम्मद। दर्शन शास्त्र का लक्ष्य होता है अदृश्य शक्ति को जानना। विज्ञान के द्वारा अल्लाह का ज्ञान मिलता है। गम्भीर चिन्ता, तर्क, मनन, पवित्र जीवन बिताना इन सबके माध्यम से सत्ता तत्त्व का ज्ञान मिलता है, सभी प्रकार के सन्देह मिट जाते हैं और फिर प्रेम एवं साधना के द्वारा अल्लाताला का सान्निध्य प्राप्त करना ही सूफीवाद का चरम लक्ष्य है। अल्लाह-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान आवश्यक होता है उसी प्रकार प्रेम एवं प्रीति भी अत्यन्त आवश्यक होती है। जिस उपासना में अल्लाह के प्रति प्यार नहीं वह उपासना बेकार होती है। नमाज पढ़ना इस्लाम का प्रधान अनुष्ठानिक कार्य होता है। इसमें शरीयत, तरीकत, मारिफत एवं हकीकत मिले रहते हैं। इन्हीं के द्वारा मनुष्य का अल्लाताला के साथ मिलन होता है।

वर्तमान समय में अल्लाह की प्राप्ति के लिए बहुत से तरीके हैं, जिनमें कुछ तरीके पुरानी प्रथा को लेकर चलते हैं। यथा—कादिरिया, चिश्तीया, नक्शबन्दी एवं मुजाद्दिया आदि। 9वीं शताब्दी में वारेसिया तरीका बहुत प्रचलित था—20वीं शताब्दी में आहसानिया तरीका धीरे-धीरे फैलता गया। इन तरीकों में आध्यात्मिक साधना एवं मनन-चिन्तन धारा अलग-अलग होते हुए भी मूल उद्देश्य एक ही है। सभी तरीकों की शिक्षा से अल्लाताला का सामीप्य प्राप्त होता है।

तरीकत के मूल में है अल्लाह-प्राप्ति। हजरत मोहम्मद ने जिस तरीके से साधना की है और करने के लिए कहा है वही तरीकत के मूल में है। उनके शिष्यों एवं भक्तों की साधना-पद्धति परवर्ती काल में अनुकरणीय हो गई। मानवदेह से रुह एवं नफ्स का समावेश होता है। शरीर में कोई रोग हो जाने पर जिस प्रकार जानकार चिकित्सक के पास जाना पड़ता है, उनकी बताई दवाई खानी होती है, खान-पान में सावधानी बरतनी होती है, उसी प्रकार आत्मा के रोगग्रस्त होने पर आत्मा के रोग विशेषज्ञ के पास जाना आवश्यक होता है। आत्मा के रोग चिकित्सक हैं कामिल पीर या मुरशिद। ये तलकिन (दीक्षा) देकर नफ्स को बीमार होने से बचाते हैं, इसके साथ-साथ आत्मा की उन्नति किस प्रकार होगी इसका भी निर्देश देते हैं। इनका सान्निध्य एवं वाणी रुग्ण आत्मा के लिए दवा का काम करती है। जो मुरीद पीर का नायकत्व स्वीकार कर लेता है उसकी आत्मा कामिल पीर की देख-रेख में शनैः-शनैः विकास की ओर अग्रसर होती है। महान अल्लाह ने कहा है, ''जो रहमान (दयावान अल्लाह) के विषय में जानता है उसी से अल्लाह के विषय में जानकारी प्राप्त करो।'' उपयुक्त पीर से तलकिन (शिक्षा) ग्रहण करके अपनी जिह्वा से 'ला इलाहा इल्लालाह' कलमा पढ़कर इसका अभ्यास करो। यह अभ्यास धीरे-धीरे स्वभाव में बदल जाएगा। इसके बाद अन्तरात्मा की जिह्वा द्वारा उक्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कलमा पढ़ते-पढ़ते अमरत्व को प्राप्त करके अपने अस्तित्व को पहचानो। इसके द्वारा ही अल्लाह के निकट पहुँचा जा सकता है। विशिष्ट सूफियों का मत है, ''जो पीर की मजलिस में जाते हैं वे मानो अल्लाह की मजलिस का लाभ उठाते हैं। उली अल्लाहजनों का दिल हर समय अल्लाह के साथ लगा रहता है एवं गुप्त ध्यान इलाही में मग्न रहता है। केवल बाह्य ज्ञान के द्वारा अल्लाह को नहीं जाना जा सकता है।''

आत्मा के रोग चिकित्सक उली उल्लाह विभिन्न स्तरों पर बँटे हुए हैं। कयामत का इसमें विशेषरूप से उल्लेख किया जाता है। नवी लोग सार्वजनिक रूप से जन साधारण को अपना परिचय देते हैं एवं मुजिया प्रकट करना ये खराब नहीं मानते हैं। बर्बरता के इस युग में नदियों के आविर्भाव द्वारा मुजिया का प्रदर्शन नहीं किया जाता तो मनुष्य उनके प्रति न तो अपनी आस्था प्रकट करता और न ही धर्म का प्रचार होता।

सूफीमत का गुप्त पाठ

तुम मेरे लिए, मालामात सहते रहोगे तो मैं इकराम की हद कर दूँगा
मेरे लिए लुट जाओगे तो मैं रहमत के खजाने लुटा दूँगा
मेरे कूँचे में टिक जाओगे तो मैं तुझे आनमूल कर दूँगा
तुम मुझे रब मान लोगे तो मैं शबाब से बेनाब कर दूँगा
मेरे खौप में आँसू बहाओगे तो मैं भागचिरात का दरिया बहा दूँगा
अगर खुदा की लाज निभाओगे तो मैं आता की हद कर दूँगा
तुम अगर मेरे नाम की तामील करोगे तो मैं तरीम की इन्ताह कर दूँगा

पवित्र कुरान के कुछ महत्वपूर्ण विधि-नियमों एवं आदेशों को जीवन में समग्र रूप से उतारना सूफी साधकों का प्रधान लक्ष्य होता है। इनके समक्ष प्रेम ही प्रधान होता है। इनके मतानुसार अल्लाह प्रेममय है। सृष्टा एवं सृष्टि के बीच प्रेम का सेतु है। इनके मतानुसार प्रेम ही धर्म है। अल्लाह सबके प्रेमी हैं एवं हम सब उनके प्रेमी हैं। सूफी मतानुसार प्रेम एवं दया (रहमत) मूलत: एक ही अनुभूति के दो नाम हैं। सूफी साधक अल्लाह का प्रेम प्राप्त करके परम शक्तिशाली बन जाता है तथा इस प्रेम के लिए वह अपना सर्वस्व विसर्जन कर देता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रेम के लिए सूफी आत्मत्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं वह प्रेम क्या है? सत्ता एवं गुण का मिलन ही वह प्रेम होता है। अल्लाह की सत्ता असीम होती है जबकि मनुष्य की सत्ता सीमाबद्ध होती है। इस असीम एवं सीमाबद्धता का मिलनसेतु होता है प्रेम। सूफी साधक नाना विपत्तियों को पार करके, काँटों भरे मार्ग से निकल कर प्रेम सम्पदा की तरफ भागता है। कोई भी बन्धन उसे बाँध नहीं सकता। बाधाएँ जितनी अधिक होती हैं, प्रेम भी उतना ही गम्भीर होता है। पवित्र कुरान में अल्लाह ने कहा है, 'फिकबुल्लाह अकबर' अर्थात अल्लाह को स्मरण करना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। वे कहते हैं जो मुझे स्मरण करता है मैं भी उसे स्मरण करता हूँ। हजरत मोहम्मद ने कहा है, ''तुम अल्लाह के प्रेम में इतने उन्मुक्त हो जाओ कि लोग तुम्हें पागल कहने लगें।''

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूफियों की जीवनी रहस्यमयी होती है। कहानियों तथा किंवदन्तियों का समावेश इनके साथ-साथ चलता गया एवं लोगों का सूफीवाद के प्रति कौतूहल भी बढ़ता गया।

त्याग मन्त्र—सभी प्रकार की मौज-मस्ती और आराम को त्यागने में जो सक्षम होते हैं वे ही सूफी साधक होते हैं। सूफी साधकों का न तो कोई धर्म होता है न उनकी जाति होती है। ये सर्वसाधनों से शून्यरहित होते हैं। सूफी मन के व्यापारी कहलाते हैं। श्री कृष्ण व श्री राम के अवतार की तरह नवी रसूल के दल या सम्प्रदाय का महान नाम है सूफी। यहाँ सूफी का अर्थ है कलुषमुक्त ईश्वरीय प्रेम पुजारी। सूफी मत में ईश्वरीय प्रेम ही सब कुछ होता है। आन्तरिकता यहाँ अत्यन्त आवश्यक होती है। सूफी साधक चुपचाप, बिना ढिंढोरा पीटे मानव-कल्याण अथवा जीवमात्र की सेवा में अपने आपको उत्सर्ग कर देते हैं। सूफी साधना में सिद्ध पुरुष का आशीर्वाद, उनका सान्निध्य व उनकी दया-दृष्टि अत्यन्त आवश्यक होती है।

गर तू चाहता है पता ईश्वर का
उसकी तलाश कर जिसे अपनी खबर न हो।

सूफी साधना को स्थापित करने वालों का परिचय—जो कोई जिस भी धर्म को मानना चाहे माने परन्तु उस धर्म के पालन हेतु सजग दृष्टि रखनी होगी। इस दुनिया के शैतानों से, नफ्स या बुरी प्रवृत्ति से भी बचना होगा।

सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी की प्रसिद्ध कविता बशी वेदन याद आ जाती है—

वशूनों आज नये चू हिकायत मी कुनाद
अब जुदाईहा शिकायत मी कूनाद
कथनी स्तनि तामूरा बेचूरिदा आनद
आव नफीराम तामरा वेचूरिदा आनद
आव नफीराम सर्जवा खन नालिदा आनद

अर्थात

शुनलो सजनि, एकी कहानी शोनाय बॉशेर बॉसी
फरियादे तार फाटिया पड़िछे विरह वेदना राशि
काँदिया बेड़ाई झाड़ होते मोरे आनिलो काड़ि
आमार विधुर सुर मुरछने मुरछाय नरनारी।

सूफी मतानुसार अल्लाह का दास बनने या अनुयायी बनने में ही मनुष्यता का पूर्ण विकास होता है। अल्लाह का दास बनकर मनुष्य मोह आदि से मुक्त होकर अल्लाह की शरण में चले जाते हैं। सूफी साधना मनुष्य के स्वभाव को मानवजाति के विकास में पूरी तरह परिवर्तित कर देती है। मनुष्य की श्रेष्ठता एवं मर्यादा की प्रतिष्ठा ही सूफी साधना का प्रधान लक्ष्य है। भारत की पवित्र मिट्टी पर चिश्तिया तरिकत पन्थी पीर-फकीर के कल्याण हेतु ही सबसे पहले मार्मिक संगीत साधना ने साधक के मन में शुद्ध संगीत समझने की शक्ति दी।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूफी तत्त्व

आकार कि निराकार सेई रब्बाना
आहमद अहाद विचार हले जाय जाना
अहमद नामते देखी मीम हरफ लेखेन नवी
मीम गेले आहाद बाकी, अहमद नाम थाके ना

आत्मज्ञान का पथ अति दुर्गम होता है, वह उस्तरे की तरह तेज धारवाला होता है। किन्तु फिर भी यह मार्ग अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक होता है।

सॉई जीर लीला बूझबी खेपा केमन करे
लीलाते नाईरे सीमा कौन समय कौन रूप धरे
गोंसाई गंगा खेले गंगा जल हय
गोसाईं गर्ते गेले कूप जल हय

आध्यात्मिक जगत अथवा बाह्य जगत में जो कुछ भी है वह ईश्वरमय है। सभी उनके नाम को गाने में विभोर हो जाते हैं। इस स्तर पर पहुँच कर साधक का आत्मज्ञान शून्य हो जाता है। महर्षि मनसूर 'अनलहक' अथवा अहं ब्रह्मास्मि कहते रहते हैं। अन्त में ज्ञानमय के साथ मिलकर साधक का बाह्य ज्ञान विलुप्त हो जाता है।

हे मेरे विधाता

'आमार माझारे कूड़ाये तोमारे,जतटूक पेनू आमि। आनन्द विलाते, तब भक्त चित्ते, दिलाम हे अन्तर्यामी। जा तोमार दान, महा मूल्यवान, आधारे आधेरे तुमि। शिशिर कनाय, उई नभो गाय, तोमारि महिमा स्वामी। कुटीरेर कोने बशे निज मने, तब महा महिमाय। जीवन, मरने, शयने, स्वप्ने, धन्य करोगों आमाय।'

भगवत-महिमा का बखान करना, मूर्ख की वाचालता तथा पंगु का गिरि लंघन ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार भगवान के प्रेम में मनुष्य कंगाल हो जाता है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी अपने भक्त को नहीं भूल पाते हैं।

अल्लाह के वलियों को डरने की कोई जरूरत नहीं होती है। प्रभु जब भक्त की व्याकुल पुकार सुन कर भक्त के वश में हो जाते हैं तो भक्त उनसे कुछ भी नहीं माँग पाता है। उसकी वाणी रुद्ध हो जाती है, भाषा तरंगों में खो जाती है, नयनों से अश्रुधारा बहने लगती है। भगवान तब भक्त के हृदय की वाणी में प्रवेश कर अपनी महिमा का गायन करवा कर उसे आनन्द-सागर में डुबो देते हैं।

दर्पण में मैं और तुम—मैं भी वही हूँ जो तुम हो। भगवत-स्वरूप की अनुभूति करने के बाद जो अदम्य लालसा मेरे मन में जग उठती है उसे मैं प्रकाशित नहीं कर पाता हूँ। इसके लिए प्रभु मुझे क्षमा करो। मैं वैसा भक्त नहीं हूँ जैसा आप मुझे समझते हैं। मैं अधम भक्त हूँ। मैं नीचे खड़ा होकर ऊपर की ओर ताकता रहता हूँ। मेरे मन में यही आशा लगी रहती है कि कभी मैं भी उस पथ पर पहुँच जाऊँगा जहाँ पथ के मालिक मुझे मिल जाएँगे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आज मैं जहाँ खड़ा हूँ वहाँ से चाहने पर उन्हें पाया जा सकता है। 'मानकाना कानाल्लाहा लाहु' अर्थात अल्लाह अपने साधक के पास जाने के लिए बहुत व्याकुल रहते हैं। वे मनुष्य को अपने हाथ का खिलौना इसीलिए बनाते हैं क्योंकि एक समय ऐसा आता है जब वे मनुष्य के हाथ का खिलौना बन जाते हैं। बाह्य जगत से मुक्ति पाकर अन्तरमन उनके साथ बँध जाता है। उनका स्पर्श पाकर मानव धन्य हो जाता है। उसका मन हर पल उनके बारे में सोचता है। उन्हीं की बात करता है। उन्हीं की कामना करता है—उनकी बाँसरी सुनाई देती है।

मन एक अद्भुत आनन्द से भर जाता है। मन के पास व्यर्थ के काम करने के लिए न तो समय रहता है, न ही धर्म की बातें करने लिए। मनुष्य का मन ईश्वर-प्रेम पाने के लिए अपने को उजाड़ कर देता है। मनुष्य का मन ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। अपने पिता ईश्वर की अनुभूति पाकर मनुष्य धन्य हो जाता है। जो भटक जाते हैं, अपना रास्ता खोज नहीं पाते हैं उनके लिए मैं ध्रुवतारा हूँ। आनन्द के लोभ में पड़कर जो निरानन्द पाते हैं एवं हताश हो जाते हैं उनके लिए मैं आनन्दस्वरूप हूँ। साथी खो जाने पर उनका साथी दुःखी होने पर उनके लिए सान्त्वना, दुर्बल के लिए उनकी शक्ति, असहाय के लिए सहाय बनकर। कामना के लिए कल्पवृक्ष बनकर मैं उसका हो जाता हूँ। मैं ईश्वर का एक विशेष अंश बन जाता हूँ।

विधाता कितने सुन्दर हैं। उनके सौन्दर्य में कोई भी कमी नहीं है। उनका यह सुन्दर रूप भटके हुए जीव के समक्ष आ जाता है। शान्त, स्निग्ध, स्नेह, प्रेम, करुणा, दया से भरे कमलनयन जिसको दिखाई दे जाते हैं वह उन पर न्यौछावर हो जाता है। मनुष्य पतंगे की तरह उनकी रूपशिखा में जलने को व्याकुल हो जाता है। नूरी मिन नूरील्लाह- अल्लाह के नूर (ज्योति) से उनका नूर चमकता है।

कट्टरपन का कोई मूल्य नहीं है, मैं यह नहीं कहना चाहता। किन्तु संकीर्णता से निकल कर अपने को मुक्त कर लेने पर ही उनके साथ मिलन हो सकता है। समाज, शासन, धर्म के अनुशासन में बँध कर विराट को छोटा बनाना होता है। इसीलिए सूफी मतानुसार धार्मिक अनुष्ठान में बँधना अच्छी बात नहीं मानते। सूफी धर्म के अनुष्ठानों से निकल कर उन्मुक्त हो जाते हैं इसीलिए धर्मान्ध उन्हें देख नहीं पाते हैं। धर्मान्ध समझते हैं कि वे ही स्वर्ग के एकमात्र अधिकारी होते हैं। स्वर्ग के सारे सुख उन्हीं के लिए होते हैं। इसीलिए मैं अपनी उपासना को धर्मालय से निकाल कर हृदय के आसन पर प्रतिष्ठित कराता हूँ। मैं नित्यानन्द का उपासक हूँ। इसीलिए मेरा मन गा उठता है—

मेरे हृदय के देवता—
मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा की जरूरत नहीं
तुम्हें कोर्निश करूँगा सिर झुकाकर
चार दिवारों के बीच में अपने आप को बन्द कर लूँगा।
यह आकाश विशाल है, उससे भी बढ़कर महाशून्य है।
मैं यदि वहाँ तक पहुँच जाऊँ तो
अपने अन्तर मन में उनकी खोज पाता हूँ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूफी साधना के मूल में ईश्वर का भय एवं सत्यता है। पवित्र कुरान में कहा गया है—

या आइयोल्लाजीना अमानूत्ताकुल्लाह ओया
कूनू मायासस्वादेकिन

अर्थात विश्वासपरायण व्यक्तित्व अल्लाह के भय से भयभीत रहते हैं और सत्यवादियों के संगी होते हैं।

इन्ना आओलियाल्लाह लाया मूतूना बालयाने
कलूना मिनाद छारे ईलाद्-द्वार (आलहादिस)

मेरी तरफ आकर तू देख, मूताउज्वाह ना हूँ तो कहना। मेरी राह में चलकर तू देख, राहें न खोल दूँ तो कहना। मुझसे सवाल करके तू देख, बधशिश की हद न रोदूँ तो कहना।

पवित्र कुरान में कहा है, 'या आइयोहाल्लाजिना आमानू फिस् सिलमें काफ्फा' अर्थात हे विश्वास करने योग्य सभी व्यक्ति, तुमलोग शान्तिपूर्ण साधना में अपने आपको पूरी तरह से व्याप्त कर दो। धर्म के नियम-कानून का पालन करने से ही कुछ नहीं होता है—यह तो एक प्रकार की प्रतीकरूपी व्यवस्था-मात्र है। शरीयत के कुछ नियमों का अनुकरण करने से ही धर्म अथवा सत्य का पालन नहीं होता। इसके लिए आवश्यकता होती है 'एखलास' अर्थात एकान्तिकता-सहिष्णुता की। ईश्वर प्रेम-अल्लाह के ईश्वर को लक्ष्य बनाकर आगे बढ़ना होगा। अल्लाह का प्रेम किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है? अल्लाह के प्रेम को पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है—महान पुरुषों की वाणी तथा उनके कार्यों का अनुकरण करना। कोई अल्लाह के नाम से और कोई नवी मोहम्मद के नाम का अमृतपान करके मतवाला हो जाता है और कोई अपने महापुरुषों के नाम का उल्लेख-मात्र भी नहीं करते हैं—चुपचाप साधना करते हैं।

सूफी साधकों का प्रेम-पथ अत्यन्त कठिन पथ है। इस पथ पर चलने वाले बहुधा पथभ्रष्ट हो जाते हैं। ईश्वर-प्रेम की साधना में प्रेमिक को अपना जीवन उन्हीं में समाप्त करना होता है। सूफी चर्चा का मूल मन्त्र है—

ज्ञान नगर में बिक जाऊँगा छोड़के पाँच विकार
प्रेम नगर में बिक जाऊँगा छोड़के अशुद्ध आचार
ज्योति नगर में बसाऊँगा घर, छोड़के देह का अंधकार
ज्ञान में जीवन काटूँगा-सत्य होगा प्राणों का आधार।

मैं परमात्मा का एक रूप हूँ—मैं शान्तिस्वरूप आत्मा हूँ। बुद्धि के द्वारा शरीर की चिन्ता भूलकर अशरीरी होकर आत्मा के साथ मिलन कर सकता है। इस अवस्था में ऐसा लगता है कि आत्मा बिन्दुस्वरूप होती है—यह आत्मा शरीर से अलग होकर ऊपर उठती है। मेघमुक्त आकाश में जैसे चाँद दिखाई देता है उसी तरह मोहमुक्त होकर हृदय प्रकाशमय हो उठता है। इसी में परम शान्ति मिलती है। सूफी साधक, पीर-फकीर, ऋषि, मुनि, साधु-सन्तों के आशीर्वाद से ही इस पथ में सफलता मिलती है। अल्लाह या ब्रह्म दोनों एक ही हैं। उन दोनों शब्दों का लक्ष्य भी एक ही होता है। एक अर्थ होता है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपास्य, ज्ञान-वेद और एक अर्थ होता है जो सर्वोपरि होता है, जिनको विशेषरूप से मनन तथा ज्ञान के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। इस परमब्रह्म या अल्लाह को जानने के लिए जिन कार्यों अर्थात जीवन के सब नियमों, नीतियों का पालन करना होता है उस ब्रह्मचर्चा या तपस्या को सूफी 'रियाजत और मुजाहेदात' कहते हैं। केवल शब्दों का हेर-फेर होता है और कुछ नहीं। शरीर व मन का संयम भी साधना का ही एक अंग होता है। संयम न रहे तो मन में एकाग्रता नहीं आती है। एकाग्रता न हो तो ब्रह्मा या अल्लाह को नहीं जाना जा सकता है। उनकी उपलब्धि नहीं होती है क्योंकि वे तो स्वयं एक अनुभूति हैं। समस्त इन्द्रियों के द्वारा उन्हें अनुभूत किया जा सकता है। अतः समस्त इन्द्रियों का संयम ही ब्रह्म या अल्लाह को पाने का साधन है।

रियाजात अथवा ब्रह्मचर्या

साधना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु साधना के लिए समय और गुरु या मुर्शेद की जरूरत होती है। उपर्युक्त व्यक्ति के सान्निध्य में बारह वर्षों तक तपस्या करने के पश्चात यह विधा आती है। यह विद्या सहजता से नहीं मिलती—इसी का दूसरा नाम है तसाउफ। आत्मज्ञान के लिए आत्मत्याग के अलावा कोई चारा नहीं है। इसके लिए कठोर परिश्रम की जरूरत होती है।

अमृतमय एक शुभ ज्योति के समक्ष एक ज्योतिम्लान है। मेरी साधना से अन्तरमन में जो रतन छिपा था, वक्ष चीर कर वह आज महिमामय की महिमा दिखा रहा है।

पृथ्वी ईश्वर की विचित्र सृष्टि है। विश्वविधाता, महान सृष्टा अल्लाह ने सृष्टि की रचना करके इसके प्रत्येक कण-कण में अपना मधुर रस-ईश्वर-परिपूर्ण प्रेम से भर दिया है। इस अमृतरूपी प्रेम-मदिरा का पान करके अल्लाह के प्रति प्राण समर्पित करके सूफी धन्य व वरणयोग्य हो गए। इन्हें परम शान्ति हुई एवं परमसत्ता के प्रेम की अनुभूति भी इन्हें प्राप्त हुई। सूफियों की पवित्र एवं अपरूप जीवनकथा सभी श्रेणियों के लोगों के लिए अमूल्य सम्पदा है, परम गौरव की वस्तु है। इन्होंने युगों-युगों से अपने त्याग, निष्ठा, शान्ति से जगतवासियों को विस्मित किया है।

ईश्वर प्राप्ति कैसे होती है? धर्म में ईश्वर को मनुष्य के व्यक्तिगत तुच्छ स्वार्थ के लिए स्मरण नहीं कराया जाता है। परम आदर्श के पूर्ण आधार ईश्वर को निष्काम भाव से प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। ईश्वर की सत्ता मनुष्य के अन्तर में निहित होती है। इस अन्तर्निहित असीम शक्ति की साधना ही ईश्वर की उपलब्धि कहलाती है। हजरत मोहम्मद विश्वासपरायण लोगों के लिए नवी सम्राट का स्वरूप हैं। ये ही सूफियों के असल गुरु हैं। इसके बाद आते हैं अलीनवी जामाता। इसके पश्चात आसहाब सुफ्फा के लोग आते हैं। इसके बाद एक के बाद एक सूफी साधक मुर्शेद को सामने रखकर साधना के पथ पर चलते गए हैं। इन सभी सूफी साधकों के विभिन्न नाम हैं—यथा वालिया, दरवेश, फकीर, पीर, गौस, कुतब, आबदाल, माजदुव, शाह, साँई आदि। इसके अतिरिक्त कादरी, चिश्ती, सोहरावदी, मुज्जादेनी, नक्शबन्दी साधना भी प्रचलित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मानव-कल्याण हेतु सूफी गुरु—मनुष्य सत्य पथ, सेवा, मानवता को भूल न जाए इसीलिए औलिया या सूफी साधकों का आविर्भाव हुआ। अपने स्नेह, प्रेम एवं आशीर्वाद से इन्होंने मानवता को बचाए रखा है। इसीलिए भक्त इनके प्रति गद्गद होकर गाते हैं—

खुदा की सृष्टि बचाने के लिए
खुदा की सनद लेकर आए
मनुष्य से आघात पाकर भी
मनुष्य का उद्धार किया
मलिनता दुनिया की दिखाई
तुमने जो बेहश्ती छवि
पाप के जेहाद में तुम अकेले ही खड़े रहे
हाथ में निसान था-ला-शारीक अल्लाह
दुनिया से पाप की रेखा धुल-पुछ गई।
खुशी का तूफान कुरानरूपी सूर्य चमक उठा।

चरित्र की विशिष्टता

सूफी गुरु हजरत मोहम्मद एवं उनके आदर्शवाहक सूफी साधक के चरित्रों में उनकी विशिष्टता दिखाई देती है। प्रिय नवी का पृथ्वी पर आने का मूल उद्देश्य था चरित्र-संशोधन एवं आत्मा की शुद्धि। उन्होंने कहा है—'मैं चरित्र की परिपूर्णता के लिए साधना के प्रति प्रेरित हुआ हूँ।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे सतर्क दृष्टि रखते थे। नीति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने संस्कारों की साधना की। यह चारित्रिक साधना सूफियों के लिए अत्यन्त अभीष्ट है। आदर्श को सामने रखकर मनुष्य के मनुष्यत्व को जगाने के लिए सभी को दृढ़ संकल्प करना चाहिए। प्रेमी हमेशा प्रेम के वास्तविक रूप को देखना चाहते हैं। जो प्रेम-पथ के पथिक हैं उनके लिए मैंने कहा है—

प्रेम रस में डूबा हूँ सदा
इसमें मुझे बहुत सुख है
मेरा हृदय प्रेम से भरा है
मन में न कोई दुःख है
निशि दिन प्रेम मगन मन मेरा है
प्रेम ही मेरा धन है
उसकी शीतल अमिय छाया से
हृदय हुलसित हर पल है।

मनुष्य और उसका कल्याणकारी रूप—ईश्वर ने ही मनुष्य को जीवन दिया है। जीवात्मा परमात्मा से आती है। मृत्यु जीवन का रूपान्तर होती है। मनुष्य का जीवन भिन्न प्रकार का होता है। मनुष्य का जीवन सद्विचार, सत्प्रवृत्ति, सत्कर्म से बना है। मनुष्य के जीवन में धर्म का अवलम्बन आवश्यक होता है। ईश्वर की आराधना के विभिन्न मार्ग एवं अनुष्ठान को धर्म कहते हैं। यदि इस बात को नहीं माना जाए तो जीवन में बहुत सी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

घटनाएँ घट जाती हैं। जीवन बिताना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए मनुष्य का मन असीम के प्रति झुकता है और वह ईश्वर को जानना चाहता है।

इस नीति एवं धर्म के द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का गठन होता है। चरित्रबल से बढ़कर और कोई दूसरा बल नहीं होता है—वह चाहे व्यक्ति का हो या सम्पूर्ण जाति का हो। इस चरित्रबल के गठन में जिस साहित्य से सहायता मिलती है वही सत्साहित्य कहलाता है। 'विश्व सूफी साहित्य' जीवन को सार्थक बनाने में सहायक बना है। सुन्दर एवं पवित्र मन तैयार करने का आधार सूफी-साहित्य है।

जीवन में सुख और दुःख दोनों का मिश्रण होता है। सूफी साधना के मार्ग में सबसे ज्यादा आवश्यक होता है निर्भरता, सहनशीलता, परोपकारिता, दया एवं निःस्वार्थ भाव से दया एवं दान। ज्ञानी व्यक्ति की सेवा से जीवन में सफलता मिलती है। ज्ञान की चर्चा करने से मन में भगवत-भक्ति एवं प्रेम का उदय होता है। यह प्रेम चित्त को शुद्ध करता है। आत्मालोचन चित्त-शुद्ध करने का एक सरल उपाय होता है। यह बोध मनुष्य को कल्याणकारी बना देता है।

सूफी धर्म-मत—ईरान से सूफी धर्म का उद्‌भव हुआ है। मौलवी एवं मौलवीवादी मुसलमानों के अत्याचार से बहुत से लोगों ने सूफी धर्म, मत एवं पथ का रास्ता अपनाया। सृष्टा के साथ प्रत्यक्ष मिलन की चेष्टा करने वाले व्यक्ति को 'मरमी' कहा जाता है अर्थात परमसत्ता के साथ जिसका मर्म या अन्तःकरण मिलता है वही 'मरमी' कहलाता है। प्रेममिश्रित ध्यान या बोध द्वारा परमसत्ता के साथ सम्पर्क साधने की क्रिया को ही 'मरमीवाद' कहा गया है।

सूफी साधकों ने जिस मरमीवाद की स्थापना की है उसके मूल में है बन्धन के माध्यम से मुक्ति का स्वाद, देह से देहातीत का अनुभव, नीरवता के माध्यम से देह एवं मन की क्रियाशीलता। विरह के द्वारा मिलन का आस्वाद, सुदूर को निकटतम पाना, प्राप्ति में अप्राप्ति की वेदना। एकाकीपन में पूर्णता का स्वाद, विषाद में आनन्द एवं सबसे ऊपर ईश्वर का प्रेम।

अन्तः की सिहरन को बोध की संज्ञा दी गई है। इस सिहरन का बोध ज्ञान, बुद्धि, मेधा एवं प्रज्ञा द्वारा नहीं पाया जा सकता है।

ईश्वर के प्रति शाश्वत, आध्यात्मिक प्रेम चिरन्तन कहलाता है। मरमी कवि की इस चिरन्तनवाद में अत्यधिक आस्था होती है। इस आस्था को प्राप्त करने के लिए प्रधान अवलम्बन होती है आत्मा। अतः आत्मा ही मरमी के लिए प्रधान होती है।

सृष्टा को पाने हेतु धार्मिक आचार-विचार, अनुष्ठान नहीं अपितु हृदय का प्रेम ही श्रेष्ठतम उपाय है। मनुष्य सृष्टि का श्रेष्ठतम जीव है। उसने इस महासत्ता से प्राप्त सत्ता पाकर श्रेष्ठता का परिचय दिया है। अतः इस परमसत्ता को जानने एवं पाने की चेष्टा मानव-मन की स्वाभाविक एवं नैसर्गिक इच्छा होती है। इसी वजह से ज्ञान, प्रीति एवं ज्ञान के प्रति अनुराग ही इस पथ का प्रधान अवलम्बन होता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हजरत मोहम्मद ने कहा है—'मान आरेफा नाफसाह फाकाद आरेफा राहबाह' अर्थात प्रभु का परिचय पाने के लिए पहले अपनी आत्मा का परिचय प्राप्त करो। पैगम्बर से परमेश्वर तक के सत्य को जिसने जान लिया, उसने हजरत मोहम्मद को भी जान लिया। हजरत मोहम्मद ने अल्लाह से प्रार्थना करते हुए कहा है, ''हे अल्लाह, मुझे सत्य का सत् स्वरूप दिखाओ एवं उसकी खोज करने की क्षमता दो तथा जो असत् है उसे भी दिखाओ और उससे दूर रहने की शक्ति प्रदान करो।''

कुरान में कहा गया है, ''मैंने (अल्लाह) उन्हें (मोहम्मद) रहमत, करुणा एवं ज्ञान के विशेष भण्डार का दान दिया है। हजरत मोहम्मद गुहा में एकदम अकेले रहकर अल्लाह का ध्यान करते थे। वे यह अच्छी तरह समझ गए थे कि इस महान सत्य की खोज करना सीमित ज्ञान रखने वाले प्राणी के लिए अत्यन्त कठिन होगा। अल्लाह ने जिसे 'हिकमत' प्रज्ञा या कुरान पर आधारित ज्ञान प्रदान किया है, निश्चित रूप से उस व्यक्ति का कल्याण हुआ है। सूफी कौन है? अल्लाह जिसे प्रेम करते हैं एवं जिसकी आत्मा को पवित्र कर दिया है वे ही सूफी होते हैं। अल्लाह ने महानवी हजरत मोहम्मद की आत्मा को पवित्र कर दिया था इसीलिए उन्हें सूफी कुलतिलक कहा गया है।''

सूफी मतवाद अल्लाह के प्रेम एवं ध्यान के ऊपर टिका हुआ है। सूफी की चेतना प्रेम एवं ध्यान की असीम चेतना को व्यापक रूप में देखती है। परमसत्ता में अपनी वैयक्तिक चेतना का विलय करके अल्लाह का सामीप्य प्राप्त करने के लिए सूफी हमेशा प्रयत्न करते हैं। परम सत्यमय अल्लाह के बारे में परम ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा के साथ एक होना ही सूफियों का चरम लक्ष्य होता है।

इलमे लादुनी किसे कहते हैं? अल्लाह के प्रेम में आत्मा की आहुति देकर सूफी इच्छामय की इच्छा के सामने नतमस्तक रहते हैं। उन्हें दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान भी न हो पर उन्हें अल्लाहताला अपने प्रेम का सुधा-पान कराके ज्ञान-दान देते हैं, उसे ही इलमे लादुन्नी कहते हैं। सूफी इसी जगत में रहते हैं। अल्लाह अपने ज्ञान से उन्हें ज्ञानवान बनाते हैं। अल्लाह उन्हें अपने गुण से गुणी, अपनी शक्ति से शक्तिवान बनाकर अपना मित्र बना लेते हैं। अल्लाह का प्रेम ही सूफी की प्रधान सम्पत्ति होती है।

सच्चा सूफी कौन होता है, जब इच्छामय की इच्छा उनके मन में जगती है, तब उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता। शरीयत, तरीकत, मारीफत एवं हकीकत इन सबको वे पार कर लेते हैं। बहुत से लोगों की धारणा है कि सूफी धर्मविरोधी होते हैं। ये धर्म के नियमों की परवाह नहीं करते, धार्मिक अनुष्ठानों को महत्व नहीं देते, इसीलिए समाज के अधिकांश लोग उनके विरुद्ध हो जाते हैं। इसके लिए उत्तरदायी होते हैं एक वर्ग के आलम या मौलवी-मौलाना।

शरीयत, तरीकत, हकीकत एवं मारीफत किसे कहते हैं? शरीयत इस्लाम का प्रारम्भिक स्तर होता है एवं यह अनुष्ठान के कार्यकलापों तक सीमित होता है। तरीकत—हजरत मोहम्मद का अनुकरण करके जीवन गढ़ने की पद्धति को कहते हैं। मारीफत—प्रेम, प्रीति, त्याग, ध्यान, धैर्य, पर्यवेक्षण एवं अल्लाह तथा बन्दे के अटूट सम्पर्क को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहते हैं। हकीकत होती है साधक द्वारा वास्तव अनुभूति के माध्यम से दिव्यदर्शन द्वारा अल्लाहताला की इच्छा से अपनी समस्त सत्ता को विलीन कर देना।

फानफिल्लाह एवं वाकाविल्लाह किसे कहते हैं? प्रथम चरण में सूफी पीर या उनके गुरु के सम्बन्ध में प्रेम-चर्चा करते हैं। इसके बाद रसूल के प्रेम में आत्माहुति देते हैं, इसके पश्चात अल्लाह के प्रेम में आत्माहुति। इन तीनों चरणों को सूफी 'फाना फिल्लाह' कहते हैं। इन तीनों चरणों को जो सूफी पार कर लेता है उसे 'वाका विल्लाह' या अल्लाह की सत्ता में अपने को मिटाकर चिर स्थायित्व की प्राप्ति करते हैं। इन चरणों को पार करने के लिए योग्य पथप्रदर्शक की जरूरत होती है या कामिल पीर का शिष्य बनना जरूरी होता है।

कलमा का गुप्त रूप क्या होता है? पहले अपनी जबान से 'ला इल्लाह इल्लाल्लाह' कलमा पढ़कर तन्मय होने का अभ्यास करना होता है। यह अभ्यास धीरे-धीरे स्वभाव में बदल जाता है। इसके पश्चात पूरी तरह तन्मय हो जाने पर अन्दर के मानव का अस्तित्व प्रकाश में आता है। इसे कहते हैं 'इनसाने कामिल'। कलमा पढ़कर अल्लाह के साथ सम्पर्क प्रगाढ़ होता है। सूफी साधक के साथ रहने से दुनिया की मोहमाया समाप्त हो जाती है। मन में परलोक की बात आती है, ईश्वर-प्रेम मन में जगता है। सच्चरित्रता, विनम्रता, कृतज्ञता आदि की भावना मन में उदित होती है। अहं, हिंसा, द्वेष, परचर्चा, परनिन्दा, मिथ्याभाषण से दूर होता जाता है। शरीयत, तरीकत, मरीफत एवं हकीकत के ज्ञान से हृदय परिपूर्ण हो जाता है। जाति, धर्म, वर्ण आदि सब एक समान लगने लगते हैं। निःस्वार्थ भाव से दूसरों की सेवा करने लगते हैं। हमेशा कलमा पढ़ते रहते हैं। उनका दिल अल्लाह के नूर से चमकता है। अल्लाह के प्रेम एवं मानव-कल्याण के अलावा किसी प्रकार का स्वार्थ मन में नहीं रहता है। गुरु के साथ शिष्य का सम्पर्क एकदम निःस्वार्थ होता है, इसीलिए यह सम्पर्क स्थायी हो पाता है।

मुशाहिदा और मुजाहिदा

महान अल्लाह द्वारा दी गई समस्त नियामतों को स्मरण करके उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, उनकी बनाई सृष्टि की चिन्ता करना एवं उनकी महत्ता का बखान करना 'मुशाहिदा' कहलाता है। मुशाहिदा के द्वारा शिष्य अपने दोषों, त्रुटियों को सुधारता जाता है। वह जितनी ही ईश्वर की महत्ता समझता जाता है उतनी ही उसकी आत्मा पवित्र होती जाती है तथा वह भक्ति की ओर बढ़ता जाता है।

सारे जीवन में अपने किए कर्मों का हिसाब-किताब करके, आत्मविश्लेषण करके, अपने दोषों, त्रुटियों को समझकर अनुतप्त होकर अल्लाह से क्षमा माँगना और जिन कार्यों से अल्लाह की नियामत मिले, उन्हें करना चाहिए। सत् कार्यों में मन लगाना आदि को मुजाहिदा या रियायत कहा जाता है।

हजरत मोहम्मद ने कहा है, "एक पल के लिए अल्लाह का ध्यान करना सत्तर वर्षों की नफल इबादत (अतिरिक्त उपासना) से श्रेष्ठ होता है।" भारतीय उप-महादेश में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आध्यात्मिक साधना के प्रति विभिन्न धर्म मानने वालों ने बहुत से आरोप लगाए हैं। अन्य जो अवतार हुए हैं उनके लिए विभिन्न प्रकार से साधना की जाती रही है लेकिन लक्ष्य सबका एक ही रहता है। साधना के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति। इस प्रकार देखा जाए तो सब मनुष्य बराबर हैं। इनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैनी, पारसी विभिन्न धर्मों को मानने वाले ईश्वर की सन्तान हैं। इस महान सत्य को हमेशा मन में रखना चाहिए। वेदान्त दर्शन, भारतीय मरमीवाद भी एक उल्लेखनीय दर्शन है। सूफीवाद के उद्‌गम के मूल में भारतीय वेदान्त दर्शन एवं बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है। भारतीय आध्यात्मिक साधना में सूफी मत का समन्वय राजा राममोहन राय, चैतन्यदेव, रामकृष्ण देव एवं गुरु नानकदेव के माध्यम से दिखाई देता है। 'या अल्लाह ल्लहा लायेल्लाह ईल्लाह'—इस वाणी को राजा राममोहन राय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तोहफात उल मोहादिन' कुरान की उक्त वाणी से शुरू किया है। इसका अर्थ है, "अल्लाह एक है, वह अद्वितीय है एवं एकमात्र उपास्य है। मैं उनको सलाम करता हूँ।"

ज्ञान एवं साधना के माध्यम से जिन्होंने सभी धर्म मानने वालों का साथ दिया, इस्लाम की नमाज में भाग लिया एवं आजान दिया मैं उन ज्ञानी श्री रामकृष्ण परमहंस देव को सलाम करता हूँ, सूफी इश्क से जिनका हृदय भरपूर रहा। अभिनव प्रेम-सागर के रत्न श्री चैतन्य देव को मैं अन्तर्मन से श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

स्वामी विवेकानन्द, लोकनाथ ब्रह्मचारी, ऋषि अरविन्द, ठाकुर अनुकूल चन्द, बालक ब्रह्मचारी, कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोहनदास करमचन्द गान्धी, आचार्य विनोबा भावे, साँईं बाबा आदि अध्यात्मवादी महापुरुषों को मैं नमस्कार करता हूँ—उनके आशीर्वाद की कामना करता हूँ—

जलिए दिनू दीप खानी आजि
विश्व उज्जल धरा
विश्व सूफीर प्रेमेर आलोय
बुकखानी मोर भरा
निभवेना एई प्रदीपटी भाई
ज्वलबे चिर दिन
पारबेना केउ कभू तारे
करिते विलीन
प्रेम दिए गड़ा जे एई
विचित्र भुवन
प्रेमेर खेलाय खेलचे तार
अनन्त जीवन
प्रेमेर आलोय ढेके आछे
एई धरनी खानी
प्रेमेर फूल फूटछे सारा
होये विश्ववाणी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारत में शान्ति, सद्भावना, विविधता में एकता, सबसे ऊपर मानव मूल्यबोध को उजागर करने में विशेषकर सत् एवं शान्तिमय जीवन गठन करने में उक्त रचना का प्रकाशन किया गया है। इस प्रकार इस महान उद्देश्य को लेकर इसके प्रकाशन के लिए जिन्होंने प्रयास किया वे महाभाग्यवान हैं। ये इस पृथ्वी पर मनीषी के नाम से जाने जाएँगे। इन्हें ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त होता है—ये पवित्र जीवन के अधिकारी होते हैं। 'कर भला तो हो भला' इनका उद्देश्य रहता है। ऐसे साधु-सन्तों के द्वारा ही यह वसुन्धरा फल-फूल से भरी रहती है।

मैं सूफीवाद से अभिभूत हूँ। आत्मविकास सूफीवाद का मूल उद्देश्य व लक्ष्य होता है। सूफी साधक सर्वधर्म के पुजारी होते हैं। ये मनुष्य को मानव के रूप में गढ़ना चाहते हैं। मैं सूफी भाव, पथ, पन्था, अनुयायी की भक्ति करता हूँ। ये सच्चे प्रेमी होते हैं। ये मनुष्य के प्रेम के माध्यम से श्रेष्ठ को पाने के अधिकारी होते हैं। आपके, मेरे सभी के हृदय का विकास हो यही कामना करता हूँ—आमीन्!

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

13

मसीही धर्म में रहस्यवाद

एलरिक बारलो शिवाजी

इस लेख के आरम्भ में ही मैं यह क़हना उचित समझता हूँ कि मैं धर्म-विज्ञानी (Theologian) नहीं हूँ और न ही रहस्यवाद का विशेषज्ञ हूँ किन्तु जितना मैं मसीही रहस्यवाद को समझ सका हूँ, उसकी झलक पाठक को प्राप्त होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

रहस्यवाद की परिभाषा

वैज्ञानिक रहस्यवाद की परिभाषाएँ अलग-अलग रूप से करते हैं। यूनानी दार्शनिक प्लोटिनस का कथन है कि "रहस्यवाद एकाकी जन की परम सत्ता की ओर उड़ान है" (It is the flight of the alone to alone)। दोमिनिक मिस्टर एरवार्ट ने इसके स्वरूप के विषय में कहा है, "आध्यात्मिक आनन्द का आधार यह है कि आत्मा ईश्वर को देखती है और बीच में कोई बाधा नहीं होती; वह इस दर्शन से अपनी सत्ता और जीवन प्राप्त करती है और ईश्वर के सत् से अपनी सत्ता प्राप्त करती है। वह इस ज्ञान की प्रक्रिया अथवा प्रेम अथवा अन्य किसी भी बात के प्रति अनभिज्ञ रहती है। तब वह ईश्वर के तत्त्व में शान्त हो जाती है और ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं जानती।" दासगुप्त अपनी पुस्तक 'हिन्दू मिस्टीसिज्म' में रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार से देते हैं—

"Mysticism is not an intellectual theory; it is fundamentally an active, formative, creative, elevating and ennobling principle of life.... Mysticism means a spiritual group of the aims and problems of life in a much more real and ultimate manner than is possible to men reason."

के०पी०एस० चौधरी अपने एक आलेख 'मिस्टीसिज्म एण्ड दी आयडेन्टिटी इन डिफरेंस' में लिखते हैं—

"Mystical conciousness is the rising from egoistic individualism to spiritual universalism."

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'रहस्यवाद' नामक पुस्तक में 'रहस्यवाद' की परिभाषा में कहा है—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवनदर्शन है जिसका मूलाधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता या परमात्मतत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है; और जिसके अनुसार किए जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावत: विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख ही हो सकता है।"

रहस्यवाद बुद्धि से परे

रहस्यवाद शब्द से ही यह अभिव्यक्ति होती है कि परम सत्ता का अथवा ईश्वर का ज्ञान बुद्धि और वाणी की पकड़ से परे है, यद्यपि दार्शनिकों ने ईश्वर की व्याख्या

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एकतत्ववाद, बहुतत्ववाद, सर्वेश्वरवाद आदि के रूप में की है, किन्तु ईश्वर क्या है, कैसा है, क्यों है, यह मानव की अनुभूति से परे है। इसी कारण डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने लिखा, ''बुद्धि और वाणी एक सापेक्ष सत्य को ही पूर्णतः कह सकती है, निरपेक्ष सत्य का प्रकाशन इसकी शक्ति के बाहर है,'' जिन रहस्यवादियों ने परम सत्ता का रसास्वादन किया है उन्हें इन्द्रियों के माध्यम से इस ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। उन्हें इस रहस्य की प्राप्ति रहस्यमयी चेतना, अन्तःप्रज्ञा अथवा अन्तःकरण की दिव्य दृष्टि द्वारा ही हुई है और एक रहस्यवादी यह अनुभव करता है कि उसका संयोग परम सत्ता से हो गया है। इस अनुभव की क्रिया में वह स्वयं व्यक्तिवाद से आध्यात्मिक सार्वभौमिकवाद की दिशा में उठ जाता है। वह धरती एवं आकाश, प्रकृति एवं पदार्थ सबमें उसी परम सत्ता का दर्शन करता है। बाइबिल का यह कथन, ''मैं तेरी आत्मा से भागकर किधर जाऊँ? या तेरे सामने से किधर भागूँ? यदि मैं आकाश पर चढ़ूँ तो तू वहाँ है, यदि मैं अपना बिछौना अधोलोक में बिछाऊँ तो वहाँ भी तू है, यदि मैं भोर की किरणों पर चढ़कर समुद्र के पार जा बसूँ तो वहाँ भी तू अपने हाथों को फैलाकर मेरी अगुवाई करेगा और अपने दाहिने हाथ से मुझे पकड़ेगा।'' क्योंकि परमेश्वर सब वस्तुओं के बाहर और भीतर भी है। यशय्याह नबी ने ईश्वर की वाणी को यहोबा में यों कहा है, ''आकाश मेरा सिंहासन और पृथ्वी मेरे चरणों की चौकी है।'' यशय्याह 40 : 12 में पढ़ते हैं कि महासागर तो उसके हाथ का चुल्लू (Hollow of his hand) है जो कि उसकी दिव्य शक्ति को स्वतः ही प्रकाशित करती है।

मसीही रहस्यवाद अन्य मतों से भिन्न

मसीही रहस्यवाद को विस्तार से समझने के पहले हम यह जान लें कि मसीही रहस्यवाद अन्य धर्मों के रहस्यवाद से भिन्न है। इस सम्बन्ध में डॉ० बेंजामिन का कथन है, ''मसीही रहस्यवाद अन्य रहस्यवाद से इस बात में भिन्न है कि मसीही रहस्यवाद प्रमुख सिद्धान्तों से चिपका हुआ है और उसमें प्रभु यीशु का प्रकाशन और बाइबिल एक आधिकारिक पुस्तक (Authority) है। इसलिए रहस्यवाद अन्य धर्मों के रहस्यवाद के समान सर्वेश्वरवाद में परिणत नहीं होता। मसीही रहस्यवाद अन्य रहस्यवाद से इस तथ्य में भी भिन्न है कि मसीही रहस्यवाद में सामाजिक चिन्ता का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। वह कोरा आत्म आनन्द नहीं है। वह परमेश्वर के प्रेम की गहरी अनुभूति है जो पड़ोसी के प्रेम में व्यक्त होती है।''

मसीही धर्म एक ऐतिहासिक धर्म है और इतिहास तथ्यों पर आधारित होता है। इस कारण बाइबिल यह बताती है कि ''कुछ दबा हुआ नहीं है जो खोला न जाएगा, और न कुछ छिपा है, जो जाना न जाएगा'' जैन धर्म, बौद्ध धर्म ऐतिहासिक होते हुए भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते, किन्तु कर्म सिद्धान्त पर बल देकर अरिहन्त अथवा बोधि को प्राप्त करने का लक्ष्य रखते हैं। हिन्दू धर्म में रहस्यवाद की प्रचुरता है किन्तु अद्वैतवाद में जीव ब्रह्म में, मोक्ष की अवस्था में समाहित हो जाता है जबकि वैष्णव धर्म में शरणागति द्वारा अनुग्रह की प्राप्ति बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मसीही धर्म के आरम्भिक काल में रहस्यवाद

अद्वैत वेदान्त से एक भिन्न दृष्टि मसीही धर्म की यह है कि जहाँ वह जीव का ब्रह्म में लीन हो जाने व ब्रह्म के एवं जीव के एकीकरण में विश्वास रखता है वहीं मसीही धर्म में रहस्यवाद के अन्तर्गत वह ईश्वर की समानता में होता है। उत्पत्ति नामक पुस्तक में कहा गया है, "परमेश्वर ने कहा, हम मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार अपनी समानता में बताएँ। तब परमेश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया, नर और नारी बना कर उसने मनुष्यों की सृष्टि की।" वास्तव में मनुष्य परमेश्वर के हाथों की रचना है क्योंकि समस्त वस्तुओं को उसने कहकर बनाया है परन्तु उसने मनुष्य को मिट्टी से बनाया और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूँका और मनुष्य जीवित प्राणी हो गया। यह एक रहस्य है जो मानव की बुद्धि से परे है। इस कारण मसीही रहस्यवादियों की दृष्टि में परमेश्वर से संयोग की स्थिति का अर्थ यह है कि मनुष्य की इच्छा, उस परमेश्वर की दिव्य इच्छा के समानान्तर हो जाना है। राधाकमल मुखर्जी अपनी पुस्तक, 'दी थ्योरी एण्ड आर्ट ऑफ मिस्टिसिज्म' में कहते हैं—

"In Christian mysticism the aim of man stressed through the Centuries has been to become God like and co-operate with God."

जब हम बाइबिल के दूसरे भाग में, अर्थात 'नए नियम' में प्रवेश करते हैं तब मसीह यीशु के कुछ कथनों में रहस्य पाते हैं। प्रथम हम यहून्ना द्वारा यीशु के बपतिस्मे के बाद ईश्वर की वाणी को यीशु के सन्दर्भ में मत्ती-रचित सुसमाचार—3:17 में पढ़ते हैं— "और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है, जिससे मैं प्रसन्न हूँ" किन्तु इस वाक्य को हम रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं रख सकते, क्योंकि वहाँ एकत्रित लोगों ने कानों के द्वारा श्रवण किया था किन्तु प्रभु यीशु के शब्दों को जैसे "मेरे पिता ने मुझे सब कुछ सौंपा है, और कोई पुत्र को नहीं जानता, केवल पिता, और कोई पिता को नहीं जानता, केवल पुत्र और वह जिस पर पुत्र उसे प्रकट करता है।" रहस्यवाद के अन्तर्गत रखने में कोई दुविधा नहीं होती। इसी प्रकार यहून्ना रचित सुसमाचार में प्रभु यीशु का कथन है—"जैसा तू है पिता मुझमें है, और मैं तुझमें हूँ, वैसे ही वे भी हममें हों, इसलिए कि जगत प्रतीति करे कि तूने ही मुझे भेजा।" तब तक मसीही धर्म में रहस्यवाद का आरम्भ न तो प्रभु यीशु से और न चौथे सुसमाचार, अर्थात यहून्ना रचित सुसमाचार से हुआ था। प्रो० जे०बी पन्त की मान्यता के अनुसार "प्लोटोनिस को कुछ अर्थों में मसीही रहस्यवाद का जनक कहा जा सकता है।"

सन्त पौलुस का खिस्तीय रहस्यवाद

सन्त पौलुस मसीह का प्रचारक बनने के पहले यीशु विरोधी था। प्रचारक होने के पहले उसका नाम शाऊल था। एक दिन वह दमिश्क जा रहा था तो "एकाएक आकाश से उसके चारों ओर ज्योति चमकी और वह भूमि पर गिर पड़ा और यह शब्द सुनाई दिया कि हे शाऊल, हे शाऊल, तू मुझे क्यों सताता है। उसने कहा मैं यीशु हूँ जिसे तू सताता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। जो मनुष्य उसके साथ थे, वे चुपचाप रह गए, क्योंकि शब्द तो सुनते थे, परन्तु किसी को देखते न थे। तब शाऊल उठा, परन्तु जब आँखें खोलीं तो उसे कुछ दिखाई नहीं दिया और वे उसका हाथ पकड़ के दमिश्क में ले गए और वह तीन दिन तक न देख सका और न खाया न पीया।'' आगे का विवरण यह है कि हनन्याह नामक यीशु का एक चेला उसे दृष्टि प्रदान करता है और यही शाऊल सन्त पौलुस के नाम से यीशु का प्रचार करने लगता है। नए नियम की पुस्तक में इसकी तेरह पंक्तियाँ संकलित हैं जो नए नियम का भाग हैं। जब पहली बार एथेंसवासियों को पौलुस ने यीशु का सुसमाचार सुनाया तो वे समझे कि पौलुस दो छोटे देवताओं के विषय में चर्चा करता है तो उसका स्वागत किया और पूछा, ''क्या हम जान सकते हैं कि यह नया मत जो तू सुनाता है, क्या है? क्योंकि तू अनोखी बातें सुनाता है, इसलिए हम जानना चाहते हैं कि इनका अर्थ क्या है?'' तब पौलुस ने उत्तर में कहा, ''हे अथेने के लोगो! मैं देखता हूँ कि तुम हर बात में देवताओं के बड़े मानने वाले हो क्योंकि मैं लौटते हुए तुम्हारी पूजने की वस्तुओं को देख रहा था तो उसमें एक ऐसी वेदी भी पाई, जिस पर लिखा था, 'अनजाने ईश्वर के लिए।' सो जिसे तुम बिना जाने पूजते हो, मैं तुम्हें उनका समाचार सुनाता हूँ।'' जो बातें पौलुस ने कहीं वे करिन्थियों की मण्डली के पत्र में स्पष्ट होती हैं, ''यद्यपि आकाश में और पृथ्वी पर बहुत से ईश्वर कहलाते हैं, तो भी हमारे निकट तो एक ही परमेश्वर है, और एक ही प्रभु है, अर्थात यीशु मसीह, जिसके द्वारा सब वस्तुएँ बनीं और हम भी उसी के द्वारा बने हैं। परन्तु सबको यह ज्ञान नहीं, किन्तु कितने तो अब तक मूरत को कुछ समझने के कारण मूरतों के सामने बलि की हुई वस्तु को कुछ वस्तु समझकर खाते हैं और उनका विवेक निर्बल होकर अशुद्ध होता है।''

धीरे-धीरे पौलुस के सन्देशों एवं भाषणों में रहस्यवाद का भाव दृष्टिगोचर होता है और मालूम पड़ता है कि वह स्वयं एक रहस्यवादी (Mystic) था। उसका रहस्यवाद ख्रिष्ट रहस्यवाद पर केन्द्रित था। उसका रहस्यवाद आध्यात्मिक दिव्यता को देखने का नहीं अपितु सुनने और मानने का था। उसके रहस्यवाद की विशेषता विश्वास द्वारा सुनने और विश्वास द्वारा मानने का था। सन्त पौलुस के लिए सिद्धान्त (Gospel) केवल प्रकटीकरण (Revelation) नहीं है। यह कोई शाश्वत अदृश्य का अनावरण नहीं है। बल्कि यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे परमेश्वर ने मसीह यीशु को दिया, दे रहा है और दिया करेगा। मोक्ष की आशा अन्तिम साध्य है न कि केवल देखना, क्योंकि जो कुछ देखा जाता है वह आशा की वस्तु अधिक समय तक नहीं रहती। इस कारण एक मसीही उसकी आशा रखता है जिसे वह नहीं देखता और उसके लिए ठहरता है। सन्त पौलुस लिखता है, ''आशा के द्वारा तो हमारा उद्धार हुआ है परन्तु जिस वस्तु की आशा की जाती है जब वह देखने में आती है तो फिर आशा कहाँ रही? क्योंकि जिस वस्तु को कोई देख रहा है, उसका आशा क्या करेगा।''

सन्त पौलुस एक रहस्यवादी प्रचारक था। उसके कहे हुए निम्न वचन इस तथ्य के प्रमाण हैं कि उसने प्रभु यीशु का सान्निध्य प्राप्त कर लिया था कि विश्व का प्रत्येक प्राणी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रभु यीशु में विश्वास कर उस अनन्त जीवन को प्राप्त करे जिसकी प्रतिज्ञा प्रभु यीशु ने की है। निम्न वचनों को 'पौलुस की दिव्य उपस्थिति का अनुभव' कहा जा सकता है।

रोमियो 8:2 ''क्योंकि जीवन की आत्मा की व्यवस्था में मसीह यीशु ने मुझे पाप और मृत्यु की व्यवस्था से स्वतन्त्र कर दिया।''

गलतियाँ 4:6 ''और तुम जो पुत्र हो, इसलिए परमेश्वर ने अपने पुत्र की आत्मा को उनकी पुत्री जो हे अब्बा, हे पिता कहकर पुकारता है। हमारे हृदय में भेजा है।''

गलतियाँ 2:20 ''मैं मसीह के साथ क्रुस पर चढ़ाया गया हूँ, और अब मैं जीवित नहीं रहा, पर मसीह जीवित है और मैं शरीर में अब जो जीवित हूँ तो केवल उस विश्वास से जीवित हूँ, जो परमेश्वर के पुत्र पर है, जिसने मुझसे प्रेम किया और मेरे लिए अपने आपको दे दिया।''

गलतियाँ 1:15-16 ''परन्तु परमेश्वर की, जिसने माता के गर्भ ही से मुझे ठहराया और अपने अनुग्रह से बुला लिया, जब इच्छा हुई कि मुझमें अपने पुत्र को प्रकट करे कि मैं अन्य जातियों में ये सिद्धान्त सुनाऊँ, तो न मैंने मांस और लहू से सलाह ली।''

रोमियो 8:16 ''आत्मा स्वयं हमारी आत्मा के साथ गवाही देता है कि हम परमेश्वर की सन्तान हैं।''

2 करिन्थियों 3:18 ''परन्तु जब हम सबके उघाड़े चेहरे से प्रभु का प्रताप इस प्रकार प्रकट होता है, जिस प्रकार दर्पण में, जो प्रभु के द्वारा जो आत्मा है, हम उसी तेजस्वी रूप में अंश-अंश करके बदलते जाते हैं।''

2 करिन्थियों 4:6 ''इसलिए कि परमेश्वर ही है, जिसने कहा कि अन्धकार में से ज्योति चमके और वही हमारे हृदयों में चमका कि परमेश्वर की महिमा की पहचान की ज्योति यीशु मसीह के चेहरे से प्रकाशमान हो।''

इफिसियों 3:14-21 ''मैं इसी कारण उस पिता के सामने घुटने टेकता हूँ जिससे स्वर्ग और पृथ्वी पर एक घराने का नाम रखा जाता है कि वह अपनी महिमा के धन के अनुसार तुम्हें यह दान दे कि तुम उसकी आत्मा से अपने भीतरी मनुष्यत्व में सामर्थ्य पाकर बलवन्त होते जाओ और विश्वास के द्वारा मसीह तुम्हारे हृदय में बसे कि तुम प्रेम में जड़ पकड़कर और नींव डालकर सभी पवित्र लोगों के साथ भलीभाँति समझने की शक्ति पाओ कि उसकी चौड़ाई और लम्बाई और ऊँचाई और गहराई कितनी है और मसीह के उस प्रेम को जान सको जो ज्ञान से परे है कि तुम परमेश्वर की सारी भरपूरी तक परिपूर्ण हो जाओ।''

सन्त पौलुस के उपर्युक्त कथन पूर्ण रूप से यह बताते हैं कि उसका आन्तरिक जीवन पूर्ण रूप से मसीह यीशु को समर्पित था। यही पौलुस है जिसके कारण विश्व में मसीह धर्म का प्रचार एवं प्रसार हुआ और जिसने सत्य को उद्‌घाटित किया कि इस पृथ्वी पर केवल एक ही, केवल एक ही उद्धारक है जिसने मानव हेतु अपना बलिदान क्रूस पर दिया ताकि पाप से बच जाए और परमेश्वर पिता और परमेश्वर पुत्र को समान, परमेश्वर पवित्र आत्मा की सहायता से हो जाए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मध्यकाल के मसीही रहस्यवादी

वास्तव में मसीह धर्म के अन्तर्गत रहस्यवाद का आरम्भ चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है जिस की पुष्टि एखार्ट (1260-1327), टाउलर (C1300-1361), हेनरी सूसो (C1295-1366), रुयूस ब्रोएक (1293-1381), सीना की सेंट केथरीन (1347-1380), हेम्पोल के रिचार्ड रोल (1300-1449), वाल्टर हिल्टन (1396), जॉन गेरसन (1363-1429), कारथेजिन डेनिस (1402-1471), बोलोगां की सेंट कैथरीन (1413-1463) और जेनोवा की सेंट केथरिन ने अपनी रहस्यवादी कृतियों में रहस्यवाद के दिग्दर्शन कराये हैं। धर्मसुधार काल अर्थात् सोलहवीं सदी से आज तक मसीही रहस्यवादियों में क्रॉस का संत जॉन, जे० बोहमे, आर० क्रेश, जी० फोक्स, एच० बाघन, एम० दे० मोलीनॉस, एफ० फेनेलॉन, मदाम गॉयन, विलियम लॉ, संत गोम्मा गलगनी, मोटफोर्ट का संत ग्रिननियॉन और चार्ल्स दे० फॉकोल्द हुए हैं।

रहस्यवादी एरवार्ट की स्थिति

रहस्यवादी एरवार्ट ने अद्वैत वेदान्त की जिस स्थिति को मान्य किया है उसमें जीव पूर्ण रूपेण ब्रह्म में समाहित हो जाता है। इस कारण एरवार्ट के बहुत से कथन जैसे 'मेरी आँखें और ईश्वर की आँखें एक हैं और समान हैं', 'ईश्वर और मैं, हम एक हैं' मैं उसके पुत्र के रूप के समान हूँ और कोई दूसरा नहीं हूँ, को चर्च ने मान्यता नहीं दी और उसकी बहुत आलोचना की गई।

मसीही रहस्यवादियों का दृष्टिकोण

मसीही रहस्यवादी क्रूस के संत जॉन का मत है कि मनुष्य की इच्छा का, दिव्य एकता की स्थिति में, ईश्वर की इच्छा में पूर्णतः इस प्रकार बदल जाना है कि इच्छा प्रत्येक क्रिया ईश्वर की इच्छा की क्रिया हो। आगे वह कहता है कि वह एकता और आत्मा का बदलाव परमेश्वर की समानता में ही प्राप्त होता है जिसे प्रेम उत्पन्न करता है। इस कारण एकता को 'समानता की एकता' कहा गया है, जो तभी प्रभावित होती है जबकि दो इच्छाएँ, ईश्वर की इच्छा और जीव की इच्छा, दो ही निश्चित हो जावे। क्रूस के संत जॉन के विषय में डब्ल्यू०टी० स्टेस अपनी पुस्तक 'मिस्टिसिज्म एण्ड फिलासफी' में लिखती हैं—

"In St. John of The Cross's scheme of thought is, that of resemblence of to different things. The relation between the two according to Ruysbroeck, the great flemish mystic, is compared to the relation between the sunlight and air, or between hit and hot iron. To quote him :

As the air is penetrated by the brightness and heat of the sun, and iron is penetrated by fire, so that it works through fire, the work of fire since it burns and shines like fire and so like wise it can be said of the air....yet each of these keeps its own nature, For the fire does not become iron, and iron does not become fire. There is here a great distinction, for the creature never becomes God, nor does God ever become the creature."

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

14

सिख दर्शन एवं अध्यात्म में रहस्यवाद

लखबीर सिंह 'निर्दोष'

भारतीय दर्शन की पूर्व पीठिका

भारतीय दर्शन विश्व की अन्यान्य दर्शन प्रणालियों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ऋग्वेद से ही दार्शनिक चिन्तनधारा प्रवहमान है। परन्तु इस तथ्य में किसी भी मतैक्य की सम्भावना नहीं है कि पूर्व वैदान्तिक चिन्तनधारा का अजस्र प्रवाह प्राकृतिक व्यापारों में परमसत्ता के अस्तित्व की अवधारणा के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था। प्रकृति में देवत्वारोपण तथा देवाधिदेव के अध्यात्ममयी स्वरूपों में परमसत्ता के अस्तित्व की ओर संकेत मिलता है। परन्तु दर्शन की विषयगत व्याख्या करते समय हमारा ध्यान जगत एवं जीव से सम्बन्धित प्रसंगों की ओर जाना स्वाभाविक है। तदर्थ मानव की उत्पत्ति तथा उससे संलग्न परिस्थितियाँ एवं समस्याएँ भी दर्शन का विशिष्ट प्रतिपाद्य हो जाती हैं। तत्पश्चात उपनिषदकाल में दर्शन का चिन्तन-फलक तीव्रता से फैला। एक ओर तो जीव और जगत के प्रति मूलाधार जिज्ञासाओं ने 'प्राणशक्ति' को 'ब्रह्मा' में स्थापित किया तो दूसरी ओर वैदिक युग की सामाजिक अवस्था में घोर परिवर्तन हुआ।

सिखमत अथवा सिख धर्म की दार्शनिक एवं अध्यात्मवादी धारणाओं को रूपायित करने वाला बृहद् **गुरु ग्रन्थ साहिब** है (आदिग्रन्थ छठे सिख गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित है)। इस ग्रन्थ में मान्यताओं के प्रतिपादन हेतु किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह के दर्शन नहीं होते। अपितु इस महान ग्रन्थ में प्रस्थापित दार्शनिक एवं अध्यात्मवादी दृष्टिकोणों का अध्ययन करने वाले विद्वान अपनी-अपनी विचारधाराओं को प्रस्तुत करते समय इतस्तत: दिग्भ्रमित दिखाई देते हैं। तदर्थ इस सन्दर्भ में यहाँ इतना स्पष्ट कर देना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'आदिग्रन्थ' में संकलित निर्गुण सन्तों की वाणियों में परिचित ब्रह्म, जीव, जगत तथा माया सम्बन्धी धारणाओं के निष्पक्ष पर्यवेक्षण अथवा पुनर्परीक्षण की आवश्यकता है। वस्तुत: किसी भी ग्रन्थ के सम्पूर्ण आकलन एवं कसौटी के लिए उसकी भाषा का समुचित ज्ञान होना अति अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि आदिग्रन्थ की मूल लिपि **गुरुमुखी** है इसलिए इसके विशाल कलेवर को स्वरूप एवं सौष्ठव प्रदान करने वाली 'गुरुवाणी' के अनन्त, अतल सागर में डुबकी लगाये बिना ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं दूसरे साहित्येतिहासकारों ने अपने-अपने अभिमतानुसार 'आदिग्रन्थ' का विवेचन किया, जिससे उसमें निहित उसकी दार्शनिक एवं अध्यात्मवादी मान्यताएँ अपने औचित्य के साथ प्रस्तुत नहीं हो पाईं।

अध्यात्मवादी दार्शनिक चिन्तनधाराएँ—'गुरु ग्रन्थ साहिब' की ब्रह्मस्वरूप सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों को समझने से प्रथम यह देखना अनिवार्य हो जाता है कि भारत के दूसरे दर्शनों में ब्रह्म के प्रति क्या-क्या धारणाएँ रही हैं। 'आदिग्रन्थ' की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दार्शनिक मान्यताएँ ब्रह्म अर्थात **वाहगुरु** के स्वरूप के विभिन्न पक्षों को निरूपित करती हैं। यह हम प्रारम्भ से ही कह चुके हैं कि प्राकृतिक शक्तियों में देवत्वारोपण तथा देवाधिदेव के प्रति स्थापित आध्यात्मिक उद्भावनाएँ 'ब्रह्म' को परिलक्षित करती हैं। जहाँ उपनिषदों में ब्रह्म को (प्राणशक्ति) जगत का आधार मानते हुए विशिष्ट रूप से स्थापित किया है वहाँ वैदिक कर्मकाण्ड को अपराविद्या निरूपित करते हुए उसे अध्यात्म से जोड़ा गया है। उपनिषदों के उपरान्त वैदिक देवाधिदेव एवं उपनिषदों का ब्रह्मगीता में पुरुषोत्तम-सिद्धान्त के रूप में स्थापित हुआ है, जिससे ब्रह्म की सत्ता-स्वरूप को सुनिश्चित तथा सुसम्बद्धित रूप उपलब्ध हुआ।

परवर्ती भारतीय दर्शन चिन्तन-धारा का मूल उत्स गीता के पुरुषोत्तम सिद्धान्त का प्रणम्य ब्रह्मस्वरूप सोलहवीं शती तक दर्शन-परम्परा का आधार बना रहा। 'आदिग्रन्थ' अर्थात 'गुरुग्रन्थ साहिब' में प्रतिपादित ब्रह्म अथवा 'वाहगुरु' सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताओं का पर्यावलोकन उपर्युक्त सन्दर्भित अध्यात्म अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में करना समीचीन होगा।

वस्तुतः रहस्यवाद को किसी सुनिश्चित एवं प्रामाणिक परिभाषा में बाँधना अत्यन्त दुष्कर है। मानो सृष्टि के व्यापार की प्रथम छाया रहस्यमयी और अदृश्य परिधान ओढ़कर ही अवतरित हुई थी। यही कारण है कि सम्पूर्ण विश्व-साहित्य उस नियन्ता एवं स्रष्टा की रचना के समक्ष नतमस्तक होता हुआ 'रहस्य' की अनिर्वचनीय मृदु छुवन के एहसास-मात्र से भी अवाक होकर रह जाता है। फिर भी हम देखते हैं कि उस अखण्ड एवं अगोचर सत्ता के प्रति अपनी **जिज्ञासा** को अनेक विद्वानों ने शाब्दिक चित्रण में ढालने का प्रयास किया है। उनकी शाब्दिक अर्चनाएँ रहस्यमयी असीम सत्ता के **सापेक्ष** सत्य को बुद्धि एवं वाणी द्वारा प्रकाशित करने का प्रयास कर सकती हैं, जबकि 'निरपेक्ष' सत्य का प्रकाशन उनकी शक्ति के बाहर है। यदि कोई जिज्ञासु किसी सत्य के प्रति समाधानात्मक सन्तुष्टि प्राप्त कर ले तो उसकी गोपनीयता विनष्ट हो जाएगी। इस स्थिति में रहस्यवाद निरपेक्ष सत्य मानकर चलने की वस्तु है—अनुभवों पर आस्था रख़कर स्वीकार करने की वस्तु है—वह तर्कसाध्य नहीं हो सकती। दार्शनिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद परमात्मा के एकान्तिक, व्यक्तिगत, पराबौद्धिक ज्ञान तथा सम्बन्ध को स्वीकार करता है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद सत्य-ज्ञान तथा धारणा को मूर्त स्वरूप देने के लिए एक उग्र नैतिक एवं बौद्धिक प्रयत्न को जन्म देता है।

धर्म और दर्शन युगीन परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होते रहे हैं। उपनिषदों एवं अरण्यकों की विचारधाराएँ देवतावाद की परिवर्तित चिन्तनभूमि कही जा सकती है। कालान्तर में भौतिक जगत से परे अस्तित्वमयी पूर्ण परमसत्ता की अवधारणा को बल मिला, परन्तु सांख्य, वैशेषिक तथा न्याय को पोषित करने वाली विचारधारा ने उक्त अवधारणा की अवमानना करते हुए उसका घोर विरोध किया। पारब्रह्म की अवधारणा को अस्वीकारने वालों में बौद्ध एवं जैन मतावलम्बी भी रहे हैं। वस्तुतः औपनिषदिक विचारधारा का खण्डन-मण्डन गीता के पुरुषोत्तम-सिद्धान्त की स्थापना होने तक अबाध चलता रहा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह तथ्य सर्वविदित है कि ऋग्वेद के रचना-काल में **ब्रह्माण्ड** की रचना-प्रक्रिया की रहस्यात्मकता को परमसत्ता का रूपान्तरण मान लिया गया था। यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड का भौतिक स्रोत आदिपुरुष को स्वीकार करने वाली अवधारणा को परवर्ती अध्यात्मवादी दर्शनों में स्पष्ट प्रतिफलित देखा जा सकता है। **ऋग्वेद** का 'नासदीय सूक्त' तो परमसत्ता की निर्गुण-निराकार अवधारणा का मूल प्रतिपाद्य एवं मूलाधार स्वरूप माना जाता है। उस **परमपुरुष** अथवा परमसत्ता की रहस्यमयी अस्तित्वावस्था अथवा उसके उद्‌भवविषयक सुनिश्चित संकेत तक दे पाना असम्भव है। हो सकता है कि इसके बारे में स्वयं सत्ता ही भिज्ञ होते हुए भी अनभिज्ञ हो :

नासदासीन्नों सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीयः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न शत्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वध्या तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास.....॥

(ऋग्वेद, 10-129)

'आदिग्रन्थ' अर्थात 'गुरुग्रन्थ साहिब' में निरंकार को सर्वव्यापक एवं अपरम्पार स्वीकार किया गया है। गुरुनानक वाहगुरु को 'अकालमूर्ति' इसलिए कहते हैं कि काल परमतत्त्व अर्थात ब्रह्म की भाँति अनादि एवं शाश्वत सत्ता नहीं है। यदि **काल** विषयक विभिन्न दर्शनकारों एवं मतावलम्बियों की अवधारणाओं का मनन करें तो पाएँगे कि ब्रह्म का स्वरूप इसी 'कालतत्त्व' द्वारा जीव को उसकी जीवरूपता का अनुभव कराता है। यही तथ्य ब्रह्मा को अद्वैत तत्त्व अथवा अनादि सत्ता के रूप में स्थापित करता है। कश्मीर-शैव दर्शनानुसार काल एक स्वतन्त्र तत्त्व अपितु शिवेच्छा के अनेकानेक रूपों में एक विशिष्ट रूप है।

कालः सूर्यादिसंचारस्तत्तत्पुण्यादि जन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः। (ई०प्र०, 2-1-3)

शैव सिद्धान्त ही 'कालतत्त्व' को जीव के बाह्य व्यक्तित्व को सीमित बनाए रखने का माध्यम मानता है। तद्‌स्वरूप जीव की क्रिया और ज्ञान की शक्तियाँ अपनी-अपनी सीमा में बँधी रहती हैं। 'कालतत्त्व' ही जीव के रागतत्त्व को अमर्यादित होने से बचाता है क्योंकि जीव परिसीमित चैतन्य है। इसलिए 'काल तत्त्व' के समक्ष परवश है।

'आदिग्रन्थ' सिखों के पंचम गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें गुरुनानक परम्परा के लगभग सभी गुरुओं (दशम गुरु गोविन्द सिंहजी को छोड़कर) एवं भारत के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सूफी तथा सन्त कवियों की वाणियाँ संकलित हैं। 'आदिग्रन्थ' में ब्रह्म के स्वरूप को 'वाहगुरु' कहा गया है तथा उसमें उसकी रहस्यमयी सत्ता का दार्शनिक विश्लेषण उपलब्ध होता है। विशेषतया पारब्रह्म की सत्यता का प्रतिपादन ही 'आदिग्रन्थ' में संकलित काव्य वाणी का प्रतिपाद्य है। इस 'ग्रन्थ' के 'मूलमन्त्र' में ही पारब्रह्म के रूप-स्वरूप की महानता एवं विराटता को व्याख्यायित किया गया है। 'आदिग्रन्थ' में परमसत्ता को अनिर्वचनीय चैतन्य स्वीकार किया गया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाश-विमर्श से परिपूर्ण 'वाहगुरु' (अनिर्वचनीय चैतन्य) की इच्छा ही उसकी शक्ति है। उसे अनुत्तर मानते हुए केवल सुविधा के लिए ही **एक** का अभिधान किया गया है। निमीलन एवं उन्मीलन उसका स्वभाव है। ब्रह्माण्ड के साकार होने की अवस्था के स्वरूप का परिचय देने के लिए गुरुनानक उसे 'ओंकार' कहते हैं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि **वाहगुरु, अकालमूरति** कैसे हुआ। गुरुनानक देवजी द्वारा उच्चारित उनकी 'जपुजी साहिब' रचना का प्रथम मूल मन्त्र है : '१ओंकार सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरू अकालमूरति अजूनी सैभं गुरपरसादि॥' मूल मन्त्र पारब्रह्म 'वाहगुरु' को त्रिकालातीत सत्ता बताते हुए उसके प्रकाश-विमर्शयुक्त स्वरूप एवं सत्ता को स्वीकारता है। वाहगुरु अन्तर्यामी चैतन्य है जो सर्वव्यापी है, काल की शक्तियाँ उसकी असीमता को किसी ससीमता में नहीं बाँध सकतीं। क्योंकि वह 'अकाल' है। वह ब्रह्म 'अकालमूरति' है, अकाल पुरुष है तथा अपनी सृष्टि में स्वयं ही समाहित है। वह स्वयं सृष्टि का सृजनकर्ता है, वह उसके भीतर निमज्जित है, उसी ने उसे विस्तारातीत निर्मित करके स्वयं उसे अपनी इच्छानुसार सुसज्जित किया है :

सागर महि बूँद बूँद महि सागर कवण बूझै बिछि जाणै,
उद्भुज चलत आपि करि चीनै आपे तत् पछाणै। (रामकली म०, 1)

सब महि जीउ् जीउ् है सई
घट घट रहिया समाई। (मल्हार अष्टपदीआँ, म०, 1)

इसी एक मूल मन्त्र में ही सिख दर्शन एवं अध्यात्म में परिवेष्टित एवं तरंगायमान रहस्योर्मियों की अनुभूति होती है। इस मूलमन्त्र का 'ओंकार' 'गुरुग्रन्थ साहिब' में, उसकी प्रत्येक वाणी में, अपने सम्पूर्ण गाम्भीर्य नाद एवं सच्चिदानन्दमयी अल्हादिता सहित विचारित है। यही 'ओंकार' सृष्टि की सर्जना का मूल तत्त्व है। छांदोग्य उपनिषद् में तो **ओंकार** ही ब्रह्मसत्ता है जो समस्त जगत के विस्तार का कारण है। माण्डूक्योपनिषद् भी **ओंकार** को सृष्टि की उत्पत्ति का मूल मानते हैं :

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति
सर्वमोंकार एव। यच्चन्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एवं।

१ओंकार की प्रथम पंक्ति में निहित अभिप्राय निष्प्रयोजन नहीं अपितु यह ओंकार से भी पूर्व अवस्था और उसकी मूल विरंचना का सांकेतिक अभिधान है। आदिग्रन्थ में संकलित गुरुओं की वाणी इसी १ओंकार को नानात्व में एकत्व के रूप में ध्वनित करती है। भले ही यह अवस्था उस 'वाहगुरु' की पूर्णद्वैत सत्ता की इच्छाशक्ति को साकार करती हुई दृष्टिगोचर होती है, परन्तु इससे उसकी अद्वैतता अक्षुण्ण है :

साहिब मेरा एको है। एको है भाई एको है॥ (1) (रामकली म०, 1)

'ओंकार' शब्दब्रह्म (पारब्रह्म) का वह स्वरूप है, जिससे समस्त जड़-जंगम का व्यापार अनवरत चल रहा है। '१ओं' परमतत्व की अभेदता के पश्चात की भेदाभेदावस्था है। दशम गुरु गोविन्द सिंह जी अपने 'विचित्तर नाटक' में '१ओं' की इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं :

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रिथिम काल जब कीआ पसारा।
ओंकार ते त्रिसटि उपारा॥

आदिग्रन्थ की गुरुवाणी में, उसके अक्षर में वाहगुरु की इच्छा, लीला स्पन्द का साकार रूप हम '१ओंकार' के साथ परिवेष्टित पाते हैं।

बाजीगर जैसे बाजी पायी।
नाना रूप भेख दिखलायी॥
सांग उतारि थंमिउ पासारा॥
तब एको एकंकारा॥ (गु०ग्रं० साहिब, पृ० 296)

वस्तुतः परमतत्त्व 'पारब्रह्म' ने 'ओंकार' के रूप में स्वयं अपना अस्तित्व प्रकाशित किया है। उसकी इच्छा ही सर्वोपरि है। परन्तु यहाँ इतना स्पष्ट करना समीचीन होगा कि 'आदिग्रन्थ' में प्रकाशमान गुरुओं की वाणी में 'ओंकार' के स्थापित स्वरूप में तथा वैष्णवाचार्यों, शंकराचार्य और इस्लाम द्वारा मान्य 'एकेश्वर' के स्वरूप में हम पूर्णतया भिन्नता का अनुभव करते हैं।

प्रकृति, सत्य एवं नाम—संसार की प्राकृतिक रचना के मूल तत्त्वों का विश्लेषण भी गुरुवाणी में पूर्ण स्पष्ट एवं व्याख्यायित रूप में प्राप्त होता है। इन तत्त्वों को विश्लेषित करते हुए गुरु साहबान भारतीय एवं इरानी विचारधाराओं की ओर भी संकेत करते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए वे सांख्यदर्शन के पंचतत्त्व (अग्नि, वायु, जल, धरती और आकाश) का वर्णन तो करते ही हैं, साथ ही उपनिषद्कारों द्वारा मान्य तीन तत्त्वों का भी स्पर्श इसलिए करते हैं कि ये सभी तत्त्व 'सत्य' से ही उत्पन्न हुए हैं। परन्तु इतना विचारणीय है कि ऐसा करते समय उन्होंने तत्त्वों की संख्या को प्रमुखता न देते हुए एकमात्र इस 'सत्य' पर बल दिया कि सभी तत्त्व एक ही तत्त्व से प्रकट हुए हैं। एक वही तत्त्व समग्र पदार्थों में सामूहिक रूप में विराजमान है तथा जीवात्मा तथा प्रकृति की विकासोन्मुख परिस्थितियों के अनुरूप उसने स्वयं को पृथक् तत्त्वों में ढाला है :

एकस ते सबि रूप हहि रंगा।
पउण पाणी बैसन्तर सब सहलंगा।
भिन्न भिन्न बेखै हरि प्रभ रंगा।
एक अचरज ऐको है सोई
गुरुमुखि विचारे विरला सोई। (गउड़ी गुआरेरी, म०, 3)

परन्तु 'वाहगुरु' के सत्य स्वरूप को हम उसकी स्थिर सत्ता में अनुभव कर सकते हैं इसीलिए वह परमतत्त्व त्रिकालातीत भी है। 'सति' की महत्ता 'नामु' के साथ निमज्जित हो जाने पर पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। ऐसा होने पर **नाम** भी 'सत्य तत्त्व' के अनुरूप है, तभी तो वह 'सतिनामु' है :

सचै सभि ताणि सचै सभि जोरि.... (आ०ग्रं०, वार आसा, म० 1)

इतना ही नहीं, आदिग्रन्थ की गुरुवाणी समस्त जगत को (सचु) सत्य स्वीकार करती है। 'वाहगुरु' ही केवल 'सत्य तत्त्व' है, इसलिए जगत की सत्यता भी उसी पर आधारित है। वाहगुरु अविनाशी है, अनास्तित्त्व होते हुए भी अस्तित्वमयी रहता है। भले

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही नामरूपात्मक जगत विखण्डित हो जाए। सम्पूर्ण जगत एवं प्रकृति की उत्पत्ति तो केवल 'एक ही तत्त्व' से ही हुई है :

विसुए चसिआ घड़ीआ पहरा थिती वारी माह् होआ।
सूरज, ऐकौ रुति अनेक, नानक करते के केते वेस।

(कीरतन सोहिला, म० 1)

सिख गुरुओं ने सांख्य दर्शन के अनुसार 'प्रधान' को स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार कर प्रकृति-विकृति परिणाम की स्थिति को अस्वीकारा है। उन्होंने परमतत्त्व (परमात्मा) को सारे ब्रह्माण्ड का निमित्तोपादनकारण माना है। उनके अनुसार वाहगुरु का कर्तृत्व ऊर्णनाभ की भ्रान्ति उसकी इच्छा या स्वभाव ही है। वह इसी स्वभाव के अन्तर्गत सतत भाव से सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है और संहार के रूप में बार-बार अपने स्वरूप को ऊर्णनाभ की भ्रान्ति ही निमीलित भी कर लेता है।

डॉ० आहलूवालिया के मतानुसार 'साति नामि' जीवन और जागतिक सत्य के मध्य की स्थिति का द्योतक है। इसे न तो अलौकिक ब्रह्म और न ही लौकिक सगुण के साथ सायुज्य करना उचित है, अपुति 'सतिनामि' दोनों अवस्थाओं का केन्द्रबिन्दु है। सिख दर्शन ब्रह्म की दोनों अवस्थाओं के साथ भारतीय दर्शन में स्वीकृत ब्रह्म के त्रिगुणात्मक स्वरूप को भी स्वीकार करता है। गुरुवाणी में भी ब्रह्म के पारम्परिक तीन स्वरूपों को यदा-कदा समुच्चरित एवं प्रश्रुत अनुभव करते हैं :

इधै निरगुन ऊधै सरगुन केल करत बिचि सुआमी मेरा।

(आदिग्रन्थ, पृ० 827)

जपुजी साहिब के रचयिता अथवा मूलमन्त्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णिक उच्चारण में अनन्तानन्त मण्डलों एवं कोटि-कोटि आकाशगंगाओं तथा ग्रहों के स्रष्टा परमतत्त्व के स्वरूप का वर्णन करने वाले सिखमत के प्रवर्तक गुरुनानक देव जी की सम्पूर्ण वाणी मुख्यतः रहस्यदर्शन अथवा दर्शनरहस्य का साकार चित्रात्मक शब्दब्रह्म रूप है। 'आसा दी वार' में गुरुनानक 'नामि' के महत्त्व का बहुत ही सुन्दर प्रतिपादन करते हैं :

आपीणै आपु साजिउ आपीणै रचिउ नाउ।
दुई कुदरति साजीऐ करि आसण् डिठो चाउ॥ (आदिग्रन्थ, पृ० 463)

यहाँ 'आपणै आपु साजि (उ)' से तात्पर्य है स्वतः निर्मित निर्गुण निरंकार तथा दुई कुदरत (ई) भौतिक प्रपत्ति का द्योतक है। इन दोनों के मध्य 'आपीणै रचिउ नाउ' का स्थित होना इस सत्य की ओर इंगित करता है कि यह 'नामि' अपनी पृथक सत्ता रखता है तथा कुदरत (ई) अथवा 'सगुण साकार' के उच्चावस्था पर आसीन है। गुरु इस सत्य और नामि (सतिनामि) की परमावस्था का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उसके सत्य स्वरूप एवं संश्लिष्टता को पर्यवेक्षित करते हैं :

सचखण्डि वसै निरंकार। करि करि वेखै नदरि निहाल।

(आ०ग्रं०, पृ० 7)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जहाँ **नामि** निरंकार से सीधा सम्बन्ध रखता है वहाँ 'सत्य' को 'सचिखण्ड' से जोड़ा जाना स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'सतिनामि' स्वत: उस पारब्रह्म (वाहगुरु) की सत्यता एवं नामिस्वरूप परिपूर्णता का परिचालक है। 'सत्य' जीवन की दृष्टि है तथा गुरुसिख जिज्ञासु की दृष्टि 'सचिखण्ड' को अपलक निहारती रहती है। गुरुनानक की रहस्यवादिता उनके शब्दों (वाणी) के भीतर अत्यन्त गहरे आनन्दातिरेक एवं उल्लसित होते हुए अपने वाहगुरु (ब्रह्म) से तादात्म्य स्थापित करती दृष्टिगोचर होती है।

वस्तुत: प्रत्येक रहस्यवादी अनुभव निजी समर्पण की अपेक्षा रखता है। परन्तु अधिकांशत: यह निजत्व का स्वत: सम्पूर्ण समर्पण एवं ईश्वरेच्छा के समक्ष मानवेच्छा को नकारने की माँग करता है।

बाबा वैसाखासिंह एक प्रसिद्ध सिख रहस्य साधक थे। वे अपने निजी अलौकिक अनुभव के आधार पर एक रहस्य साधक की व्याख्या करते हुए कहते हैं : ''रहस्यवादिता ऐसी उर्ध्वचेतना है जो मरणोपरान्त भी स्थित रहती है। रहस्यवादी का पुनर्जन्म परमात्मेच्छा के अनुसार विशेष ध्येय एवं पूर्व नियोजन स्वरूप होता है। वह एक ऐसे व्यक्ति के सदृश विश्व में पुन:प्रवेश लेता है, जैसे कोई किसी डूबते प्राणी को बचाने के लिए कुएँ में प्रविष्ट होता है। ब्रह्म के दोनों रूप कुएँ में होते हैं, जबकि एक का जीवन संकट में होता है, दूसरा अपनी इच्छानुसार डूबते व्यक्ति को बचाने हेतु उसमें उतरता है।'' रहस्यवादी का पुनर्जन्म होता है, वह बारम्बार आता है, परन्तु उसका आना उद्देश्यपूर्ण होता है और वह भी वाहगुरु (ब्रह्म), निरंकार की इच्छानुसार। क्योंकि उस परमपुरुष परमात्मा की आज्ञानुसार 'समस्त' लीला हो रही है। उसकी आज्ञा में ही उत्पत्ति एवं विनाश होता है। सभी जीव एवं पदार्थ उसी द्वारा निर्मित एवं ध्वस्त होते हैं। वह स्वयं ही जीवों को संसार-मार्ग पर भटकाता एवं उन्हें दण्डित भी करता है। सर्वस्व उस 'वाहगुरु' के अधीन है। उसकी अपारशक्ति ही आज्ञा अर्थात 'हुकम' है। गुरु नानक कहते हैं कि वाहगुरु का 'हुकम' अत्यन्त प्रबल एवं असीम है कि उसके 'हुकम' के अतिरिक्त अथवा उससे परे कोई वस्तु अथवा पदार्थ नहीं :

हुकमै अन्दरि सभु को बाहरि हुकम न कोय॥
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोय ॥ (जपुजी)

फ्लिंट अपनी प्रसिद्ध दर्शन पुस्तक 'थिज़्म' में सृष्टि-रचना के मूल में इसी 'हुकम' का होना स्वीकार करते हैं। वह स्पष्ट करते हैं कि ''अब हम भली प्रकार जानते हैं कि नारी अथवा पदार्थ मूलत: एक ऐसी शक्ति है जो उसकी आज्ञा (हुकम) रूपी शक्ति का उजास है, इस कारण समस्त संसार परमात्मा की हुकम का कारणरूप है। ईश्वरीय आज्ञा (हुकम) न केवल प्रकृति का कारण अथवा उसको वशीभूत करने वाली शक्ति है, अपितु विश्व का निर्माण इसी 'हुकम' रूपी मसाले से हुआ है तथा यही 'हुकम' इसका अस्तित्व एवं शरीर है।''

तृतीय गुरु अमरदास अपनी गुरुवाणी में इसी 'वाहगुरु-वाणी' का अलौकिक चित्रण करते हुए कहते हैं कि उसके 'हुकुमानुसार' खण्ड, ब्रह्माण्ड तथा पाताल उत्पन्न

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हुए, चहुँ ओर उसी के 'हुकम' का प्रसार हो रहा है। वह स्वयं अपने 'हुकम' को प्रत्यक्ष, साकार निहार रहा है :

हुकमी सहजे स्रिसटि उपाई
करि करि वैखै आपणी वडिआई। (मारुसोलहे, म० 3)

उपनिषद् मुख्यतः पराविद्या (अध्यात्मविद्या) प्रधान होने पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से भी सम्पृक्त है। यदि अनादि आत्मतत्व से सृष्टि-रचना को उपनिषद् मानते हैं तो दूसरी ओर उनमें पदार्थ के अन्तर्निहित गुण को जगत की रचना, उसकी स्थिति एवं गति का परिचायक माना गया है :

तस्माद्वा ए तस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायः, वायोरग्नि, अग्नेरापः, अद्म्यः पृथ्वी, पृथिव्या औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः.... ॥

(छान्दो० 340, बृ० 340, तैत्ति० 340.2-1-1, 6-2-1/3, 5-5-1)

आदिग्रन्थ की गुरुवाणी भक्तहृदयों एवं सन्तों के प्राणतत्त्व से निःसृत निश्छल उद्वेलित रहस्योर्मियों का काव्यमयी स्वरूप है। निर्गुण सन्तों की शिरोमणि परम्परा में आने वाले सिख गुरुओं की वाणी में मुख्यतः भक्ति का स्वर मुखरित होता है, जो कि आत्मनिवेदनात्मक भाव-प्रवणता से आपूर्णित है। उनकी वाणी में प्रकाशित जीव के स्वरूप की दार्शनिक चिन्तन भूमि अन्य भारतीय दार्शनिक अवधारणाओं से पर्याप्त विभेद रखते हुए भी अपनी भक्ति-साधना की विपुलता के कारण वैष्णव भक्तों की विचारधारा से सम्पृक्त दृष्टिगोचर होती है। परन्तु आदिग्रन्थ में वाहगुरु के स्वरूप को परिलक्षित करते हुए यह कहना समीचीन होगा कि सिखगुरु पराद्वैतवादी अथवा पूर्णाद्वैतवादी सन्त दार्शनिक हैं। जीव एवं जगत को वे सर्वव्यापी सत्ता वाहगुरु से भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नहीं मानते। वाहगुरु (ब्रह्म) ही एकमात्र अनादि सत्ता है। वह प्रकाश-विमर्श सम्पन्न चैतन्य है तथा जीव अयथार्थ न होकर वाहगुरु का ही सीमित चैतन्य स्वरूप है। इस प्रकार गुरुवाणी जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद को स्वीकार नहीं करती :

धातु मिलै फुनि धातु कउ लिव लिवै कउ धावै।
गुरु परसादि जाणीऐ तउ अनुभउ पावै.... ॥

(आ०ग्र०, पृ० 724)

जिस प्रकार तारंग (सागर) और तरंग की अभेदता निस्सन्देह है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं। गुरुओं द्वारा प्रकाशमान यह अभेदता विशिष्टाद्वैत के अंशांशि-भाव से भी भिन्नता लिए हुए है। वस्तुतः जीव वाहगुरु के स्फुरण, स्पन्द, हुकम (ईश्वर) द्वारा प्रदत्त उसका अपना ही सीमित चैतन्य है, यही कारण है कि जीव का अस्तित्व जगत की नाँई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है :

तू दारआउ दाना बीना मैं मछुली कैसे अन्तु लहा॥

(आ०ग्रं०, पृ० 25)

पंचम गुरु अर्जुनदेव की वाणी गुरुनानक देव जी की वाणी की रहस्य भूमि का मूल अंश कही जा सकती है। क्योंकि उनकी वाणी का रहस्य-दर्शन 'गुरमति' सिद्धान्त से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जुड़ा हुआ है जो उन्हें **गुरुनानक** से लेकर **गुरु अंगद, गुरु अमरदास** एवं **गुरु रामदास** द्वारा विरासत में उपलब्ध हुआ। गुरु अर्जुन वाहगुरु (ब्रह्म) एवं जीव की अभेदता पर बल देते हुए इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि यही अभेद क्रमशः भेदाभेदावस्था की असीमता को विच्छेद कर भेदावस्था को और उस समय प्रवृत्त हो जाता है, जब वाह-गुरु अपनी माया अर्थात इच्छा का पर्दा उस पर डाल देते हैं। यही स्थिति जीव के जीवत्व होने की है। ''यही 'गुरमति रहस्यवाद' प्रभु-प्रेम, भक्ति, कीर्तन, सहज, भाणा, विरह, विवेक, स्वत:समर्पण नाम-सिमरन आदि लक्षणों से अलंकृत होता है। सूफीमत के विशेष लक्षण—इश्क, रज़ा, मुर्शद, हमाउस्त आदि भी इसी में समाहित हैं। गुरु अर्जुनदेव का रहस्यवादी अनुभव वेदान्त के दर्शनवाद से भिन्न है, योगमार्ग के अधूरे शून्यवाद से पृथक है, साथ ही ईसाई एवं इस्लामी मतों के रहबानी तथा रियाज़ती हठ-कर्म और तपवाद से भी भिन्नता रखता है।'' गुरु अर्जुनदेव के अनुसार भेदावस्था की स्थिति में जब जीव 'वाहगुरु-इच्छा' के विलास के साक्षात्कार की अनुभव-स्थिति से नीचे उतर कर अपने आपको कर्मों का कर्ता और फल का भोक्ता मानने लगता है तो उसे अपने इस 'आपाभाव' से मुक्त होने के लिए सद्‌गुरु की शरण में जाना पड़ता है—

कोटि अघा सभि नास होहि सिमरत हरिनाउ॥
मनचिन्दे फल पाई आहि हरि के गुण गाउ॥
जनम मरण भै कटी अहि निहचल सच थाउ॥

(आ०ग्रं०, पृ० 707)

जव जीवात्मा को कर्मों के निरन्तर घर्षण से खण्डित हो रही देह के मिथ्यावरण का आभास होने लगता है तो वह देह को इस प्रकार त्याग देती है जिस प्रकार सर्प अपनी कुरूप एवं निकृष्ट केंचुली को उतार फेंकता है—

काचै करवै रहे न पानी
हँस चलिआ करिआ कुमलानी॥ (आदिग्रन्थ, सूही कबीर)

आदिग्रन्थ की गुरुवाणी में अध्यात्म और दर्शन का मनोहारी उन्मीलन 'वाहगुरु' एवं जीव के साक्षात्कार को प्रतिपादित करता है। यही उन्मीलनता भक्ति-योग के सोपानों को पार करते हुए जीव को उस समय **गुरमुख-जीव** की संज्ञा से अलंकृत करती है जब वह 'वाहगुरु' (परमात्मा) की भक्ति में पूर्णतया समाधिस्थ हो जाता है। गुरुओं के अनुसार सन्त ब्रह्म अथवा 'वाहगुरु' की सुहागिन नारियाँ हैं जो अपने प्रभु (वाहगुरु) के साथ रमण करती हैं। परमात्मा को प्राप्त करने अथवा उससे साक्षात्कार करने के लिए जीव का मिष्टभाषी होना, सन्तोष का शृंगार करना, सहज भाव तथा गुणों से सम्पृक्त होना अनिवार्य समझा गया है। यही लक्षण गुरमुख की पहचान है। गुरुनानक गुरुमुख का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि गुरुमुख जपी, तपी एवं संयमी होता है। वह प्रतिपल हरि-नाम में तल्लीन रहता है। उसके भीतर लेशमात्र भी 'अहम्' का स्थान नहीं होता।

गुरुमुख जपतप संजमी हरि के नामि पिआरू॥
अहिनिसि भगति करे दिनुराती॥
हउमै मारि निचन्दु। (आ०ग्रं०, 29-30)

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुरुवाणी में जीव की स्थिति का बड़ा ही मनोमुग्धकारी तथा वाहगुरु को प्रिय उसके गुरमुख रूप का वर्णन करते हुए गुरु कहते हैं कि यह जीव शरीररूपी वृक्ष में निवास करता है जो सत्य स्वरूप वाहगुरु के नाम का चोगा चुगता रहता है, उसके नाम-रस का प्रतिपल पान करता रहता है। वही जीव इस प्रकार जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त रहता है।

पंखी बिरख सुहावड़ा सचु चुगै गुरभाइ॥
हरि रसु पीवै सहजि रहै उड़ै न आवै जाइ॥
जिन घरि वासा पाइआ हरि-हरि नामि समाइ॥

(आ०ग्रं०, पृ० 66)

इस प्रकार हमें गुरुवाणी में जीव के स्वरूप का प्रतिपादन उस सत्य की चरमोपलब्धि में होता दिखाई देता है जिसकी अन्तिम परिणति वाहगुरु अर्थात परमात्मा के साक्षात्कार में होती है। यदि हम अन्य भारतीय दर्शनों के साथ आदिग्रन्थ के जीव के प्रति दर्शन को समकक्ष रखें तो इस तथ्य को हम नकार नहीं सकते कि भले ही आदिग्रन्थ की दार्शनिक मान्यताएँ पराद्वैत के अनुरूप ही हैं, परन्तु जीव-स्वरूप सम्बन्धी उनकी अवधारणाएँ अद्वैतवेदान्त की मान्यताओं से नितान्त मेल नहीं खातीं। कुरान में वर्णित इस्लामी एकेश्वरवाद भी आदिग्रन्थ की मान्यता से नितान्त भिन्नता लिए हुए है। जबकि आदिग्रन्थ के एतत्सम्बन्धी चिन्तन से यह स्पष्ट उद्घाटित होता है कि उसकी अद्वैतवादी विचारधारा जीव के अनादि अस्तित्व अथवा वाहगुरु से भिन्न उसके पृथक स्वरूप को कदाचित स्वीकार नहीं करती।

सिख गुरुओं की वाणी जहाँ निर्गुण भक्ति की चरमावस्था को पर्यवेक्षित करती है वहाँ उनमें 'वाहगुरु' (ब्रह्म) की इस अद्भुत सृष्टि एवं उससे सम्पृक्त जीव, माया, जगत आदि की समस्त अवस्थाएँ सर्जक की सर्जनात्मक लीला की पूर्व नियोजित नियमितताएँ हैं। जैसे हम अन्य भारतीय दर्शनों की मान्यताओं के साथ-साथ गुरुवाणी में वर्णित जीव के स्वरूप का भिन्न अथवा अभिन्न अवस्थाओं का अवलोकन कर चुके हैं, वैसे ही उसमें माया एवं जगत सम्बन्धी अवधारणाओं की स्वीकृत तथा अस्वीकृत विचार सरणियों में गुह्यात्मक रहस्योर्मियों का भी स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं। गुरुओं के मतानुसार माया को जीव की प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करना चाहिये। उन्होंने माया को ठगिनी, सर्पिणी, कमला, ठगमूरि, विष, ठगनीरा तथा कुसुम्भी रंगाधि अभिधानों से अभिहीत करते हुए और इन स्थितियों को माया की प्रवृत्ति का अनुमूलक अन्तरभाव मानते हुए उन्हें वाहगुरु से विमुख करने वाला पदार्थ कहा है। गुरुनानक माया को वाहगुरु की इच्छा अथवा 'कुदरति' न मानते हुए उसे जीव की मनोवृत्ति विशेष के रूप में चित्रित करते हैं।

उनके अनुसार वाहगुरु की रहस्यमयी एवं अनिर्वचनीय सत्ता का किंचितमात्र भी आभास जीव केवल उसकी शरण में जाकर उसकी कृपादृष्टि द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। उसकी 'कुदरति' तो माया का मायावी स्वरूप धारण किए हुए लगती है, परन्तु स्वयं माया जब तक अपने वाहगुरु की गोपनीय एवं मायातीत सत्ता में निमज्जित नहीं हो जाती, वह सरूपता से वंचित रहती है :

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माइआ का रूपु सभु तिसते होइ॥ (आ०ग्रं०, पृ० 787)

आदिग्रन्थ में संकलित सन्तों की वाणी भी गुरुवाणी का अटूट स्वरूप है। फरीद, कबीर, रविदास, दादू आदि की वाणियाँ परम-सत्ता अथवा वाहगुरु के स्वरूप एवं उसकी सृष्टि के बारे में, उसी प्रकार जीव, जगत, माया के बारे में जुड़े प्रश्नों की व्याख्या करते हैं जैसे सिख गुरुओं की गुरुवाणी। भक्त रविदास की वाणी भी माया के मायावी रूप में ग्रसित जीव की अवस्था को चित्रित करती है। वे जगत को स्वप्न का अंश मानते हुए माया के मायावी चक्र में फँसे जीव की स्थिति का वर्णन करते हुए बताते हैं कि "यह जीवात्मा अनेकानेक जन्मों का भोग कर चुका है, माया के मृदु मोहपाश में बँधकर भिन्न-भिन्न योनियों में भटकता रहा। माया तो समग्र सृष्टि को अपने वश में किया हुआ है। प्रत्येक हृदय में यह माया मोह का रूप धारण किए विराजमान है।"

गुरुनानक माया को जगत की रचना-शक्ति कहते हैं, परन्तु वे कबीर आदि अन्य निर्गुण सन्तों एवं भक्तों की भाँति अनेक मान्यताओं को माध्यम बनाते हुए अपनी बात नहीं कहते। उनकी वाणी का प्रमुख स्वर प्रभु-स्तवन होते हुए भी **वाहगुरु** को एकमात्र अद्वैत सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। भले ही उन्होंने अन्य भारतीय दर्शन प्रणालियों अथवा सरणियों का अनुसरण न करते हुए अपनी दृष्टि को उसी एक सत्ता के सत्य स्वरूप पर ही स्थिर रखा है, अत: उनकी वाणी परम सत्ता (वाहगुरु) की रचना अर्थात जगत को भी परमसत्य होने का कारण मानते हुए मिथ्या नहीं कहते। इसी प्रकार माया और जगत भी वाहगुरु की **कुदरति हुकम** अर्थात इच्छानुसार जीव को 'जन्मों' के चक्र में फँसाये हुए है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित लगता है कि उन के द्वारा स्वीकृत माया का स्वरूप इसलिए 'वाहगुरु' की रचनाशक्ति (कुदरति) से भिन्न है क्योंकि माया जीव के मन द्वारा पोषित होने वाली प्रकृति विशेष है। तृतीय गुरु अमरदास तो माया-मोह का प्रसार कर अपनी आनन्दमयी लीला को रचाने वाले परमात्मा पर न्योछावर होते हुए अपनी वाणी में कहते हैं :

माया-ममता करतै लाई।
एक हुकम कर स्रिसटि उपाई।
जा तिस भाणा ताजंमिआ परवारि भला भायिआ।
लिव छुड़की लगी त्रिसना मायिआ अमर वरतायि आ। (अनन्दसाहिब, म० 3)

गुरुनानक का माया सिद्धान्त सिख दर्शन और अध्यात्म में निहित गुरुओं के रहस्यवादी अनुभवों को पर्यवेक्षित करता है। गुरुनानक माया को 'वाहगुरु' (कुदरति) का अभिन्न अंग मानते हैं? परन्तु वे 'शंकराचार्य' की भाँति माया द्वारा ब्रह्म (वाहगुरु) के संवलित हो जाने के उपरान्त उसकी ईश्वर और जीव के रूप में प्रतीति भी नहीं मानते। उनका 'कुदरति सिद्धान्त' ही माया-सिद्धान्त है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक लगता है कि उनके 'कुदरति सिद्धान्त' में कश्मीरी शैवों के शक्ति तथा शुद्धाद्वैतवादियों के माया और अविद्या-सिद्धान्त की झलक तो दृष्टिगोचर होती है परन्तु उनका 'कुदरति सिद्धान्त' इन सिद्धान्तों का अनुशीलन करता हुआ नहीं लगता। वस्तुतः गुरुनानक का माया सिद्धान्त स्वतन्त्र और पृथक ढंग का है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुरुनानक जी की जगत-रचना सम्बन्धी अपनी अवधारणाएँ थीं जो कि अन्य भारतीय दर्शन-शास्त्रों में वर्णित विचार सरणियों से पृथक हैं। उन्होंने जगत को सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार अनादि रूप में स्वीकार नहीं किया अपितु उन्होंने वाहगुरु को निरंजन चैतन्य (मायातीत) कहा है। गुरुवाणी में **निरंजन** और **ख़सम** के अर्थ सिद्धों एवं योगियों के मत से नितान्त भिन्न हैं। आदिग्रन्थ के अनुसार 'आदि निरंजन' 'ख़सम' युगयुगान्तर तक शून्यावस्था (अन्धकार) में समाधिस्थ रहता है। यह वह परम तत्त्वावस्था है, जिसमें वह स्वयं अपनी ही महिमा में स्थित रहता है।

सिख गुरुओं की वाणी बारम्बार जगत को सत्य रूप में स्वीकार करती है। क्योंकि उनके विचारानुसार सत्य स्वरूप 'वाहगुरु' ने ही जगत की रचना की है। गुरुवाणी में जगत का अर्थ चित् (जीव) एवं अचित् (जड़ सृष्टि) है। वाहगुरु ने स्वयं को सर्वव्यापक साकार रूप देने के लिए निर्गुण से सगुण रूप धारण किया है। वह स्वयं तो त्रिगुणातीत है, परन्तु ब्रह्माण्ड के रूप में वह सगुण दृष्टिगोचर होता है :

सभ आपे तुधु उपाइकै आपै कारै लाई॥
तूँ आपे वेखि विगसदा आपणी वडिआई॥ (आ०ग्रं०, पृ० 83)

गुरमत रहस्यवाद में 'वाहगुरु' (ब्रह्म) के एकत्व स्वरूप में बहुत्व को भारतीय दर्शन के 'एकोहं बहुस्याम्' के सदृश ही अनुभव किया है। तदनुसार 'वाहगुरु' सर्वव्यापक चैतन्य स्वरूप है। जगत तो परमात्मारूपी शरीर का व्यक्त रूप है। गुरुनानक अपनी वाणी में सृष्टि का रूप धारण करने वाले उस परमतत्व (वाहगुरु) का स्तवन करते हुए कहते हैं कि अपनी इच्छानुसार जगत की रचना करने वाला स्वयं ही हृदयों एवं ब्रह्माण्ड का रहस्यदर्शी भी है :

तुधु आपे स्त्रिसष्टि सभ उपाई जी,
तुधु आपे सिरजि सभ गाई॥ (आ०ग्रं०, पृ० 10-11)

यहाँ यह तथ्य स्पष्ट करना अभीष्ट होगा कि गुरुवाणी में जगत और संसार को दो भिन्न अवधारणाओं के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इन अवधारणाओं पर एक ओर शुद्धाद्वैत की अवधारणाओं तथा दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञावादियों के जगत-सिद्धान्त की झलक देखने को मिलती है। जगत को 'वाहगुरु' का शरीर मानने वाली अवधारणा शुद्धाद्वैत के निकट लगती है। आदिग्रन्थ में मनमुख एवं गुरमुख जीवों की अहन्ताभाव में की गई चर्चा जीव के सांसारिक रूप को ही प्रतिबिम्बित करती है। परन्तु उसे इस अहन्ताभाव से तभी मुक्ति मिल सकती है जब वह गुरु-कृपा द्वारा 'वाहगुरु' के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले। वस्तुतः इतना कहना समीचीन होगा कि आदिग्रन्थ के जगत-सिद्धान्त को भारतीय-दर्शन परम्परा के सन्निकट देखते हुए भी उसके स्वतन्त्र चिन्तन एवं मौलिक अवधारणाओं को गुरमत रहस्यवाद की चिन्तन-भूमि मानना चाहिए। गुरुनानक देव जी के मूलमन्त्र में 'सैभंग' का महत्त्व उसके साथ जुड़े जगत-सिद्धान्त की मौलिक अवधारणा को प्रस्थापित करता है। उनके अनुसार वाहगुरु के एक शब्द 'हुकम' में से समस्त ब्रह्माण्ड इस प्रकार अवतरित हुआ, जिस प्रकार एक धारा से अनन्त नदियाँ प्रवहमान हो उठती हैं :

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कीना पसाउ एको कवाउ।
तिसते होए लख दरियाउ। (आ०ग्रं०, पृ० 6)

यह जान लेना अपेक्षित होगा कि ऋग्वेद के 'पुरुष' का स्वरूप सर्वात्मवादी है और यह सिद्धान्त वैदिक रहस्यवाद की एक विशिष्ट कड़ी है, जिसमें रहस्यमयी शैली द्वारा 'पुरुष' का आश्चर्यजनक वर्णन किया गया है। सांख्य दर्शन में 'प्रकृति एवं पुरुष' दो मूल तत्त्वों की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। परन्तु जहाँ ब्रह्माण्ड के कर्ता का प्रश्न है, सांख्य प्रकृति को 'पुरुष' के ऊपर स्थापित करता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर 'पुरुष' क्रियाहीन है। गुरुनानकदेव जी का 'पुरुष' कठोपनिषद् के 'पुरुष' के अनुरूप लगता है। कठोपनिषद् के अनुसार 'इन्द्रियों के आगे अर्थ, अर्थ के आगे मन, मन के आगे 'बुद्धि', बुद्धि के आगे महान आत्मा, आत्मा के आगे अव्यक्त तथा अव्यक्त से आगे 'पुरुष' है। इसी कारण **पुरुष को आदिकारण** कहा गया है।' गुरु जब 'पुरुष' को 'आदिपुरुख' कहते हैं तो उसमें उपनिषदिक पुरुष की ध्वनि गूँजती है। ब्रह्म गुणातीत होते हुए भी उस समय गुणों का भण्डार बन जाता है, जब साधक की रहस्यभावना पुरुष के निर्गुण-सगुण स्वरूप की स्थापना करती हुई दृष्टिगोचर होती है। साधक अपने 'परमात्मा' (आदिपुरुख) में उत्कृष्ट गुणों को आरोपित करते हुए उस पर बलिहारी जाता है। उन क्षणों में भाव-विह्वलता अपनी पराकाष्ठा को स्पर्श करने लगती है :

बलिहारी कुदरति वसिआ
तेरा अन्त न जाई लखिआ। (आ०ग्रं० महला, पृ० 469)

गुरुनानक परमात्मा को ही समस्त रचना का निमित्त एवं उपादान मानते हैं। उनकी वाणी में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि निर्गुण ब्रह्म का आलम्बनरहित सगुण स्वरूप भी देखने को मिलता है, इस स्वरूप का वह स्वयं ही सर्जक है :

आपे आपु उपाए विगसै.....।
आपि उपाएआ रचिओन पसारा....। (आदिग्रन्थ, पृ० 1035, 1076)

वस्तुत: परब्रह्म के विराट स्वरूप का ज्ञान गुणातीत होते हुए भी समग्र प्राकृतिक चेष्टाएँ उसके अनन्त गुणों का बखान करने में तल्लीन हैं। इसमें हम उस विराट के सगुण स्वरूप को स्वत: व्यंजित पाते हैं। गुरुनानक द्वारा रहस्यमय सत्ता का चित्रित स्वरूप अवर्णनीय है। फिर भी वे उस महान परमपुरुष की आरती **गगन में थाल रविचन्दु दीपक बने, तारिका मण्डल जनक मोती** कहते हुए उतारते हैं तो उस रहस्य सत्ता के अलौकिक स्वरूप की मनभावनी झलक को अवाक चक्षुओं में भरकर भावविभोर हो उठते हैं। श्री अरविन्द ने कवि की ऐसी अवस्था को 'इण्ट्यूटिव विजन' (अन्तर्दर्शन) की संज्ञा दी है जिसमें से लाँघते हुए वह सभी पीड़ाओं एवं दु:खों से असम्पृक्त हो जाता है और एक अनिर्वचनीय आनन्दलोक में निवास करता है। यह वह अलौकिक सौन्दर्यानुभूति है जो कवि के अन्तर को भेदने वाली सूक्ष्म दृष्टि का प्रतीक है। इसे ही भारतीय दर्शन में आनन्दमयकोश कहा जाता है। परन्तु यही दृष्टि जब एक योगी की तुरीयावस्था तक पहुँच

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाती है तो वह सौन्दर्यानुभूति रहस्यानुभूति बन जाती है। यही रहस्यानुभूति उस 'पुरुख' के साथ तादात्म्य करने में सहायक सिद्ध होती है।

निष्कर्ष

रहस्यवादी काव्य में हम रहस्यवाद को जीवनदर्शन के रूप में स्वीकृत करते हैं तो हमारी जिज्ञासु प्रवृत्ति किसी ऐसे स्वरूप को पहचान पाने के लिए ललक उठती है जो रहस्यानुभूति को अन्तरतम की गहराइयों में अनिर्वचनीयावस्था तक अनुभव कर सके तथा बाह्य रूप से उस अनुभूति का सामाजिकीकरण करता हुआ आध्यात्मिक अथवा रहस्यवादी मण्डलों से भी सम्बन्धित रहे। यह स्वरूप है रहस्यवादी साधक अथवा गुरमुख का। यही 'गुरमुख रहस्यवाद' सिख दर्शन एवं अध्यात्म की रहस्यानुभूति का विशद अवलोकन कराता है। वस्तुतः रहस्यवादी साधक और गुरमुख एक विश्वात्मक सत्ता में अटूट विश्वास रखते हैं। जब एक रहस्यवादी का आदर्श जीवन-दर्शन का आदर्श मान लिया जाए तो यह कैसे सोचा जा सकता है कि विश्वात्मक सत्ता की एकता तथा समग्रता को ग्रहण करने वाला साधक मानव समाज अथवा अपनी सामाजिकता से नयन मूँदकर आत्म-विस्मृत बना रहेगा।

सच्चा रहस्यवादी पुरुष अथवा साधक और गुरमुख तो उस एकात्म सत्ता की ही बात करता है, गुरुवचनों को तोलता है। उसी 'सत्य' का मार्ग बताने वाले सत्गुरु का अनुसरण करता है। आदिग्रन्थ की गुरुवाणी ऐसे रहस्यवादी अध्यात्ममयी साधक गुरुमुख का चित्रण करती है जिसका उस विश्वात्मक सत्ता (वाहगुरु), 'परमपुरख' में अटल विश्वास है। जो भौतिक अथवा लौकिक सुख को अल्प तथा अलौकिक सुख को स्थायी स्वीकार करते हैं। यह अलौकिक सुख (आनन्द) आत्मा का सुख है। आत्मा इसी आनन्द के साथ सम्पृक्त है। यह आनन्द भौतिक सुख की द्वन्द्वावस्था से नितान्त मुक्त है।

आदिग्रन्थ सिख दर्शन एवं अध्यात्म के अध्येता का गुरुवाणी द्वारा साकार दिग्दर्शन कराते हुए उसके रहस्यवादी साधक स्वरूप के विलक्षण लक्षणों का प्रतिपादन भी करता है। गुरुनानक के विचारानुसार ऐसे साधक की दृष्टि में सेवा का स्थान सर्वोपरि है। मानव-कल्याण की भावना उसके अन्तःकरण को पावन करती है तथा वह वाहगुरु के जीव (मानव) की सेवा करते हुए परम आनन्दावस्था में पहुँच जाता है :

सतिगुर सेवहुँ संक न कीजै। आसा माहि निरास रहीजै।
संसा दूख बिनासन सेवहु, फिर बाहुड़ रंग न ला आ।

(आ०ग्रं० मारुव्सोल्हे, पृ० 22)

उपर्युक्त चिन्तनधारा में, हमें आदिग्रन्थ की गुरुवाणी में सिख दर्शन एवं अध्यात्म में तरंगायित रहस्योर्मियों की ज्योतिर्मय छुवन से जिस आह्लादावस्था का अनुभव होता है, उसके आलोक में निष्कर्षतः इतना कहना समीचीन होगा कि सिखों के पंचमगुरु अर्जुनदेव जी द्वारा सम्पादित 'आदिग्रन्थ' में हम (प्रसिद्ध दार्शनिक सूफी-सन्त कवियों की वाणी में) जिस अद्वैत तत्त्व के निमज्जन का अनुभव करते हैं, वह भारतीय दर्शनों के रहस्यवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की मूल उद्भावना से अनुप्राणित होते हुए भी 'गुरमत रहस्यवाद' की साकार अभिव्यञ्जना के कारण अपनी पृथक मौलिक पहचान बनाए हुए हैं। 'गुरमत रहस्यवाद' में ब्रह्म और आत्मा का जो विशद विवेचन उपलब्ध होता है, वह गुरु नानक के **जपुजी साहिब,** गुरु अर्जुनदेव की **सुखमनी** तथा गुरु गोविन्द सिंह के **जाप साहिब** में निरूपित ब्रह्म (वाहगुरु) के स्वरूप की रहस्यभावना की मौलिकता की छाप लिए हुए है। 'गुरमत रहस्यवाद' की सभी विशेषताएँ अपने अभिनव स्वरूप एवं चिन्तनभूमि के कारण समस्त भारतीय दर्शनों में उपलब्ध रहस्य-भावना के समक्ष अपना मौलिक वैशिष्ट्य स्वरूप प्रतिबिम्बित करती हैं। यह रहस्यवादिता आध्यात्मिक सत्य की गह्वरता में अवस्थित एक ऐसे मानसिक दर्शन को प्रस्तुत करती है जो जीव की वाहगुरु (परमात्मा) के साथ तादात्म्यावस्था की ओर इंगित करता है। यदि मानव सांसारिक पदार्थों से मुख मोड़ कर एक ओर अपनी प्रवृत्ति को स्थिर करते हुए एक निश्चित आदर्श की प्राप्ति का यत्न करे तो उन क्षणों में उसका लक्ष्य सिद्धावस्था अर्थात साधना की चरमावस्था को स्पर्श कर लेता है। तब **भक्त और भगवन्त** (वाहगुरु) में अभेदता स्थापित हो जाती है। जब कोई प्राणी अपना निजत्व मिटाकर 'अकालपुरख' की **इच्छा** में समाहित हो जाए तो तादात्म्य स्थिति की उपलब्धि के मार्गदर्शन होते हैं। यह अभेदावस्था एक सिख रहस्यवादी का 'परमपुरख' में तल्लीन होने का संकल्प-मात्र नहीं, अपितु मानवीय जीवन की भाँति उसे जीवन का एक अनिवार्य कर्म स्वीकार करना है। इस प्रकार जब कोई प्राणी ऐसी अभिन्नता का अनुभव करे तो उसे उस **परमसत्य** की प्राप्ति होती है और वह रहस्यवादी सर्वव्यापी **परम-आत्मा** में लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में उसे सम्पूर्ण मानव-जगत उस **अकालपुरख** का प्रत्यक्ष स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा उसे स्वयं में उसके अंग-प्रत्यंग थिरकते एवं स्पन्दित अनुभव होते हैं :

इहा उहा तुमही तुमही ईह गरते मत द्रिड़िओ।
जब ते जानि पाई इह बाता तब कुसल खेम सब थीओ।
साध संग नानक प्रगासिओ आन नाही रे बीओ।

(आ०ग्रं० नट, महला 5)

सहायक ग्रन्थ

1. 'भारतीय दर्शन-परम्परा और आदिग्रन्थ'—डॉ० हरवंशलाल शर्मा
2. 'गुरमति विचार'—दीवान सिंह
3. 'सिख कॉन्सैप्ट ऑफ दी डिवाईन'—सम्पादक—प्रीतम सिंह
4. 'बींसवीं शताब्दी के हिन्दी एवं पंजाबी रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन'—लखबीर सिंह 'निर्दोष'

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री अरविन्द का अतिमानस तत्त्व और चिन्मयपुरुष

इन्द्रसेन
(सम्पादन—वसुन्धरा मिश्र)

मानव के लिए उसका अपना जीवन, प्रत्यक्ष ही, सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। जीवन क्या है तथा इसे कैसे सफल बनाया जा सकता है, इसे जानने की आवश्यकता है। उसे सुख-सम्पत्ति, वस्तुओं की इच्छा रहती है परन्तु उसका यह दृष्टिकोण बहिर्मुखी होता है। वह अपने दुःखों का कारण अन्य लोगों और परिस्थितियों में ढूँढ़ता है। परन्तु जहाँ पशु बहिर्मुख होता है, अपनी इन्द्रियों के विषयों से प्रेरित-प्रचालित होता है, वहाँ मनुष्य अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के सम्बन्ध में सजग हो सकता है तथा इसे सजगता-पूर्वक परिस्थिति के क्षेत्र में प्रेरित-प्रचालित कर सकता है।

भारतीय संस्कृति और दर्शन में 'आत्मानं विद्धि' ज्ञान तथा योग का प्रथम आदर्श रहा है। वेदों में अमर शब्दों द्वारा तथा उपनिषदों में आत्मजिज्ञासा द्वारा जीवन का प्रथम तथा पूर्णविषय माना। आत्मा और ब्रह्मविषयक खोज ही इस समय के आचार्यों और शिष्यों का विशेष कार्य था। बाद में संस्कृत-साहित्य के तथा मध्यकालीन सन्तों की वाणी में भी भारतीय संस्कृति की यह प्रेरणा तथा भारतीय स्वभाव की यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है।

श्री अरविन्द ने भी इसे अनेक रूपों में व्यक्त किया है। श्री अरविन्द कहते हैं, "ऊपर के चंद्र-तारागण महान और अद्‌भुत हैं, परन्तु कहीं अधिक महान और अद्‌भुत हैं वे चन्द्र-तारागण जो हमारे अन्दर हैं।" वे कहते हैं, "आध्यात्मिक जिज्ञासु का पहला काम बहिर्मुख मन के दृष्टिकोण से हटकर अन्तर्मुख मन से आन्तरिक घटनाओं को देखना है, जो फिर शीघ्र ही प्रभावशाली और प्रेरणाप्रद सत्ताएँ लगने लगती हैं, जो अन्त में परम आविष्कार को समझता है।"[1] पश्चिम का दार्शनिक, सांस्कृतिक इतिहास द्वारा ही दृश्य उपस्थित करता है। वेदों का कहना है 'पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति', देख यह देव का रचा हुआ प्रकृति का काव्य, जो नित्य नया और ताजा रहता है। यूनान के विचारकों का प्रारम्भिक भाव भी यही था। प्लेटो ने कहा था कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से होता है। हम सूर्योदय को अनुभव करते हैं, चन्द्र और तारागण को निहारते हैं, हरी-भरी पृथ्वी तथा इसकी बदलती ऋतुओं को देखते हैं, नदी, पर्वत पुष्प तथा बहुविध प्राणियों को देखते हैं और आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मध्य युग के भी ईसाई धर्म के प्रबल स्वभाव के कारण यह प्रेरणा खूब बलवती थी। 19वीं शताब्दी में धर्म और विज्ञान में अत्यन्त विरोध था, ऐसा विरोध जैसा जड़ और चेतन में। परन्तु आज स्थिति में भिन्नता है। भौतिकशास्त्र (Physics) जड़ जगत को किन्हीं कठोर अविभाज्य स्थूल परमाणुओं का नहीं बना मानता है। परमाणु तो विद्युतकणों का सूर्यमण्डल के समान गतिशील संगठन है। मूल तत्त्व विद्युत है, जड़ता तो आभासमात्र है। क्या विद्युत का आधार भी कोई चितशक्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो सकती है? भारतीय शैली से चलकर क्या मानव किसी दूसरे परिणाम पर पहुँचा है? आत्मा को जानने से हम ब्रह्म को जानते हैं, जो कि जगत का चेतन तथ्य और आधार है।

श्री अरविन्द की जीवनदृष्टि का मर्म इन दोनों का अपूर्व दार्शनिक तथा यौगिक समन्वय है। श्री अरविन्द के लिए व्यक्ति और जगत घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। मन प्राण और शरीर की उपेक्षा कर समाधि में आनन्द तो ले सकता है परन्तु जब वह सामान्य व्यवहार के स्तर पर आता है तब वह राग-द्वेषादि तथा सामान्य सुख-दुःख में पड़ जाता है। हमारा व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर तो मानव प्रकृति के सार्वभौम मन, प्राण और शरीर के वैयक्तित्व रूप-मात्र हैं। ये मानव प्रकृति के सार्वभौम तत्त्व में परिवर्तन के फलस्वरूप ही रूपान्तरित हो सकते हैं।

पश्चिम की प्रवृत्ति प्रकृति के अध्ययन की रही है। विज्ञान और कला-कौशल के विकास ने योरप में सुख-ऐश्वर्य के सभी साधन उपलब्ध किए परन्तु निज का सुख नहीं मिला। स्वस्थ वातावरण के अभाव के कारण पश्चिम में बाह्य प्रकृति से चलकर मानव अपने व्यक्तित्व के अध्ययन पर विशेष जोर देने लगा।

मानव का समग्र जीवन उसके पूर्णज्ञान, परमानन्द और अमरत्व में है। परन्तु मरणशील प्राणी स्वर्ग के अमरत्व की आकांक्षा करता है। यह मानव के जीवन का अपूर्व विरोध है। श्री अरविन्द कहते हैं, "ज्ञान का जो आदि मन्त्र था वही अन्तिम भी होगा। परमात्मा, प्रकाश, स्वातन्त्र्य और अमरत्व।"[2] इनके अनुसार प्रकृति का प्रयोजन है, जगत की लीला का गुप्त ध्येय है, यह अनिवार्य रूप से पूरा होगा और यह प्रकृति के स्वाभाविक योग द्वारा पूरा हो रहा है। मानव जाति सहज ही अपनी शोधात्मक मानसिक चेतना से धीरे-धीरे समग्रतापूर्ण, भूमा-गुणसम्पन्न आत्मिक चेतना की ओर अग्रसर हो रही है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति की पूरी शक्ति से जातिमात्र के विकास में अपूर्व सहायता मिल सकती है। यह सजग, सचेतन विकास शैली ही श्री अरविन्द का पूर्ण योग (Integral Yoga) कहलाता है। मानव इसका अनुशीलन कर अपने जीवन में उत्तरोत्तर समग्रता के भाव को बढ़ा सकता है और अन्त में चेतना के उस शिखर तक पहुँच सकता है जिसे श्री अरविन्द अतिमानस कहते हैं। अतिमानस जीवनदृष्टि का महत्वपूर्ण अंग है। यह अवतरण गुह्य और आध्यात्मिक कर्म है, जिसको हम बुद्धि से समझ सकते हैं। परन्तु श्री अरविन्द इसे योगबल से बतलाते हैं। इसके लिए व्यक्तिगत विकास और योग अनिवार्य होता है। श्री अरविन्द कहते हैं, "सत्ता के सभी प्रश्न सारतः समस्वरता के प्रश्न होते हैं।"[3] मानव दिव्य जीवन कैसे प्राप्त करे? अर्थात भूलोक देवलोक कैसे बन सकता है अथवा मानव की प्रकृति जिसमें अहंकार आदि हैं, उसे कैसे एकत्व दृष्टि सम्पन्न कर सकते हैं? सभी दर्शनों में जड़ और चेतन का विरोध एक सामान्य अनुभव है। एक तो असत् कहकर इस विरोध को अति सरलता से दूर किया जा सकता है। एक ओर जड़वाद चेतन तत्त्व को असत् कह देता है, विचार को मस्तिष्क का स्राव बता देता है, केवल ब्रह्म को ही सत्य बतलाता है। श्री अरविन्द ने जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय चारों अवस्थाओं के अनुभवों में से किसी को भी मिथ्या नहीं माना है। वे जड़तत्व के जाग्रत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुभव तथा आत्मतत्त्व के तुरीय अनुभव दोनों को सत्य मानते हैं, जगत और ब्रह्म दोनों को सत्य मानते हैं। श्री अरविन्द की जीवनदृष्टि प्रकृति के गुह्य अनिवार्य तथ्य को प्रकाश में लाती है, वह भगवान के गुप्त परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण आशय को प्रकट करती है। उनकी जीवन-दृष्टि तथा दर्शन से सम्बन्धित अतिमानस की स्थिति कुछ बिन्दुओं को विश्लेषित कर ही समझी जा सकती है।

1. सत्ता का स्वरूप सर्वांगीण ब्रह्मवाद
2. ब्रह्म, जगत तथा व्यक्ति
3. पूर्ण ब्रह्म से यह अपूर्ण जगत और यह अज्ञानी मानव क्यों ? सृष्टि व्युत्पत्ति का प्रश्न
4. सत्ता के स्तर
5. पुनरावलोकन
6. मानवीय व्यक्तित्व
7. मानवीय व्यक्तित्व का सामाजिक विकास—धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म
8. पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और लोक-लोकान्तर
9. ज्ञान, ज्ञान के कारण, पूर्ण ज्ञान
10. अतिमानस और दिव्य जीवन

सत्ता का स्वरूप सर्वांगीण ब्रह्मवाद

श्री अरविन्द के लिए सर्वव्यापक सत्ता का स्वरूप किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं हो सकता, वह अवश्य ही अद्वैत होगा। परन्तु वह शंकरवादी अद्वैत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके लिए जगत तो सत्य है। और यदि जगत सत्य है तो सगुण सत्ता सारी सत्य होगी और उसके साथ मानवीय व्यक्तित्व भी। यह स्थिति अवश्य ही निर्गुण ब्रह्मवाद से बहुत भिन्न है। है तो यह ब्रह्मवाद ही, परन्तु इसमें सगुण सत्ता का पूरा समावेश है। इसे हम सगुण ब्रह्मवाद भी नहीं कह सकते, क्योंकि सगुण सत्ता ब्रह्म में समाविष्ट है, ब्रह्म उस सत्ता में परिसमाप्त नहीं हो जाता। उसका निर्गुण परात्पर स्वरूप भी है। वास्तव में, यह ब्रह्म सम्पूर्ण अन्तिम सत्ता होने के रूप में जरूर ही निरपेक्ष, केवल सत्ता होगा और हर प्रकार की सीमा से मुक्त होगा। हमारे मानवी विचारों के जितने छोटे-बड़े द्वन्द्व हैं वह उनसे परे होगा। उसमें वे द्वन्द्व समन्वय को ही नहीं बल्कि परस्परपूरक भाव को भी प्राप्त हो जाएँगे। वह ब्रह्म सगुण है और निर्गुण भी, वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक भी, सदापूर्ण तथा विकसनशील भी, सत् तथा असत् भी। वह हमारी सब द्वैतात्मक धारणाओं का आधार है। वह अवश्य ही उन सबसे परे होना चाहिए। उसमें वे सब द्वैत अनिवार्य रूप से पूरक-भाव को प्राप्त होने चाहिए। सम्पूर्ण सत्ता का स्वरूप अचिन्त्य है। इस ब्रह्मवाद को सर्वांगीण ब्रह्मवाद कहना ही उचित होगा।

सम्पूर्ण सत्ता के स्वरूप की धारणा बनाने में दार्शनिक बहुधा सामान्य न्याय और युक्तिशास्त्र के विचारों को, जो कि देशकालसीमित पदार्थों की मर्यादा बाँधने में उपयुक्त हैं, देशकालातीत परम सत्ता पर भी आरोपित करने लगते हैं। हम कह सकते हैं कि यह

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुछ अज्ञात रूप में ही होता है, परन्तु इसका फल दार्शनिक दृष्टि से बड़ा अनिष्टकर होता है। अन्तिम सत्ता या तो बौद्धों का शून्य या शंकरद्वैत का निर्गुण ब्रह्म या किसी अन्य प्रकार की एकांगी वस्तु बन जाती है, या फिर यह प्रत्यक्ष जगत सब कुछ हो जाता है, अन्तिम सत्ता अस्वीकार ही कर दी जाती है। पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के इतिहास में इस वृत्ति से जो कठिनाइयाँ पैदा हुई हैं वे किसी से छिपी नहीं। परन्तु श्री अरविन्द की ब्रह्मविषयक धारणा दर्शन के लिए एक अपूर्व वस्तु है।

श्री अरविन्द का ब्रह्म सत्ता की पराकाष्ठा है। वह नितान्त परम, अचिन्त्य और अगम्य है। परन्तु मानव अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को अधिगत करता है। वह सत्ता उसके जीवन का मूर्तिमान आदर्श तथा आकर्षण है। वह सत् है, वह चित् है, वह आनन्द है। यह पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता उसका ईश्वर है, परमात्मा है। यही सत्ता जगत की रचयित्री है। मनुष्य के ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिविध गतियों की उसमें परिपूर्णता है। क्रियात्मक रूप में मनुष्य के लिए वही उच्चतम सत्ता है। श्री अरविन्द कहते हैं, "वैदान्तिक ऋषि जब सच्चिदानन्द-विषयक इस विचार पर, इस निश्चित अनुभव पर पहुँच चुके कि वह हमारी चेतना के लिए सद्वस्तु की उच्चतम भावात्मक अभिव्यक्ति है तो उसके बाद भी उन्होंने अपनी परिकल्पनाओं में असत् को ला खड़ा किया अथवा अपनी बोधनाओं में असत् की ओर बढ़ते गए।"[4] इस असत् और सच्चिदानन्दरूपी सत् के आत्यन्तिक विरोधों के समन्वय का क्षेत्र ब्रह्म है। परन्तु श्री अरविन्द कहते हैं, विश्व के अन्दर इस सद्वस्तु का सर्वोच्च अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह न केवल चिन्मय सत्मात्र है, अपितु परम प्रज्ञा और शक्ति तथा स्वयंभू आनन्द भी है; और विश्व के परे वह फिर भी कोई अज्ञेय सत्ता, कोई आत्यन्तिक एवं अनिर्वचनीय सत्ता है।[5]

सामान्यतया सच्चिदानन्द की धारणा अपने आप में अन्तिम दिखाई देगी। और उससे परे के असत् के विचार में तथा सत्-असत् के समन्वयरूप ब्रह्म के विचार में कष्ट अनुभव होगा। परन्तु जब मानव-जिज्ञासा असीम को असीम भाव में खोजती है, जैसे कि उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, तब ये परिणाम अनिवार्य हो जाते हैं। ये मानवी चिन्तन हैं तथा मानवी उच्चतम तुरीय अनुभव के प्रत्यक्ष सत्य।

परन्तु मानवी चेतना के साक्षात सम्बन्ध से सच्चिदानन्द ब्रह्म ही पूर्ण निरपेक्ष सत्ता है। इसकी धारणा को हमें जरा और स्पष्ट करना होगा। श्री अरविन्द कहते हैं, "जब हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों से, उसकी अहंभावमयी व्यस्तता से हटाते हैं और केवल परम सत्य की खोज करने वाली राग-द्वेषशून्य तथा कुतूहलपूर्ण दृष्टि के साथ संसार का अवलोकन करते हैं तो इसके परिणामस्वरूप जो सर्वप्रथम प्राप्ति हमें होती है वह है अनन्त सत्ता, अनन्त गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का बोध जो कि असीम देश में, नित्य काल में अपने आपको उड़ेल रही है।"[6] इस प्रकार हम एक अनन्त शक्ति और गति का अनुभव करते हैं। परन्तु क्या यह शक्ति ही सत्ता है या यह शक्ति किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है ? वास्तव में दोनों विचार ही अनिवार्य दिखाई देते हैं। सत्ता (Being) भी और सम्भूति (Becoming) भी। एकं ब्रह्मा द्वितीयं नास्ति, एक ब्रह्म ही है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दूसरा कुछ नहीं—दर्शन का एक महावाक्य है। परन्तु इसके साथ ही विचारने योग्य एक और महावाक्य भी है। वह है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'—निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। इन दोनों को हम अलग-अलग नहीं ले सकते, इनमें परस्पर पूरकता का सम्बन्ध है।

इस प्रकार वह शुद्ध सत् ही जगत में भी अभिव्यक्त हो रहा है। परन्तु यह जड़ प्रकृति तो उस सत् का नितान्त खण्डन प्रतीत होती है। मनुष्य की मानसिक चेतना भी अज्ञान और दुःख-ताप में ग्रस्त है। प्रश्न पैदा होता है कि यह उस शुद्ध सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति कैसे है? पहले तो सामान्य अनुभव के प्रमाण पर यह कहना कठिन है कि जड़ नितान्त अचेतन है भी या नहीं? प्राणी और उद्भिज में कहीं बँटवारे की पक्की लकीर खींचना सम्भव नहीं। डॉ० जे०सी० बोस ने अपनी गवेषणा द्वारा जो सिद्ध किया उससे पता चलता है कि पेड़-पौधे में ऐसी प्रतिक्रियाएँ मौजूद हैं जो प्राणी के व्यवहार के साथ बड़ी समता रखती हैं। फिर उद्भिज और धातु की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ ऐसी मिलती-जुलती हैं कि उन्हें निश्चयात्मक रूप से दो श्रेणियों में नहीं बाँटा जा सकता। इसी प्रकार धातु और शेष सामान्य जड़ प्रकृति में अन्तर करना कठिन है। इस प्रकार मानव-चेतना, पशु-चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षतः नितान्त जड़ पदार्थ में एक क्रम है, एक अटूट सिलसिला है। जब हम इस शृंखला की अटूट कड़ियों को विचारपूर्वक और धीरज से देखते हैं तो हम अनिवार्यतः अनुभव करते हैं कि सत् के विस्तृत अनुभव में कहीं हमें दो ऐसे पदार्थ नहीं मिलते जो एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हों। आखिर जड़ प्रकृति तो प्राकृतिक नियमों की मर्यादा को स्वीकार करती है, यानी वह चेतना के सम्पर्क को ग्रहण करने की शक्ति रखती है। जरूर ही, मूल में वह चैतन्य-तत्त्व से सहानुभूति रखती है, शायद उसी का परिवर्तित स्वरूप ही है।

परन्तु प्रश्न पैदा होगा कि उस सत् और चित् ब्रह्म के ये नदी-पर्वत, वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि परिवर्तित रूप क्यों बने? इनका क्या प्रयोजन हो सकता है? श्री अरविन्द इस प्रश्न को और तरह से उपस्थित करते हैं : "भला ब्रह्म को,—पूर्ण, निरपेक्ष, अनन्त, निरीह, निष्काम ब्रह्म को अपने अन्दर ये नानारूपमय लोक पैदा करने के लिए चेतना की शक्ति को बाहर फेंकना ही क्यों चाहिए?"[7] एक ही वाक्य में वे इसका उत्तर देते हैं, "यदि गति करने अथवा नित्य-निश्चल रहने में, अपने आपको रूपों में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति को अपने अन्दर धारित रखने में स्वतन्त्र होता हुआ भी ब्रह्म गति तथा रचना की अपनी शक्ति को तृप्त करता है तो ऐसा केवल एक ही हेतु से हो सकता है, आनन्द के हेतु से।"[8] अतः जगत का सारा व्यवहार आनन्द के लिए है। इसके अनन्त रूप और गतियाँ अनन्त प्रकार से आनन्द-वृद्धि के ही साधन हैं। परन्तु यह कहना क्या व्यावहारिक मानव के साथ उपहास करना नहीं? वह तो अनेक प्रकार के दुःख और संकटों से बेहद पीड़ित है, वह भला कैसे यह स्वीकार करे कि ये व्याधि, रोग, दुःख, संकट, व्यक्तिगत तथा सामूहिक सब वास्तव में आनन्द की उतरती-चढ़ती लहरें-मात्र हैं।

अवश्य ही, विषय को स्वतन्त्र भाव से विचारने के लिए हमें अपनी अहंकारमयी दृष्टि से जरा तटस्थ होकर देखने का यत्न करना होगा। मनुष्य को यह भावना छोड़नी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होगी कि संसार का केन्द्र मैं हूँ और मेरी क्षणिक इच्छाएँ ही इसमें विशेष महत्व की हैं। हमें निर्वैयक्तिक रूप से संसार को विचारना होगा। संसार में दुःख से सुख जरूर अधिक है, तभी तो हमें जीवन में रुचि है, उससे मोह है। फिर, क्योंकि दुःख हमें विशेष चुभता और अखरता है इसका क्या यह कारण नहीं कि दुःख हमारी प्रकृति के लिए असाधारण है, साधारण स्थिति सुख की है। इस सम्बन्ध में यौगिक अनुभव का प्रमाण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वह यह कि व्यक्ति दुःख को आनन्द में परिवर्तित कर सकता है। सुख-दुःख की अनुभूतियाँ हमारे उथले मानस-तत्व की अभ्यासजन्य प्रतिक्रियाएँ हैं। हम गम्भीर स्थिति में स्थित होकर उन्हीं सम्पर्कों में एकरस आनन्द भी अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव दार्शनिक विचार के लिए अत्यन्त महत्व का है। इसमें सब प्रकार के दुःख-ताप का समाधान निहित है।

अच्छा, मान लिया कि मूल में सारा चराचर जगत आनन्द का समुद्र है। परन्तु प्रतीति में इसमें दुःख क्यों है? यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही। श्री अरविन्द कहते हैं कि इस प्रश्न को हमें अन्य प्रकार से उपस्थित करना चाहिए—"केवल तथा अनन्त सत्-चित्-आनन्द ने अपने अन्दर उस वस्तु को प्रवेश ही कैसे करने दिया जो आनन्द नहीं, जो इसका निश्चित खण्डन-रूप प्रतीत होती है।"[9]

श्री अरविन्द का उत्तर है कि सच्चिदानन्द आत्म-विभाजन द्वारा देशकालबद्ध जगत को रचता है। यह आत्म-विभाजन विभिन्नता को और विभिन्नता में पुनः आत्म-एकता को प्राप्त करने के आनन्द के लिए ही हो सकता है। विभक्त अवस्था से पुनः आत्म-प्राप्ति की प्रक्रिया में, जो कि जगत-विकास का क्रम है, सुख-दुःख एक विशेष अवस्था का धर्म है। अहंकारमय प्राणी बहिर्मुख भाव में वस्तुओं के उथले सम्पर्कों में कभी सुख और कभी सामान्य भाव—न सुख न दुःख अनुभव करता है। ठीक उन्हीं अवस्थाओं में यदि वह उथले और बहिर्मुख भाव को त्याग दे, अपने गम्भीर भाव में स्थित होकर वस्तुओं के गम्भीर भाव का सम्पर्क करे तो वह विशुद्ध आनन्द को अनुभव करेगा। अतः सुख-दुःख आत्म-विभाजन और आत्म-विस्मृति की एक अवस्था के सहचारी गुण हैं, जो कि आत्मप्राप्ति के क्रम में अनिवार्य रूप से अतिक्रान्त हो जाएँगे।

ब्रह्म, जगत तथा व्यक्ति

जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, स्व-प्रकाश है, नाम और रूप में आत्म-चरितार्थता है। इसमें उच्चतम आशय आनन्द की प्रेरणा से आनन्द की उपलब्धि ही हो सकता है। पूर्ण और केवल ब्रह्म के लिए कोई दूसरा आशय संगत नहीं। उपनिषद् (तैत्तिरीय) ने इस तथ्य को खूब बलपूर्वक व्यक्त किया है—**आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।** आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्द से उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्द को ही प्राप्त हो जाते हैं।

श्री अरविन्द के लिए पूर्ण ब्रह्म के तीन अनिवार्य पक्ष, अंग या स्थितियाँ हैं। जगत या विश्व उसका असीम देश-काल में सार्वभौम रूप है। इस सार्वभौम या समष्टि-रूप

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का व्यष्टि एक अनिवार्य अंग है। ये समष्टि तथा व्यष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, उसके गत्यात्मक भाव के मूर्तिमान रूप हैं। परन्तु वह स्वयं इनमें परिसमाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है, उसका सान्त व्यष्टियों के परे, जगत के परे, परात्पर रूप होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार व्यष्टि, समष्टि और परात्परतत्व तीनों ब्रह्म की ही स्थितियाँ हैं। और स्थितियाँ होने के कारण तीनों ही नित्य हैं, व्यक्ति और जगत भी उसी तरह जैसे परात्पर ब्रह्म। परन्तु हम उन्हें तीन स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में कल्पित नहीं कर सकते। सत्ता अन्त में अनिवार्य रूप से एक सुसम्बद्ध और संगठित तत्व होना चाहिए। 'अनेकत्व' उस 'एकत्व' के ही आन्तरिक सम्बन्धों का विभेद हो सकता है। अद्वैत दर्शन प्रायः 'एकत्व'-विचार पर इतना मुग्ध हो जाता है कि 'अनेकत्व' को वह मिथ्या कह देता है। अनद्वैत दर्शन 'अनेकत्व'-भाव से ऐसे प्रभावित होते हैं कि वे अन्तिम सत्ता को ही खण्डित कर डालते हैं। वास्तव में हम कह सकते हैं कि दर्शन का मूल उत्तरदायित्व अनेकत्व और एकत्व का समाधान ही है।

श्री अरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं। अनुभव के किसी भी क्षेत्र को, अनेकत्व को अथवा एकत्व को मिथ्या कह देने के लिए वे तैयार नहीं। वे उनका उचित समाधान करना ही अपने दर्शन का ध्येय अंगीकार करते हैं। पूर्ण सत्ता एक है तथा व्यष्टि, समष्टि और परात्पर-भाव उसकी तीन स्थितियाँ हैं, यह उनके दर्शन का एक आधारभूत विचार है तथा अतिमानसिक स्तर के उच्च आध्यात्मिक अनुभव का तथ्य है।

ब्रह्म के इस विवेचन से व्यक्ति और जगत को सार्थकता जरूर प्राप्त होती है। इससे श्री अरविन्द की मुख्य स्थापना को कि मानव के लिए जगत में, पृथ्वीतल पर ही, इहैव, दिव्य जीवन सम्भव है, हम समझ सकते हैं। अवश्य ही जब कि जगत और व्यक्ति गुह्य रूप में ब्रह्म हैं तो प्रकट रूप में भी वे वही हो सकते हैं; जगत और मानव जो आज मानसिक चेतना को व्यक्त कर रहे हैं, वे अतिमानसिक स्थिति की ब्राह्मी चेतना को भी व्यक्त कर सकेंगे।

पूर्ण ब्रह्म से यह अपूर्ण जगत और यह अज्ञानी मानव क्यों?—सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न

परन्तु प्रश्न पैदा हुए बिना नहीं रहता कि जब सब कुछ ब्रह्म ही है तो फिर यह अपूर्ण जगत और अज्ञानी मानव क्यों देखने में आते हैं? पूर्ण ब्रह्म के विचार के साथ इस अपूर्णता और अविद्या की भला कैसे संगति बिठाई जा सकती है? यह प्रश्न मानव के चिन्तन को सदा आन्दोलित करता आया है।

जगत की सृष्टि का प्रश्न बड़ा जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा। पहले तो व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा के भावों को अलग करके विषय को विचारना होगा। दूसरे, मानवमात्र के विस्तृत अनुभव को ध्यान में रखना होगा। जाग्रत अवस्था के व्यावहारिक जीवन के अनुभवों के अतिरिक्त तुरीयादि अन्य अवस्थाओं के अनुभवों को भी विचारना होगा। तीसरे हम जगत के अर्थों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की ही खोज कर सकते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म ने इसे ऐसा क्यों बनाया, इससे और अच्छा क्यों नहीं होने देता।

जगत और सृष्टि-क्रम को हम मिथ्या तो कह ही नहीं सकते। फिर ब्रह्म की पूर्णता को विचारते हुए हम जगत की अपूर्णता को ब्रह्म के आत्म-संकल्प द्वारा आत्म-परिसीमन अथवा आत्म-विभाजन का ही परिणाम मान सकते हैं। जो असीम है उसमें ससीम होने की शक्ति भी माननी होगी। जगत के विषय में विचार करते हुए हम पहले देख चुके हैं कि जड़, उद्भिज, पशु और मनुष्य में एक अनवरत क्रम है, एक विकास है। इस विकास में चेतना की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। परन्तु अचेतन में से चेतन का विकास असम्भव है। अतः हमें स्वीकार करना होगा कि जड़ प्रकृति, जो प्रत्यक्षतः अचेतन है, निहित रूप में जरूर चेतन होगी। यह प्राचीन औपनिषदिक विचार है जिसको न जानकर पश्चिमी वैज्ञानिक विकासवाद के अनेक संकटों में पड़ गया। अब वह निहित चेतना ब्रह्म के आत्म-संकल्प द्वारा अणुओं-परमाणुओं में विभक्त और प्रसुप्त चेतना ही हो सकती है। इस प्रकार एक व्यापक अचेतना अथवा अवचेतना विकासक्रम का आधार है। अणुओं-परमाणुओं की खण्डित अचेतना में से ही फिर धीरे-धीरे नया संगठन होना शुरू होता है, उद्भिज बनते हैं, पशु बनते हैं, मनुष्य बनते हैं। मानव चेतना की स्थिति बड़े महत्व की है। इसमें एक विशाल संश्लेषण अथवा एकीकरण दिखलाई देता है, एक व्यक्तित्व की रचना मिलती है। परन्तु यह व्यक्तित्व अहंमय है, यह एक अहं-इतर जगत से सदा ही संघर्ष करता रहता है और इसकी यह दुविधामय स्थिति एक उच्चतर, पूर्ण रूप से एकीकृत अवस्था का निश्चित संकेत देती है जो विकास क्रम का भावी मार्ग दिखाई पड़ता है।

ऐसा प्रतीत होता है मानो विकास क्रम ब्रह्म की ऐक्यपूर्ण चेतना की ओर बढ़ रहा है। यहाँ हमें दो क्रम दिखते हैं, विकास अथवा विवर्तन के साथ एक पूर्वगामी निवर्तन। निवर्तन द्वारा ब्रह्म जड़ प्रकृति की व्यापक अवचेतना में विभक्त और प्रच्छन्न हो जाता है और फिर विवर्तन द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-गवेषणा के क्रम से आत्मलाभ करता जाता है। इसमें जो नए अनुभव का लाभ है वही आनन्द की प्रेरणा है। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह शंका संगत न होगी कि जो पूर्ण है उसे कुछ नया कैसे उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि जो पूर्ण है वह रचनाशीलता में न्यून कैसे हो सकता है?

इस प्रकार ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति में जगत-आत्म-प्रच्छन्नता, आत्म-गवेषणा तथा आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है और व्यक्ति वह निश्चित बिन्दु है जहाँ ये क्रियाएँ कार्यान्वित होती हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में मानव-मन फिर भी शंका करेगा कि पूर्ण ब्रह्म ने जगत का क्रम इस प्रकार निर्धारित क्यों नहीं किया कि उसमें दुःख-ताप होता ही नहीं, भगवान की आत्म-अभिव्यक्ति भी हो जाती और प्राणियों को भी कष्ट न होता। इसका उत्तर देना वास्तव में सम्भव नहीं है। परन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि यदि मानव अपने व्यावहारिक पक्षपातों को छोड़कर, उथली चेतना से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हटकर, जरा अपने अन्दर गहरी स्थिति से जगत के सामान्य सम्पर्कों को अनुभव करके देखे तो वे ही उसे आनन्दपूर्ण प्रतीत होंगे। एक आवरणमात्र के पीछे छिपा हुआ उसका जो वास्तविक अस्तित्व है वह आनन्दमय है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि दुःख मानव का महान शिक्षक है, उसके विकास का साधक है। व्यक्तिगत और उथली चेतना के दृष्टिकोण को जरा छोड़कर यदि हम जगत को सार्वभौम सत्ता के रूप में विचारें तो हम काफी सुगमता से यह अनुभव कर पाएँगे कि दुःख गौण गति है। जीवन की प्रधान धारा आनन्द है। आध्यात्मिक अनुभव तो जगत को शुद्ध लीला बतलाता है। अतः अपूर्णता और अविद्या ब्रह्म में नहीं, वे मानव के अपने मानसिक स्तर की विकास-स्थिति के सापेक्ष धर्म हैं। उस स्तर को अतिक्रान्त कर जाने से वह उन्हें भी पार कर जाएगा।

सत्ता के स्तर

ब्रह्म की हमारी भावना प्रत्यक्ष ही सत्ता के कई स्तर कल्पित करती है। ब्रह्म चूँकि पूर्ण होते हुए विकसनशील भी है तो चरम तत्व में न्यूनाधिक का भेद मानना होगा, सत्ता के क्रमिक स्तर स्वीकार करने होंगे। ये स्तर श्री अरविन्द के अनुसार आठ हैं—

1. जड़	5. अतिमानस
2. प्राण	6. आनन्द
3. मन	7. चित्
4. अन्तरात्मा	8. सत्

ये एक से आठ तक सीधे क्रम में विवर्तन के द्योतक हैं तथा आठ से एक तक उलटे क्रम में निवर्तन के। इनके अपने धर्म को जानना तथा क्रमिक सम्बन्धों को जानना सम्पूर्ण सत्ता को जानने में कितना सहायक होगा यह हमें धीरे-धीरे ही पता लगेगा। यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है कि श्री अरविन्द के दर्शन में इस विवेचन का विशेष स्थान है और उन्होंने इन सभी स्तरों का गम्भीर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक निरूपण किया है और इस ब्यौरेवार निरूपण की सहायता से वे कई जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में पूर्ण रूप में सफल हुए हैं।

विकास क्रम की वर्तमान सामान्य उच्चतम स्थिति मन है। परन्तु विशेष व्यक्तियों में ही इसका अतिक्रमण सम्भव हो पाया है। मानव-इतिहास में ऐसे व्यक्ति बार-बार मिलते हैं जिन्होंने अन्तरात्मा तथा इससे उच्चतर चेतना के स्तरों पर निवास किया है। अन्तरात्मा का स्तर मन के स्तर से निश्चित रूप से भिन्न है। जहाँ मन बहिर्मुख है, उथले रूप में रस, गन्ध आदि सम्पर्कों का ग्रहण करनेवाला तथा द्वन्द्वपूर्ण प्रतिक्रियावाला है, अन्तरात्मा इसके विपरीत अन्तर्मुखी है, वस्तुओं के गम्भीर सम्पर्कों को खोजती है तथा सदा एकरस आनन्द को अनुभव करती है। मन सदा व्यावहारिक रूप में प्रकृति-अभिमुख होता है। अन्तरात्मा स्वभाव से जगत के आत्म-तत्व, भगवान, को खोजती है। यह वास्तव में भगवान का ही अंश है। ऐसा अंश जो विकासप्रवृत्त है, जो मानव को चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर अन्दर ही अन्दर प्रेरित करता है। अन्तरात्मा और आत्मा एक ही

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अस्तित्व के दो पक्ष हैं, एक गत्यात्मक और दूसरा शुद्धसत्तात्मक। यह श्री अरविन्द के आध्यात्मिक अनुभव की एक विशेष उपलब्धि है। ब्रह्म में भी वे ये दो पक्ष मानते हैं और उनका कहना है कि यह ब्रह्म को केवल सत्तात्मक तत्व मानने का ही फल था कि जगत को मिथ्या कहना पड़ा। ब्रह्म की पूर्णता की यह माँग है कि वह सत्तात्मक होने के साथ-साथ गत्यात्मक भी हो। तभी जगत उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकता है।

अन्तरात्मा से अतिमानस तक विकास का लम्बा मार्ग है जिसमें कई पड़ाव आते हैं और जिन तक अनेक व्यक्ति पहुँचे हैं। परन्तु अतिमानस एक विशेष स्थिति है। उसमें मन का समूल रूपान्तर हो जाता है, चेतना पूर्णतया एकीकृत हो जाती है; सत्य को धारण करती है; 'अनेकत्व' को यथार्थ 'एकत्व' में अनुभव करती है; मन, प्राण और शरीर आध्यात्मीकृत होकर अमरत्व अनुभव करते हैं, मर्त्य धर्म को अतिक्रान्त कर जाते हैं। अतिमानसिक स्थिति की कल्पना भी आज कठिन है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसकी चर्चा की है। वे ऋतचित्, सत्यधारी चेतना का ज्वलन्त वर्णन करते हैं। अतिमानस के स्तर का श्री अरविन्द-दर्शन में विशेष स्थान है। अतिमानस में ही अविद्या का विद्या में रूपान्तर होता है। इसमें ही विकास के स्तरों का पूर्वार्ध उत्तरार्ध में परिवर्तित हो जाता है। जड़, प्राण, मन और अन्तरात्मा के अर्थ में विकास अविद्या की प्रक्रिया से होता है, अतिमानस, आनन्द, चित, और सत् में विद्या अथवा ज्ञान की प्रक्रिया से। अतिमानस ही वह मार्मिक स्तर है जो जगदुत्पत्ति का पूरा समाधान करता है, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म की एकता को और जगत की अनेकता को एक सामंजस्य में उपस्थित कर देता है।

पश्चिम के विकासवादी भी मानव के मानसिक स्तर को अन्तिम मान लेते हैं। परन्तु यदि मन की स्थिति तक विकास दिखाई देता है तो कोई कारण नहीं कि मन से आगे विकास-क्रिया क्यों न चलती रहे। श्री अरविन्द निश्चयात्मक रूप से कहते हैं कि अतिमानस की अभिव्यक्ति जागतिक विकास का अगला लक्ष्य है। और क्योंकि मानव स्थिति में सचेतन विकास सम्भव हो जाता है अत: अब विकासगति द्रुततर हो जानी सम्भव है। अतिमानस की यह चरितार्थता ही मर्त्यलोक में अमृतत्व की आशा और आश्वासन, है, पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की सम्भावना है। दर्शन की खोज है व्यक्ति और जगत के यथार्थ अर्थ और स्वरूप। मानव और जगत दोनों ही अपने निहित रूप में ब्रह्म हैं, आत्म-सत्ता हैं। विकासक्रम में यही निहित तत्व उत्तरोत्तर प्रकाश में आ रहा है। अत: मानव और जगत में पूर्ण आत्मा का प्रकाश सम्भव नहीं अपितु अनिवार्य है। मानव जो इस विकास का अग्रदूत है, योग की सचेतन क्रिया से इसे अधिक बलपूर्वक गति दे सकता है। परन्तु मानव की आरोहणात्मक गति की सहचारिणी अवरोहणात्मक एक दूसरी गति सदा ही साथ काम करती रहती है। जहाँ नीचे के स्तरों की निहित चेतना ऊपर उठने के लिए जोर मारती है वहाँ ऊपर के स्तरों की प्रस्फुट चेतना नीचे के स्तरों में आकर प्रकट होने के लिए यत्नशील रहती है। ये दोनों वैश्व प्रयत्न विकास को गति दे रहे हैं तथा वस्तुओं के निहित आत्म-रूप को प्रकट करने में संलग्न हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुनरावलोकन

हमारा प्रस्तुत विवेचन श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि अर्थात जीवन के तात्विक अर्थ तथा प्रयोजन से आरम्भ हुआ था। हमने तब देखा था कि मानव एक विकासात्मक वैश्व क्रम का अंग है, वास्तव में उसका अग्रभाग है और सहज प्राकृतिक क्रिया से मानो अपनी वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रान्त करके अन्तरात्मा की आध्यात्मिक चेतना की ओर बढ़ रहा है, मन-बुद्धि के भेदात्मक अनुभव से आत्मा के समग्र अनुभव को विकसित कर रहा है। यह विकास जहाँ ज्ञान-पक्ष में हो रहा है वहाँ उसके सुख-दुःख के भाव-पक्ष में तथा कर्तृत्व-पक्ष में भी हो रहा है। सुख-दुःख की जगह आनन्द-भाव तथा ऐन्द्रिक आवेगों और इच्छाओं की जगह सुसंगठित चित्त-शक्ति विकसित हो रही है। परन्तु इस प्राकृतिक विकास को मानव सचेतन यत्न द्वारा अत्यधिक द्रुततर बना सकता है। इससे पृथ्वीतल पर मन से कहीं विशालतर अतिमानसिक चेतना का अवतरण होने में अपूर्व सहायता मिलेगी और इस अवतरण के बाद यह विकास एक नए धरातल पर आ जाएगा। यही श्री अरविन्द की ओज आशापूर्ण जीवन-दृष्टि है।

यह दृष्टि प्रत्यक्ष ही सार्वभौम सत्ता के गम्भीरतम तथ्य से सम्बद्ध है। मानव विश्व का अंग है और क्योंकि विश्व विकसनशील है इसलिए मानव भी विकसनशील है। फिर शायद विश्व के विकास का आशय उत्तरोत्तर महत्तर चेतना को चरितार्थ करना है और क्योंकि मानव वैश्य क्रम का अग्रणी है, अतः वह महत्तर चेतना पहले इसी में चरितार्थ होनी अनिवार्य है। परन्तु विश्व तो अभिव्यक्ति है, यह जरूर किसी अव्यक्त विश्वातीत तथ्य को सोचने के लिए हमें बाधित करेगा। इस प्रकार जीवन-दृष्टि से हम सत्ता के स्वरूप पर पहुँचे। हमने तब देखा कि यह सत्ता अपने आप में एक पूर्ण एकत्वमय असीम शाश्वत तत्व ही हो सकती है, जो कि हमारे सापेक्ष जगत के सब द्वन्द्वों का समन्वय तथा हमारे विचार और चिन्तन के सब सम्भाव्य पक्ष-विपक्षों का अन्तिम समन्वय होगी। ऐसी सत्ता मानव के लिए प्रत्यक्ष ही अज्ञेय तथा अलक्षणीय होगी। परन्तु जहाँ चरम विचार के रूप में सत्ता का स्वरूप इससे भिन्न नहीं हो सकता, वहाँ जगत और उसके रचयिता के रूप में मानव एक ईश्वर, एक भगवान, एक सत्-चित्-आनन्द-तत्व की भावना बनाता है। यह उसे अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध से उच्चतम शिखर प्रतीत होता है और यही उसके जीवन का क्रियात्मक ध्येय और लक्ष्य होता है। यदि हम अज्ञेय और अलक्षणीय सत्ता को पूर्ण ब्रह्म कहें तो सच्चिदानन्द को हम उसका वह रूप या स्वरूप कह सकते हैं जिसे मानव अपने व्यक्तित्व द्वारा अनुभव कर पाता है। पूर्ण ब्रह्म और सच्चिदानन्द वास्तव में दो परम तत्व नहीं हैं। परम तत्व एक ही है, ब्रह्म उसका आत्यन्तिक सम्भाव्य रूप है और सच्चिदानन्द उसका मानव के लिए निश्चित अनुभवगोचर रूप। जगत और व्यक्ति को समझने के लिए प्रत्यक्ष रूप में हमें सच्चिदानन्द ही सहायक हैं। ये उसकी अभिव्यक्ति हैं, लीला तथा क्रीड़ा हैं, विकास की प्रक्रिया हैं। जड़, प्राण और मन के आरोहणात्मक स्तरों में से विकसित होकर मानव आत्माएँ जगत में प्रच्छन्न भगवान को पुनः प्राप्त करने का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यत्न कर रही है। परन्तु मानव-आत्मा अहंकारग्रस्त होकर जगत के खेल को गम्भीर संग्राम का रूप दे देती है और इसके आनन्द के भाव और आशय को सर्वथा खो बैठती है। जब वह अहंकार और मोह की भावनाओं से तटस्थ होकर जगत को देखती है तो वह इसे लीला, क्रीड़ा तथा आनन्द का कर्म और व्यवहार अनुभव करती है। परन्तु लीला और क्रीड़ा का अर्थ व्यर्थ की चेष्टा नहीं बल्कि ऐसा कर्म है जो आयासरहित, स्वाभाविक और आनन्ददायक है, जैसे कि कवि का प्रेरणा के अधीन कविता करना होता है।

सत्ता के स्वरूप, उसके स्तर आदि का प्रकरण अवश्य ही सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन बन गया था। यह अनिवार्य भी था, परन्तु अब हम पुनः जीवन-दृष्टि-सम्बन्धी कुछ एक प्रसंगों को लेना चाहते हैं। मानवीय व्यक्तित्व, उसका विकास, कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, लोक-लोकान्तर आदि विषय जीवन-दृष्टि से साक्षात रूप से सम्बद्ध हैं और इनके विषय में श्री अरविन्द का चिन्तन अनेक महत्वपूर्ण अंशों में हमारी दार्शनिक परम्परा में नया विकास भी उपस्थित करता है। अब हम बारी-बारी से इन पर विचार करेंगे और पहले हम मानवीय व्यक्तित्व को लेते हैं।

मानवीय व्यक्तित्व

व्यक्तित्व विशेष रूप से आधुनिक शब्द है और इसका अर्थ है विशिष्टतापूर्ण मानव, ऐसा मानव जिसने सचेतन प्रयत्न और आयास से कोई विलक्षण या प्रतिभा विकसित कर ली है, विशेषकर जिसमें संकल्प और इच्छा का एक अपना स्वरूप बन गया है। बुद्ध, नेपोलियन, अशोक, शंकराचार्य, मीराबाई आदि सब महान व्यक्तित्व थे। इनमें मानव-जीनव अपनी-अपनी शैली के संगठन को प्राप्त हुआ और उसने अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की। परन्तु एक प्रकार से हर एक मानव, वह कितना भी सामान्य क्यों न हो, कुछ न कुछ विशिष्टता लिए होता है। कोई दो मानव सर्वथा समान नहीं होते। वास्तव में एक ही पेड़ के कोई-से दो पत्ते भी एक समान नहीं होते। व्यक्ति-भाव, प्रकृति में जड़ वस्तुओं से ही शुरू हो जाता है। दो रेत के दाने भी शायद एक समान नहीं होते। उद्भिजों में यह व्यक्ति-भाव एक उच्चतर मर्यादा का हो जाता है, वस्तुओं में एक निजी संगठन का रूप प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगता है। प्राणियों में व्यक्तिभाव का विशिष्टत्व और भी प्रत्यक्ष दिखने लगता है, उनके स्वभाव और व्यवहार में विशेषताएँ मिलने लगती हैं, एक गौ और दूसरी गौ में मानो स्वभाव के हेरफेर मिलने लगते हैं। मनुष्य-मनुष्य में स्वभाव, चरित्र तथा व्यक्तिगत इच्छा और रुचि में विशेषताएँ प्रत्यक्ष हैं ही। इस प्रकार हर मानव व्यक्तित्व है, विशिष्टतापूर्ण अस्तित्व है।

यद्यपि प्रकृति में हम व्यक्ति-भाव जड़ वस्तुओं से ही देख सकते हैं, फिर भी व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग हम मानव के लिए ही करते हैं। वास्तव में व्यक्तित्व की मौलिक निर्धारित गति है सचेत रूप में अपने व्यक्ति-भाव को विकसित करने की शक्ति अथवा निज इच्छा से अपने जीवन को संगठित करने की क्षमता। यह मानव में ही है। पशु प्रकृति का दास-मात्र है। वह भूख-प्यास, काम-क्रोध आदि अपनी प्राणिक प्रवृत्तियों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

से प्रचालित होता है। उसका मन अभी इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ कि वह आत्म-सजग हो सके, अपने अन्दर किसी अंश में साक्षि-भाव को प्राप्त कर सके और अपने जीवन को ज्ञानपूर्वक प्रेरित-प्रचालित कर सके।

परन्तु मानव के व्यक्तित्व-विकास में निज सजगता तथा इच्छा के साथ-साथ बाह्य, प्राकृतिक तथा सामाजिक प्रभाव भी काम करते हैं। व्यक्ति अपने कुल का, समाज का, संगति का रंग ग्रहण कर लेता है। उनके भाव, विचार तथा अभ्यास उसमें आ जाते हैं और वह एक सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रतिरूप बन जाता है। परन्तु ऐसा प्रतिरूप होते हुए भी, वह चाहे बिलकुल सामान्य शैली का ही व्यक्ति हो, वह होता कुछ विलक्षण प्रतिरूप ही है। पश्चिम का आधुनिक मनोविज्ञान इस विलक्षणता को ही मौलिकता कहता है तथा इसे ही व्यक्तित्व का नाम देता है। परन्तु यदि हम इसे गहराई से देखें तो हमें पता चलेगा कि जिन विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों को व्यक्ति निजी कहता है वह उसको किसी न किसी समय अर्ध-चेतना अथवा अचेतन भाव से अपने सांस्कृतिक वातावरण से प्राप्त किया होता है। सामान्य मानव स्वतन्त्र विचार और चिन्तन बहुत कम करता है और जब करता है तो सामान्य सामाजिक विचारों के संगठन में ही कुछ नई उधेड़-बुन करता है, मौलिक रूप में निज भाव से प्रेरित होकर विचार-चिन्तन के क्षण उसके बहुत ही कम होते हैं। इस विवेचन में हमने व्यक्तित्व के परे एक 'निज-भाव' का और संकेत दे दिया है। पाश्चात्य भाषाओं में व्यक्तित्व के लिए Personality शब्द व्यवहृत किया जाता है और इसका व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है मुख पर पहनने का 'आंवरण'। इस प्रकार Personality व्यक्ति का आवरण है, बाह्य रूप है, जैसे वह दूसरों को प्रकट होता है तथा होना चाहता है। भारतीय अध्यात्म-विद्या के अनुसार हमारा सामान्य व्यक्तित्व शरीर, प्राण और मन का बहिर्मुख संगठनमात्र है, हमारा असली निज-भाव तो हमारी आत्मा है, वही व्यक्ति की वास्तविक विलक्षणता तथा मौलिकता का निवासस्थान है।

हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की मुख्य प्रेरणा ही रही है 'आत्मानं विद्धि', अपनी आत्मा को जानो। यहाँ अपूर्व तन्मयता से जिज्ञासुओं ने अन्तर्निरीक्षण किया है और मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को जानने का यत्न किया है। उपनिषदों के ऋषि हमारे इतिहास में आत्म-जिज्ञासा के विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। उनका कहना है कि मानवीय व्यक्तित्व कुछ कोषों अथवा वृत्तमय रचनाओं द्वारा बना है। व्यक्ति का शरीर उसका स्थूलतम भाग है, यह उसका अन्नमय कोष है। इससे सूक्ष्म है उसका प्राण, जो कि उसका जीवन-तत्व है। श्वास-प्रश्वास, खाना-पीना, क्रीड़ा-चेष्टा तथा विश्राम, विकास-स्थिति और ह्रास आदि प्राण के ही धर्म-नियम हैं। यह प्राणमय कोष है। इससे और सूक्ष्म और अन्तरीय होता है व्यक्ति का मन, जो बाह्य वस्तुओं के संवेदनों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है तथा चिन्तन और विचार करता है। यह हुआ मनोमय कोष। ये तीन कोष सामान्य रूप से देखे-पहचाने जा सकते हैं। परन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने गम्भीर अन्तर्निरीक्षण द्वारा मन से सूक्ष्मतर तथा अधिक प्रभावशाली दो अन्य क्षेत्रों का भी आविष्कार किया, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और उन्होंने इसके केन्द्रीय तथ्य बतलाए। उन्होंने व्याख्यापूर्वक समझाया है कि जब व्यक्ति गम्भीर तथा चिरकालीन अन्तर्निरीक्षण तथा चिन्तन-ध्यान द्वारा अपने शरीर-प्राण-मन से तादात्म्य-भाव हटा लेता है तब वह अपने आपको सामान्य भेदात्मक मानसिक ज्ञान की जगह एक अपूर्व समग्रता तथा समन्वयपूर्ण ज्ञान और प्रकाश के क्षेत्र में पाता है। अन्तरीय प्रवेश की गति द्वारा जब वह इसे भी अतिक्रान्त कर जाता है तब वह अपने आपको अपूर्व शुद्धानन्द के क्षेत्र में अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व के ये पाँच भाग कहे जा सकते हैं। पहले तीन तो बाह्य परिस्थिति पर क्रिया करने के कारणमात्र हैं। व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथ्य, जो उसके वास्तविक निज-भाव का द्योतक है, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। सामान्यतया हम अपने शरीर, प्राण, मन को ही अपना पूर्ण व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, अपने वास्तविक केन्द्रीय तथ्य से हम अनभिज्ञ ही रहते हैं। परन्तु व्यक्तित्व का रहस्य तो इसी में निहित है और इसे शिक्षा, अभ्यास और योग द्वारा उपलब्ध करना ही जीवन की परिपूर्णता और सफलता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने भी मानवीय व्यक्तित्व का खूब अच्छा अध्ययन किया है। और इसकी कुछ एक विचारधाराओं का भारतीय मन्तव्य से सुन्दर साम्य है। दृष्टान्त के लिए विलियम जेम्ज ने मानवीय 'अहं' के प्रधान अंग बताए हैं, भौतिक अहं, सामाजिक अहं और बौद्धिक अहं। पहले में आती हैं हमारे शरीर, मकान, धन-सम्पत्ति आदि भौतिक वस्तुएँ, जिन्हें हम अपना कहते हैं और जिनकी वृद्धि और ह्रास से हम अपने आपमें वृद्धि और ह्रास अनुभव करते हैं। दूसरे में आते हैं हमारे सब सामाजिक सम्बन्ध, जिनकी सफलता में हम आत्म-सम्मान और अहंवृद्धि अनुभव करते हैं और असफलता में ग्लानि और अहं-ह्रास। तीसरे में आते हैं हमारे विचार-विश्वास, भावनाएँ और आदर्श। परन्तु ये तीन मिलकर हमारे व्यावहारिक व्यक्तित्व को गठित करते हैं। व्यक्ति में एक पारमार्थिक, निगूढ़ सत्तात्मक तथ्य भी है, जो हमारी भौतिक, सामाजिक और बौद्धिक सम्पदाओं का स्वामी तथा ज्ञाता है। इसे जेम्ज परात्पर अहं (Transcendental self) कहते हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के इस अध्ययन में तथा उपनिषदों के कोषों के विचार में प्रत्यक्ष ही कुछ साम्य है। परन्तु जहाँ जेम्ज के लिए उसका परात्पर अहं कल्पना का विषय तथा चिन्तन की आवश्यकता है, वहाँ उपनिषत्कारों के लिए विज्ञानमय और आनन्दमय कोष उनके अनुभव के तथ्य हैं जिन्हें उपलब्ध करने का पूरा-पूरा उपाय भी वे बतलाते हैं।

परन्तु जेम्ज से कहीं अधिक गम्भीर सिग्मण्ड फ्रायड का विचार है। सिग्मण्ड फ्रायड पश्चिमी मनोविज्ञान की एक नई विचारधारा का प्रवर्तक हुआ है, जो मनोविश्लेषण के नाम से प्रसिद्ध है। मनोविश्लेषण गम्भीर मानसिक विश्लेषण के आधार पर कहता है कि मन के अस्तित्व में उसका जाग्रत भाग एक अंशमात्र है, दस में से नौ हिस्सा तो अवचेतन है। तथा अवचेतन पुराने अनुभवों का केवल गोदाम ही नहीं है, वह जीवन का सक्रिय प्रधान क्षेत्र है जहाँ इच्छाएँ पलती-पुसती हैं और चेतन स्तर की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इच्छाओं को गुप्त रूप में प्रभावित करती हैं। ये इच्छाएँ प्रायः वे होती हैं जिन्हें हम सामाजिक और नैतिक भय से अवदमित (Repress) कर देते हैं। ये अवदमित इच्छाएँ असावधानी के समय जाग्रत में सामान्य भूल-चूक के रूप में (जैसे मुख से कुछ न कुछ निकल जाना) प्रकट हो जाती है। स्वप्न में ये अधिक आसानी से प्रकट होती हैं और अपने मनोरथ पूरे कर लेती हैं। लेकिन कई बार तो वहाँ ये अपने स्वाभाविक रूप में निकलती हैं और कई बार भेस बदलकर, जिससे वे नीति और धर्म के चौकीदार की पकड़ में ना आ जाएँ। इस नीति और धर्म के आन्तरिक चौकीदार में, जो हमें सदा कठोर आदेश देता है और इच्छाओं में निरन्तर संघर्ष चला करता है। यह संघर्ष प्रायः अवचेतन मन में होता है, परन्तु इसका प्रभाव मनुष्य की शान्ति पर भयंकर पड़ता है। मनुष्य उदासी और दुःख अनुभव करता है, परन्तु कारण ढूँढ़ने पर नहीं मिलता। वह हर किसी से लड़ाई मोल ले लेता है और समझता है कि मैं निर्दोष हूँ। ऐसी अवस्थाओं में कारण अवचेतन होते हैं, जिन्हें व्यक्ति जानता नहीं और जिनके जाने बिना उसकी समस्या का समाधान भी नहीं होता। यही अवदमित इच्छाएँ उग्र होकर सारे व्यक्तित्व के सन्तुलन को बिगाड़ देती हैं और मनुष्य फिर मानसिक स्वास्थ्य खो बैठता है। फ्रायड मानव की सब इच्छाओं में मौलिक इच्छा 'काम' को मानता है और कहता है कि अन्य इच्छाएँ इसी के अनेक रूप हैं। परन्तु इस विचार से अन्य कई मनोवैज्ञानिक असहमत हैं। काम अवश्य ही एक प्रधान प्रवृत्ति है और इसका यथार्थ संयमन-नियमन जीवन-विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु इसे मानव की एकमात्र वृत्ति कहना और अन्य इच्छाओं को इसके रूपान्तरमात्र बतलाना जरूर अत्युक्ति है।

मनोविश्लेषण का यह सारा अध्ययन अत्यन्त रोचक है और पश्चिम में इसका आज प्रसार भी बहुत हो रहा है। इसके अनुसार व्यक्तित्व के प्रधान क्षेत्र तथा अंग तीन हैं। एक अहं, दूसरा अति-अहं, तीसरा ईड (Id)। ईड तो हमारी पाशविक वृत्तियों का समूह है, जो अहंकारमयी हैं, आग्रहशील हैं तथा समन्वयरहित हैं। यही अवचेतन मन का मुख्य विषय है। अति-अहं हमारी समाज जनित नैतिक और धार्मिक भावनाओं का संगठन है। यह भी बड़ा आग्रहशील है, पाशविक प्रवृत्तियों को यह एकदम रोक देना चाहता है। परिणाम होता है ईड और अति-अहं के बीच निरन्तर संघर्ष में से एक नया संगठन तैयार हो जाता है जो हमारा सामान्य अहं है। व्यक्तित्व के इन तीन अंगों में अपेक्षाकृत सन्तुलन रहना मानसिक स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। परन्तु क्या इनका आपसी द्वन्द्व कभी सर्वथा दूर भी हो सकता है और क्या मानव पूरी आन्तरिक शान्ति प्राप्त भी कर सकता है? इसका उत्तर नकारात्मक है। पश्चिमी मनोविज्ञान मानव के लिए पूर्ण आन्तरिक शान्ति असम्भव-सी मानता है।

जेम्ज में परात्पर अहं के लिए भावना थी, फ्रायड में इसके लिए कोई स्थान नहीं। फ्रायड का सारा विवेचन प्राणिशास्त्र की शैली के अनुसार प्रकृतिगत क्रमों में कार्य-कारण-सम्बन्ध बिठाने का प्रयत्न है। मानव में इन क्रमों का ज्ञाता कोई 'पुरुष' है—यह यहाँ प्रश्न ही नहीं उठाया गया। सारा अध्ययन सामान्य अनुभव के क्षेत्र तक सीमित है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और सामान्य अनुभव को भी काम की पाशविक वृत्ति पर आधारित बतलाया गया है और उसी से विकसित करके दिखलाने का यत्न किया गया है।

इस सारी शैली के सम्बन्ध में श्री अरविन्द प्रश्न उठाते हैं कि कमल-पुष्प कीचड़ में से पैदा होता है, परन्तु उसके अस्तित्व का मर्म, उसके सौन्दर्य का रहस्य क्या हमें कीच में मिलेगा? मानव पशु से विकसित हुआ है, परन्तु इस विकास में कोई उद्देश्य और आदर्श भी काम कर रहा है या नहीं? यदि है तो मानव-विकास में जहाँ हम पशु-प्रकृति को मानव-प्रकृति का कारण मानेंगे वहाँ जो आदर्श-उद्देश्य उसे रूप दे रहे हैं उन्हें हम अधिक महत्वपूर्ण कारण मानेंगे। मानव वास्तव में एक विकासक्रम का अंग है। इस क्रम में एक लक्ष्य और उद्देश्य है और यह लक्ष्य और उद्देश्य सक्रिय प्रभाव है। इसके बिना हम विकास की शैली और क्रम को समझने में कभी सफल नहीं हो सकते। डार्विन के विकासवाद ने विकास को शुद्ध भौतिक कारणों के समझाने का यत्न किया, परन्तु आज यह पश्चिम में भी प्राय: स्वीकार किया जा रहा है कि विकास सोद्देश्य है, यह केवल भौतिक कारणों से सम्पादित नहीं हो रहा।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में तो यह व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है कि मन सोद्देश्य क्रियाशील अस्तित्व है, इसके सब व्यवहारों में संवेदन, उपलब्धि, चिन्तन, कल्पना, संकल्प आदि में लक्ष्य सदा विद्यमान होता है। परन्तु फिर भी पश्चिमी मनोविज्ञान मानसिक व्यवहार को भौतिक विज्ञानों की तरह पूर्वगामी घटनाओं के बल पर ही समझाने का यत्न करता है; व्यवहार में निहित लक्ष्य को विचार में ही नहीं लाता। श्री अरविन्द लक्ष्य को प्राथमिकता देते हैं, पूर्वगामी स्थितियों को प्रधानतया सक्रिय सामग्री के रूप में ही अंगीकार करते हैं। पश्चिमी मनोविज्ञान और श्री अरविन्द के मनोविज्ञान में यह प्रधान अन्तर है और इससे मानवीय व्यक्तित्व के रूप-स्वरूप में भी दोनों के बीच भारी अन्तर पड़ जाता है।

श्री अरविन्द के लिए मानवीय व्यक्तित्व केवल चेतन और अवचेतन मन का एक अच्छा अथवा बुरा संगठन नहीं है। उसका अधिक महत्वपूर्ण भाग अतिचेतन (Superconscient) है। यदि मानव एक विकसनशील तथ्य है और वह किन्हीं उच्चतर अवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है तो अवश्य ही वे उच्चतर अवस्थाएँ सम्भावनाओं के रूप में उसकी प्रकृति में आज भी निहित हैं। और ये निहित सम्भावनाएँ सक्रिय प्रभाव भी मानती होंगी, क्योंकि मानव के विकास में वे उत्तरोत्तर चरितार्थ होती जा रही हैं। इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व में एक अतिचेतन भाग भी है और क्योंकि यह उसकी उच्चतर भावी अवस्थाओं का द्योतक है, इसलिए महत्वपूर्ण भी है। मानव का वह विकासमार्ग जो वह तय कर चुका है, उसके अवचेतन को निर्धारित करेगा। यह हमारे भूत के संस्कारों का संग्रह होगा और हमारे वर्तमान व्यवहारों को निर्धारित करेगा, परन्तु पूर्णतया सीमित नहीं करेगा। यदि ऐसा होता तो उन्नति और विकास सम्भव न होते। उन्नति करने के लिए हमें अपने पुराने संस्कारों को अतिक्रान्त और रूपान्तरित करना होता है और यह हम अपने अतिचेतन भाग के बल से ही करते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हमारा अतिचेतन पूर्णतर समन्वय की दिशा दिखलाता है। वर्तमान मानवीय व्यक्तित्व द्वन्द्वमय है। हमारी पाशविक प्रवृत्तियाँ आपापन्थी ढंग से अपने-अपने लक्ष्य की पूर्ति चाहती हैं, वे अहंकारमयी हैं। परिणामस्वरूप हमारे व्यक्तित्व के सभी अंगों में विरोध है। हमारे चिन्तन और कर्म-में, कर्म और भावनाओं में तथा अपने आप इन सबमें विरोध और द्वन्द्व है। परन्तु ये द्वन्द्व एक संगठित और समन्वित जीवन की सम्भावना उपस्थित करते हैं। पशु अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों द्वारा, जो कि अहंकारमयी है, सहज रूप में प्रचालित होता है। परन्तु मानव अपनी उच्चतर चेतना से उन्हें संगठित करने का यत्न करता है और इससे वह उनके अहंकारों से सचेतन हो उठता है, अनेक द्वन्द्वों को अनुभव करने लगता है। प्रत्यक्ष ही इस क्रम की परिपूर्णता तभी उपलब्ध होगी जब कि मानव अपनी वृत्तियों को पूर्णतया एकत्वमय व्यक्तित्व में परिणत कर देगा। यही श्री अरविन्द-योग के रूपान्तर का प्रश्न है। सामान्य अहंकारमय व्यक्तित्व को एकत्वमय आध्यात्मिक व्यक्तित्व में कैसे रूपान्तरित किया जाए?

व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि हम अपने व्यक्तित्व को उच्चतर बनाने का उपाय नहीं जानते तो उसके वैज्ञानिक विश्लेषणमात्र से हमें क्या सन्तोष मिल सकता है। श्री अरविन्द के सामने सदा यही प्रश्न रहा है। उनकी सारी खोज का विषय था मानव, व्यक्ति तथा समष्टि को कैसे उन्नत किया जाए, उसकी प्रकृति को कैसे बदला जाए, जिससे उसे स्वाभाविक रूप में ज्ञान, आनन्द और शक्ति उपलब्ध हो जाएँ। इस अध्ययन और गवेषणा में, जिसका रूप यौगिक था, उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण आविष्कार किए। प्रथम यह कि मानव प्रकृति में परिवर्तन अतिचेतन को उत्तरोत्तर चरितार्थ करने से उपलब्ध होता है। परन्तु अतिचेतन को ऊपर उठने, विकसित होने की सच्ची, गम्भीर, सतत अभिलाषा, इच्छा तथा भावना है। यह उनके योग का महामन्त्र है जिसका बल मनुष्य अनुभव से जान पाता है। दूसरे, श्री अरविन्द बतलाते हैं कि अतिचेतन एक विस्तृत क्षेत्र है जिसमें अधिकाधिक शक्तिशाली स्तर अनुभव में आते हैं। प्रथम स्तर को वे अन्तरात्मा कहते हैं। यह हमारी नैतिक अन्तरात्मा (Conscience) से सर्वथा भिन्न है। यह वस्तुतः एक आध्यात्मिक सत्ता है जिसे हम अपने व्यक्तित्व में अन्दर को प्रवेश करते हुए हृदय में अनुभव करते हैं। यह सामान्य चेतना से बहुत अधिक सजग है, आनन्दमय है तथा सशक्त है। यह अपने स्वभाव में एकत्वमय के द्वन्द्वों में उत्तरोत्तर एकत्व सम्पादित करने में सफल होती है। यह मानव में दिव्य तत्त्व है। प्राचीन परिभाषा में इसे चिन्मय पुरुष कहा गया है। आत्मा और इसमें श्री अरविन्द अन्तर करते हैं। आत्मा शुद्धसत्तात्मक वस्तु है, अन्तरात्मा उसी का गत्यात्मक पक्ष है जो विकास को प्रेरित-प्रचालित करता है तथा स्वयं विकसनशील है। आत्मा की अपेक्षा व्यक्तित्व का यह तत्व अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह मानवीय व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सकता है दिव्य बना सकता है। जिनका आदर्श केवल आत्मानुभव प्राप्त करना है, सामान्य लौकिक जीवन को पूर्णतया रूपान्तरित करना नहीं। वे बेशक आत्मा की शुद्ध सत्ता को अधिगत करना अपना लक्ष्य बना सकते हैं परन्तु श्री अरविन्द के दर्शन योग का लक्ष्य तो भिन्न है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूपान्तर के कार्य को चरम सीमा तक पहुँचाने में अन्तरात्मा अपने आपमें समर्थ नहीं होती। अतिचेतन के उच्चतर स्तर उत्तरोत्तर सक्रिय बनाने होंगे और अन्त में जब अतिमानस सक्रिय बनेगा तभी जीवन का समूल रूपान्तर होगा। तब मानवीय व्यक्तित्व पूर्ण रूप में दिव्य व्यक्तित्व बन जाएगा।

श्री अरविन्द के मानवीय व्यक्तित्व के विवरण में अभी तक हमने विशेष रूप से अतिचेतना की ही चर्चा की है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्तित्व और अन्तरात्मा का भेद भी उपस्थित किया है। यह भेद स्पष्ट बता देता है कि हमारे सामान्य व्यक्तित्व की मूल गति कामना, इच्छा, तृष्णा अथवा बहिर्मुख विषय की भूख है। तृप्ति, पूर्णता तथा सहज आनन्द का क्षेत्र हमारे अन्दर गुप्त पड़ा हुआ है। वह अन्तरात्मा का क्षेत्र है। उसे अधिगत करके हम सामान्य जीवन की कामना को तृप्ति में परिवर्तित कर सकते हैं।

मनोविश्लेषण ने विशेष रूप से अवचेतन मन का अध्ययन किया है और एक महत्वपूर्ण तथ्य के तौर पर उसने हमें बतलाया है कि इच्छाओं के अवदमन से मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। परन्तु क्या अवदमन के बिना जीवन का निर्वाह हो सकता है? फ्रायड कहते हैं कि यह सम्भव नहीं। सभ्य समाज में रहते हुए हमें अपनी इच्छाओं को अवदमित करना ही होता है। उन्होंने क्रियात्मक रूप में यही दिखलाया कि जब अवदमन से मानसिक विकार पैदा हो जाए तब मानसिक स्वास्थ्य पुन: कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य स्वस्थ मानव के मानसिक संगठन को अधिक उन्नत कैसे किया जा सकता है, यह उनका प्रश्न ही नहीं था।

हम कह चुके हैं, श्री अरविन्द का ठीक यही प्रश्न था। उन्होंने सामान्य स्वस्थ मानव को अधिक स्वस्थ तथा पूर्णतर बनाने के लिए खोज की। इसमें अस्वस्थ मानव के लिए उपाय स्वत: आ जाते हैं और जो उपाय विशेष महत्वपूर्ण है वह यह कि यदि मानव अभीप्सा के क्रम को उचित रूप में प्रयोग करना सीख जाए तो वह बिना अवदमन के जीवन-निर्वाह की एक अपूर्व शैली अधिगत कर सकता है।

श्री अरविन्द के विवरण में अतिचेतना अधिक महत्वपूर्ण है, परन्तु अवचेतन का महत्व भी कुछ कम नहीं। अतिचेतना की क्रिया से हमें अवचेतना की आपापन्थी और धाँधली में व्यवस्था लानी होती है। इसके लिए अवचेतन के कर्म और व्यवहार का हमें जितना ज्ञान हो वह सहायक होता है। अत: निष्पक्ष भाव में हमें उत्तरोत्तर अपनी अवचेतना का निरीक्षण करना होगा और उसकी विभिन्न गतियों को समझना होगा।

हमने ऊपर मानवीय व्यक्तित्व में कामनात्मा और अन्तरात्मा अथवा 'बाह्य पुरुष' और 'आन्तर पुरुष' का जिक्र किया है। ये दोनों हमारे आत्म-भाव के दो स्तर हैं। सामान्यतया जिस व्यक्तित्व में अथवा व्यक्ति के जिस भाव में हम निवास करते हैं वह बहिर्मुख होता है और वह कामना अर्थात बाह्य पदार्थों की इच्छा से प्रेरित-परिचालित होता है। यह व्यक्तित्व भी विकासक्रम में अत्यन्त धीरे-धीरे मानो बहुत परिश्रम से विकसित हो पाया है और यह खूब समृद्ध संगठन है। प्रधान रूप में यह तीन तत्त्वों का बना हुआ है, शरीर, प्राण और मन। ये तीनों, वास्तव में, वैश्व तत्त्व हैं, परन्तु व्यक्ति में ये

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैयक्तिक रूप धारण कर लेते हैं। मेरा शरीर व्यापक जड़ प्रकृति का ही एक खण्ड है, परन्तु इसके प्रति जो मेरी ममता है वह अन्य वस्तुओं से मुझे नहीं है। इसी प्रकार मेरा प्राण, मेरा जीवन-तत्त्व, प्राणि-जगत्मात्र के साथ समान धर्म और व्यवहार से संयुक्त है। मेरा प्राण व्यापक प्राण का ही एक अंश है, परन्तु मुझमें यह वैयक्तिक भाव को प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार मेरा मन भी। हम अपने विचारों को विशेष रूप से निजी समझते हैं, परन्तु उस समय हम यह भूल जाते हैं कि मन वस्तुतः एक व्यापक वैश्व तत्त्व है जो सभी मानवों में प्रकट हो रहा है। प्रकट होने में वह हर एक में एक वैयक्तिक भाव ग्रहण कर लेता है परन्तु इससे उसका मौलिक धर्म और व्यवहार नहीं बदलता। विचारों के जोड़-तोड़ अलग-अलग हो जाते हैं, परन्तु ये विचार हमें उस व्यापक मन से ही प्राप्त होते हैं। यह तथ्य आज विशेष महत्व का है, क्योंकि विचारों के जोड़-तोड़ की नवीनता को ही आज हम मौलिकता माने हुए हैं। विचार तो हमारे सब बाहर से, वैश्व प्रकृति से प्राप्त किए हुए हैं। वे हमारे अपने नहीं। मन अपने आपमें हमारा वास्तविक निज-भाव नहीं है। हमारा वास्तविक निज-भाव हमारी अन्तरात्मा है, और जब हम वहाँ से व्यवहार करते हैं तब हम यथार्थ अर्थों में मौलिक बनते हैं। परन्तु यह सत्य हम अनुभव तब करते हैं जब हम अपने शरीर, प्राण और मन से तादात्म्य-भाव हटा लेते हैं। तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हम स्वयं इनसे भिन्न एक अपूर्व प्रकाश और आनन्द का केन्द्र हैं और ये उसके कारण हैं, परिस्थितियों के साथ व्यवहार करने के साधन हैं।

मानवीय व्यक्तित्व को प्राचीन भारतीय परिभाषा में पिण्ड कहा गया है और पिण्ड को पूरे ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप बताया गया है। वास्तव में मानवीय व्यक्तित्व, जो कि वैसे साढ़े तीन हाथ के शरीर में जाता है, अत्यन्त विशाल, विस्तृत और समृद्ध अस्तित्व है। हमारे शरीर, प्राण और मन का एक सूक्ष्म और आन्तर रूप भी है, वही इनके बाह्य और स्थूल रूप का आधार है और वह वैश्व शरीर, प्राण और मन से सीधे सम्बद्ध है। हमारे व्यक्तित्व के इस क्षेत्र को, जो कि आन्तर शरीर, आन्तर प्राण और आन्तर मन का बना हुआ है, श्री अरविन्द प्रच्छन्न आत्मा या प्रच्छन्न पुरुष का नाम देते हैं। इस पुरुष की शक्ति अत्यन्त विशाल है। यह दूर की वस्तुओं को अनुभव कर सकता है। कई व्यक्ति सहज में ही इस पुरुष को प्राप्त कर लेते हैं और अपने व्यक्तित्व के उस भाग में निवास करते हुए वे अपने में असाधारण शक्तियाँ अनुभव करने लगते हैं। टेलीफैथी अर्थात बिना सामान्य भौतिक साधनों के विचारों के आदान-प्रदान का समाधान आज मनोविज्ञान को बहुत चक्कर में डाल रहा है। तथ्य के रूप में अब इससे इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु इसका समाधान सामान्य मन की शक्तियों के आधार पर नहीं होता। लेकिन श्री अरविन्द स्पष्ट रूप में बतलाते हैं कि आन्तर मन वैश्व मन से सीधा सम्पर्क रखता है, हमारे बाह्य मन की तरह यह अपने आपको अलग नहीं अनुभव करता। अतः जब हम अनायास ही अथवा अभ्यास और इच्छा से उसे अधिगत करते हैं तब हम दूर की वस्तुएँ अनुभव करने लगते हैं, हम अन्य मनों के विचारों को जानने लगते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री अरविन्द ने गम्भीर अंतर्निरीक्षण द्वारा मानवीय व्यक्तित्व की अपूर्व खोज की है और इसके एक-एक क्षेत्र के यथार्थ स्थान और बल का पूरा-पूरा वर्णन किया है। अब तक व्यक्तित्व के चार प्रधान क्षेत्र वर्णन में आ चुके हैं, चेतना, अतिचेतना, अवचेतना और गुह्य-चेतना (प्रच्छन्न आत्मा का क्षेत्र)। इनमें हम एक और जोड़ सकते हैं। वह है परिचेतना। हर एक व्यक्ति के चारों ओर एक चेतना का परिवेष्टन होता है जिसके द्वारा वह अपनी परिस्थिति के सम्पर्कों को थोड़ी दूर से ग्रहण कर सकता है। परन्तु साधारणतया हम अपने इस चेतना-भाग से सचेतन नहीं होते और इसी कारण जब तक वस्तुओं का स्थूल सम्पर्क हमें इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त नहीं होता तब तक हमें उनका ज्ञान नहीं होता। यह परिचेतन हर एक व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र की, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अथवा इनका बहि:प्रसारित प्रभाव (Radiation) होता है। यदि हम अपने परिचेतन से सजग हो जाएँ और अन्य परिचेतनों के विभिन्न गुणों से परिचित हो जाएँ तो वस्तुओं और अन्य व्यक्तियों के सम्पर्कों के गुण-दोष को कुछ पहले ही जान जाने में सफल हो सकते हैं, जो जीवन-निर्वाह में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हमारा सामान्य व्यक्तित्व विशेषकर हमारा चेतन अंश ही है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के इतने थोड़े-से भाग में ही हम अधिकतर रहते हैं। अपने अवचेतन भाग से हम सजग नहीं, परन्तु वह हमारे चेतनांश पर प्रभाव लगातार डालता रहता है, और उसे अपने पूर्व अभ्यासों तथा अवदमित इच्छाओं के अन्दर सीमित रखने का यत्न करता है। हमारे अतिचेतन तथा गुह्यचेतन प्रदेश हमें अप्राप्त ही रहते हैं और अपने परिचेतन मण्डल को हम जानते ही नहीं। जीवन-विकास के लिए, हमें अपने चेतन-अंश से आग्रहशील तादात्म्य को हटाकर चेतना के क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करना होता है। इसका उपाय है अभीप्सा, चेतना के क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करने का आन्तरिक यत्न। इस यत्न में हम अपने व्यक्तित्व के ऊपरी भाग से हटकर विशेष रूप में गहराई में तथा भीतर जाने की कोशिश करते हैं और इस प्रयत्न द्वारा देर-सबेर हम अपनी अन्तरात्मा का स्पर्श प्राप्त करते हैं। यह स्पर्श इतना अपूर्व और आनन्ददायक होता है कि इसे हम फिर पुनः-पुनः चाहने लगते हैं। इस प्रकार अन्तरात्मा चेतन भाग में उत्तरोत्तर सक्रिय प्रभाव बनने लगती है। इससे सामान्य व्यक्तित्व में एक नया समन्वय साधित होने लगता है जिसे श्री अरविन्द आन्तरात्मीकरण कहते हैं। मानव का सामान्य व्यक्तित्व शरीर, प्राण और मन का ही संगठन है। इनमें मन उच्चतम तत्त्व है और सारे संगठन को हम शरीर और प्राण का मानसीकृत समन्वय कह सकते हैं। पशु की सत्ता प्राणीकृत शरीर कही जा सकती है, उसमें मन अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में है। सृष्टि के विकासक्रम में मानसीकृत मानव अभी तक उच्चतम सत्त्व है, परन्तु विकास की पूर्व अवस्थाओं को तथा मानव की निहित सम्भावनाओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आन्तरात्मीकरण उसके विकास की अगली सामान्य अवस्था होगी। उसके बाद श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मीकरण की अवस्था आएगी और फिर उसके बाद अतिमानसीकरण की। उससे मानव की प्रकृति का समूल रूपान्तर हो जाएगा। अन्तरात्मा, पूर्ण आध्यात्मिक भाव तथा अतिमानसिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्थित मानवजाति को विकासक्रम से अधिगत होनी अनिवार्य है, यह श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि की अपूर्व तथा अत्यन्त आशाप्रद देन है। ये हमें स्वाभाविक रूप में प्राप्त होंगी, इनके लिए प्रकृति स्वयं योग कर रही है। परन्तु यदि हम प्रकृति के आशय को जानकर उसके साथ सचेतन रूप में सहयोग दें तो हमारे विकास की गति कहीं द्रुततर हो सकती है और उससे जाति का विकास भी द्रुततर गति से चल सकता है।

मानवीय व्यक्तित्व का सामाजिक विकास—धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म

हम पहले कह चुके हैं कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं; व्यक्ति के विकास से समाज उन्नत होता है और समाज का स्तर ऊँचा होने से व्यक्ति अधिक ऊपर उठता है। यहाँ हम समाज को अपने सामूहिक रूप में देखना चाहते हैं कि यह किन सोपानों से गुजरता तथा विकसित होता है। समाज के प्रारम्भ और इसके प्रारम्भिक जीवन की अवस्था के प्रश्न में जाने की हमें आवश्यकता नहीं। हम यहाँ केवल कुछ महान सामाजिक आदर्शों और प्रभावों पर विचार करना चाहते हैं, जो सामाजिक जीवन के विकास में सहायक होते हैं। ये आदर्श हैं—धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म। इन पर थोड़ा विचार कर लेना यहाँ मानवीय व्यक्तित्व के प्रसंग के लिए उपयोगी होगा। ये प्रभाव हम पर सदा कार्य करते रहते हैं, इनके यथार्थ रूप से हमें परिचित होना ही चाहिए। यह विवेचन मानव समाज के विकास की भावी दिशा को भी इंगित कर सकता है।

धर्म मानव समाज का एक अत्यन्त महान सांस्कृतिक प्रभाव है और इसने मानव को जीवन के लिए शुरू से ही प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। धर्म के नाम और रूप अनेक हैं और इनमें से एक-एक पूरे-पूरे सांस्कृतिक जीवन को निर्धारित करता है। ये अनेक धर्म अपनी-अपनी पूजा-उपासना की एक शैली तथा व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के अनेक कर्तव्य बतलाते हैं, व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन की मर्यादा निर्धारित करने का यत्न करते हैं। इनकी विभिन्नताएँ स्पष्ट हैं और ये विभिन्नताएँ अपने-अपने जन्म-स्थान की भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थिति से सम्बन्ध रखती प्रतीत होती हैं। इस प्रकार धर्मों में बहुत कुछ सापेक्ष है, परन्तु वह प्रायः निरपेक्ष सत्य ही माना जाता है। परन्तु ये विभिन्नताएँ अधिकांश में धर्मों के बहिरंगों में होती हैं। यदि हम धर्मों के केन्द्रीय अनुभवों को विचारें, उन अनुभवों को, जिनसे उनका जन्म हुआ है तथा जिन्हें वे चरितार्थ करना चाहते हैं, तो हम उनमें अपूर्व सहानुभूति और साम्य पाते हैं। यह धर्मों का आध्यात्मिक अंश है और यही उनकी प्रेरणा तथा प्राण है। आध्यात्मिक अंश में भी हर एक धर्म में अपनी-अपनी मौलिकता है, एक धर्म भगवान को जगत का न्यायकारी सम्राट अनुभव करता है, दूसरा प्रेम और प्रकाश की आदर्शमूर्ति और तीसरा अविचल शान्ति। परन्तु इन अनुभवों में प्रत्यक्ष ही सहानुभूति और साम्य है और यदि हम धर्मों के आन्तरिक अनुभव को उनका मौलिक सत्य मानें तो हमारे मन में से उनके भेदों की भावना कम हो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाती है। फिर यदि हम बाह्य रीति-रिवाज और पूजा-उपासना की शैलियों में भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रभावों की सापेक्षता भी देख पाएँ तो हम धर्मों के वास्तविक सत्य को और भी स्पष्टतया अनुभव कर पाएँगे। इस विवेचन से यह भी इंगित हो रहा है कि शायद मानव का भावी धर्म शुद्ध आध्यात्मिक धर्म होगा, जिसमें बाह्य व्यवहार, कर्म आदि व्यक्ति और समाज की रुचि तथा विकासगत आवश्यकता के अनुसार उपयोगी और हितकर माने जाएँगे। तब मानव जिस एकता को अनुभव करेगा उसकी आज हम कल्पना ही कर सकते हैं। परन्तु यह अवस्था अधिक शीघ्र आ सकती है यदि हम धर्मों के बहिरंग और अन्तरंग में भेद करना जान जाएँ तथा बहिरंग की सापेक्षता देख लें, अंतरंग के साररूप और इसकी विविधता और इन विविध रूपों की परस्पर पूरकता को पहचान लें, धर्मों की समूची सीमाओं को अनुभव कर लें। तब, अवश्य ही, समग्रतापूर्ण आध्यात्मिक धर्म के लिए सुन्दर भूमिका तैयार हो जाएगी।

कला, नीति और विज्ञान बौद्धिक युग के अपने महान आदर्श हैं और वर्तमान समय में धर्म की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो रहे हैं। सौन्दर्य, कर्तव्यपालन और युक्तियुक्तता आज के उच्चतम सांस्कृतिक ध्येय हैं और मानव-हृदय को विशेष रूप में प्रेरित व प्रभावित करते हैं। परन्तु ये आदर्श उस युग की उपज हैं जिसमें मन-बुद्धि ही मानवीय व्यक्तित्व का शिरोमणि सत्य माना जाने लगा, आत्मा अस्वीकृत हो गई, अथवा इसके लिए भावना जाती रही। ये तीनों ध्येय, वास्तव में, एक तो एकांगी हैं, मानवीय व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष—ज्ञान, भाव या कर्तृत्व से सम्बन्ध रखते हैं, दूसरे ये द्वन्द्वग्रस्त हैं, निरपेक्ष अन्तिम तथ्य को प्रस्तुत नहीं करते। सौन्दर्य भला बिना सत्य और शिव के कैसे पूर्ण तथ्य हो सकता है। नीति तो समाज-जनित कर्तव्य-अकर्तव्य के जंजाल और दुविधा में फँसी रहती है। कर्तव्य-बुद्धि और वासना का संघर्ष इसके लिए अनन्तकालीन है। पूर्ण सद्भाव और स्वाभाविक शुभ कर्म इसकी कल्पना से बाहर हैं। युक्तियुक्तता और बुद्धि पिछले 300-400 सालों से योरप में विशेष आदर्श मानी गई हैं, परन्तु पिछले 30-40 वर्षों में वहाँ के मनोविश्लेषण ने ही यह दर्शा दिया है कि बुद्धि सत्य का दावा भले ही कर सकती है, किन्तु यह गुप्त रूप में बहुआ प्रेरित वासना से होती है और यह सब पक्षों-विपक्षों के लिए युक्ति देने में चतुर है। प्रत्यक्ष ही, ये तीनों आदर्श अपने आपमें अधूरे हैं। इन्हें हम समन्वित और समग्र रूप में आत्मानुभव में पाते हैं। आत्मानुभव एकसमान स्वयं सत् सौन्दर्य का, स्वाभाविक शुभ कार्य का तथा सत्य का निवास-स्थान है। ये एकांगी आदर्श मानव-विकास में अपनी-अपनी कुछ सेवा जरूर कर सकते हैं, परन्तु जब हम केवल इन्हीं को अपनी पूर्ण अवस्था तक ले जाते हैं तो हम आत्मा के समग्रतापूर्ण तथा स्वयं सत् अनुभव में ही आश्रय पाते हैं।

इस प्रकार धर्म, नीति, कला और विज्ञान अपनी-अपनी जगह महान आदर्श होते हुए भी अपने से परे एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं, जो मानव समाज को पूर्णतया प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और लोक-लोकान्तर

हम देख चुके हैं कि मानवीय व्यक्तित्व एक विकासशील अत्यन्त समृद्ध तथ्य है। जन्म के समय भी यह कोरा कागज नहीं होता, जैसा कि पश्चिम में कुछ विचारकों ने माना है। यह अनेक रुचियों-प्रवृत्तियों आदि को लेकर प्रकट होता है और जीवन में कुछ और विकास साधित करके विलुप्त हो जाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि प्रकृति में व्यक्ति-भाव बहुत धीरे-धीरे विकसित हुआ है और मानव की अन्तरात्मा में वह अपने यथार्थ भाव को प्राप्त करता है। अब यदि व्यक्ति भाव का विकास प्रकृति का एक विशेष आशय है तब मानव का जीवन-काल केवल जन्म और मृत्यु के बीच का छोटा सा समय नहीं हो सकता। इस जन्म से पहले भी उसके जन्म मानने होंगे और इसके बाद भी अन्य जन्म स्वीकार करने होंगे। पुनर्जन्म मानों व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास का एक साधन है। यदि यह ठीक है तो यह भी मानना होगा कि व्यक्ति-भाव समग्र रूप में उत्तरोत्तर ऊपर को ही उठता जाएगा। उद्भिजों से पशुओं में और पशुओं से मनुष्यों में व्यक्तिभाव अधिक उन्नत है, अतः जो व्यक्ति मनुष्य-स्तर पर ही विविध अनुभवों की जिज्ञासा से विविध अवस्थाओं में जन्म ले सकता है, परन्तु वह एकदम पुनः पशु-पक्षी या पेड़-पौधा नहीं बन सकता। इसके विपरीत मानने से सृष्टि के विकास के भाव में आपत्ति अनुभव होती है। यदि सृष्टि भगवान की अभिव्यक्ति है, जिसमें पहले वे नई रचना और लीला की खातिर विलीन हो गए थे और जिसमें अब उनकी निहित चेतना अधिकाधिक प्रकाश में आती जा रही है, तो समग्र रूप में मानव सदा उच्चतर ही उठता चला जाएगा। अपवाद-रूप में, किसी विशेष वृत्ति के कारण वह भले ही किसी पशुयोनि में चला जाए, परन्तु अपने अस्तित्व के स्वरूप से वह मनुष्य-स्तर पर पहुँच चुका है और विश्वविकास के क्रम में उसे अब और ऊपर उठना है न कि नीचे जाना।

श्रीअरविन्द का पुनर्जन्म का यह विचार परम्परागत भारतीय विचार में नया संशोधन उपस्थित करता है और इसलिए विचारणीय है। यदि जगत माया नहीं और इसमें कुछ अर्थ है तो यह भगवान की रचना और आनन्दवृद्धि का ही विषय हो सकता है। परन्तु हम कह सकते हैं कि भगवान तो पूर्ण हैं, उनमें नई रचना कैसे हो सकती है ? यहाँ जरा सोचना होगा कि यदि पूर्ण नई रचना नहीं कर सकता तो क्या यह उसकी पूर्णता में कमी न होगी ? इसीलिए श्री अरविन्द कहते हैं कि भगवान पूर्ण हैं तथा रचनाशील भी हैं। यह जगत उसकी सृष्टि है और इसमें जो चेतना का वर्द्धनशील प्रकाश उद्भिज, पशु और मनुष्य में हम देखते हैं उसका अर्थ आत्मोपलब्धि और आनन्दवृद्धि ही हो सकता है। परन्तु जड़ में उद्भिज और उद्भिज में पशु और पशु में मनुष्य और मनुष्य में आत्म-प्रकाश का विकास न हो पाता यदि पहले जड़ में यह सब सामर्थ्य निहित रूप में मौजूद न होता। शुद्ध जड़ में भला आत्म-प्रकाश कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिए विकास का पूर्वगामी क्रम-निवर्तन (Involution) है, जिसके द्वारा भगवान स्वेच्छा से जड़ के गर्भ में आत्म-विस्मृति स्वीकार कर लेते हैं। यही आत्म-विस्मृति आत्मोलब्धि का आधार बनती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। जगत और सत्ता के ये आधारभूत विचार हमें खूब स्पष्ट हो जाने चाहिए, इनके बिना जीवन, पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों को समझना कठिन होगा। हमारे परम्परागत दार्शनिक चिन्तन में विकास का भाव पिछले समय में काफी मन्द पड़ गया था। हम प्राय: यही मानते रहे हैं कि जगत जैसा यह आज ऐसा ही भगवान ने आदि काल में बनाया, जो आज योनियाँ हैं ये तब पैदा कीं और यह ऐसे का ऐसा ही अन्तकाल तक चलता रहेगा। परन्तु इस विचार में अनेक दोष हैं, योनियाँ कई आ कर चली गई हैं, आज उनके खण्डित पिंजरमात्र ही कभी-कभी मिल जाते हैं। सजीव दर्शन को नए तथ्यों का समाधान कर सकना चाहिए और हमारे मन-बुद्धि को सन्तोष दे सकना चाहिए। 'विकास' एक निश्चित तथ्य है, व्यक्ति का, समाज का तथा प्रकृति का। सामान्य निरीक्षण से भी मनुष्य इसे अवगत कर लेता है। अब प्रश्न यह है कि इसका समाधान क्यों और कैसे होता है? पश्चिम में डार्विन ने इसका एक उत्तर दिया है, वह उत्तर पीछे कई प्रकार से संशोधित-परिवर्द्धित हुआ है। पूर्व में श्री अरविन्द एक दूसरा उत्तर देते हैं। दार्शनिक जिज्ञासावाले इन पर विचार करके देखें और अपने प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ें। वे अपने विकासवाद को मूल में उपनिषदों पर आधारित बतलाते हैं। अन्न, प्राण और मन का क्रमिक वर्णन वहाँ बहुत मिलता है तथा हिन्दू धर्म के दस अवतारों का विचार भी एक विकासक्रम का द्योतक है। जो भी हो, यह कहना असत्य है कि विकास का विचार भारतीय दर्शन तथा धर्म में नहीं है। यह जरूर ठीक है कि पिछले एक युग में जब कि हम स्वयं ही रूढ़िगत अवस्था में रह रहे थे यह विचार हममें अत्यन्त मन्द हो गया था।

पुनर्जन्म व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास के लिए आवश्यक है, उसके बिना वर्तमान जीवन के ही अनेक तथ्य समझने-समझाने कठिन हो जाएँगे। जन्मसिद्ध रुचियाँ-प्रवृत्तियाँ कहाँ से आईं तथा जीवन भर जो परिश्रम किया, जो विकास साधित किया उसका आगे क्या होगा? इन प्रश्नों के और उत्तर भी हैं, परन्तु व्यक्तित्व के अनवरत विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक ही व्यक्ति को अपने पुराने परिश्रम पर आगे परिश्रम करने का अवसर मिले। यह पार्थिव जीवन होता है? कोई अच्छा या बुरा जन्म ग्रहण करता है, सो कैसे? हमारा परम्परागत उत्तर है, कर्मों के अनुसार। जो इस जन्म में अच्छे कर्म करता है वह अगले में सुख पाएगा और जो बुरे करता है वह दु:ख। भगवान न्यायपूर्वक हमारे कर्मों का फल देता है। यह भारतीय चिन्तन और विश्वास का प्रसिद्ध कर्म-सिद्धान्त है। यदि यह कर्म-सिद्धान्त ही सब कुछ है तब तो जीवन एक मशीन-सा बन जाएगा और भगवान एक न्यायाधीश-मात्र। इसमें विकास, रचना और आनन्दवृद्धि की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। किए के अनुसार फल मिलता रहेगा। रचना का तो आशय ही असम्भव हो जाएगा। परन्तु जगत और जीवन का प्रधान आशय तो विकास है, अनुभवप्राप्ति है, आनन्दवृद्धि है, रचना है। अत: पुनर्जन्म पूर्व कर्मों के अनुसार नहीं हो सकता, बल्कि अन्तरात्मा के अनुभव की माँग के अनुसार होना चाहिए। एक जीवन की समाप्ति पर, एक प्रकार की अनुभव-उपलब्धि के बाद; अन्तरात्मा एक विभिन्न प्रकार के अनुभव की जिज्ञासा करती है, नया जन्म इस जिज्ञासा से निर्धारित होना चाहिए। इस प्रकार नए जन्म

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का कारण हमारी अपनी इच्छा, वासना तथा अन्तरात्मा की प्रेरणा होती है। हमारे शरीर, प्राण और मन की माँगें अत्यन्त विभिन्न होती हैं, ये ऊँचे-नीचे सभी प्रकार के अनुभवों को चाहते हैं, इनके शिक्षण और विकास के लिए अन्तरात्मा इन्हें इनकी माँगों के अनुसार नई परिस्थितियाँ तथा सब प्रकार के अनुभवों का अवसर प्रदान करती हैं। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि पुनर्जन्म हमारी इच्छा के अनुसार होता है तो फिर सभी सुखी दिखाई देने चाहिए, क्योंकि दुःख तो कोई नहीं चाहता? वास्तव में, जब हम अपने वर्तमान जीवन के निरीक्षण से कह सकते हैं कि हमारे प्राण-मन वस्तुओं के रूप-रस आदि बाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर उनकी इच्छा करने लगते हैं, अन्त में उनसे सुख मिलेगा अथवा दुःख, इसका विचार ही वे नहीं करते। हमारे प्राण-मन तात्कालिक सुख को खोजते हैं और जहाँ इन्हें धन, ऐश्वर्य और स्वास्थ्य पसन्द हैं वहाँ ये भूख, निर्धनता और रोग में भी कुतूहल और रस अनुभव करते हैं। ये कुतूहल और रस ही नए अनुभवों के क्षेत्र को निर्धारित करते हैं और मृत्यु के बाद हमारी चेतना अन्तरात्मा, हमारे शरीर, प्राण और मन को निज अनुभव द्वारा विकसित होने के लिए नए-नए जन्म और नई-नई परिस्थितियाँ प्रदान करते हैं। जिन स्थितियों को हम अवांछनीय समझते हैं वे वास्तव में विकास के लिए उपयोगी हो सकती हैं। निर्धनता उन्नति के लिए प्रोत्साहन दे सकती है और अन्तरात्मा इसे मन-प्राण की शिक्षा के लिए भी चुन सकती है।

परन्तु इस चुनाव में पूर्व जन्म के कर्मों का प्रभाव भी काम करता है। एक व्यक्ति इस जीवन में जैसे कर्म करता रहा है वही उसकी रुचि-प्रवृत्ति को निर्धारित करेंगे। यदि यह रुचि-प्रवृत्ति मृत्यु के समय तथा नया जन्म निर्धारित करने के समय भी उसकी प्रबल भावना रहती है तो अगला जन्म उससे सम्बद्ध क्षेत्र को ही उपस्थित करेगा। इस प्रकार हमारे इस जन्म के कर्म का, बनिये की बही के अनुसार, न्यायपूर्वक फल होगा, अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा, यह बात ठीक नहीं। एक और प्रकार से भी हमारे इस जन्म के कर्म हमारे अगले जन्म की स्थिति को निर्धारित करेंगे। मनुष्य कर्म अपनी विकास-स्थिति के अनुसार करता है और सुख-दुःख भी वह उसी स्थिति के अनुसार अनुभव करता है, उससे उच्च स्थिति के सुख-दुःखों के लिए उसमें भावना ही कम होती है। शरीर, प्राण, मन और अन्तरात्मा इन सबके अपने-अपने सुख-दुःख हैं। यदि एक व्यक्ति प्रधान रूप में प्राण की स्थिति में निवास करता है, उसके कर्म भी प्राण की प्रवृत्तियों से प्रेरित होंगे, उसे प्राण के आवेग-प्रवेग ही प्रिय लगेंगे, चिन्तन का सुख तथा आत्मा का आनन्द उसे प्रेरित नहीं करेंगे। ऐसी अवस्था में उसका नया जन्म अपनी पूर्व विकास-स्थिति के अनुसार ही होगा और वहाँ से वह धीरे-धीरे ही उससे विरक्त होकर तथा उच्चतर स्थिति के लिए अभीप्सा द्वारा ऊपर उठेगा। इस प्रकार भी कर्म अगले जन्म को निर्धारित करते हैं।

कर्म-सिद्धान्त वास्तव में मानव-जीवन के क्षेत्र में कार्य-कारण के नियम को लागू करता है और यह दिखला देता है कि यदि भौतिक प्रकृति में नियम है तो मानव-जीवन भी उच्छृंखल नहीं, यहाँ भी नियम काम करता है। परन्तु मानव-जीवन में भी यह प्रकृति के क्षेत्र में ही—शरीर, प्राण और मन के व्यवहार में—लागू है; अन्तरात्मा इससे उच्चतर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अस्तित्व है और वह स्वतन्त्र कर्मों को कर सकती है। साधारणतया हम कर्म-सिद्धान्त को सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व पर लागू कर देते हैं। परन्तु यह भूल है। अन्तरात्मा अनुमन्ता है, यह अपनी अनुमति देकर अथवा उसे रोककर पुराने कर्मों के प्रभाव से व्यक्तित्व को मुक्त कर सकती है तथा नए कर्मों की सृष्टि कर सकती है। श्री अरविन्द कहते हैं कि सामान्य जीवन साधारणतया मानव के पूर्व कर्मों और उनके संस्कारों से प्रचालित होता है, परन्तु जब वह योगमार्ग में आ जाता है और आत्मानुभव से प्रेरणा प्राप्त करने लगता है तब कर्मों के संस्कार उसके व्यवहार को निर्धारित करने में सफल नहीं हो सकते। तब वह कर्म के चक्कर से बाहर निकल जाता है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र भी, जो पूर्व कर्मों के बल पर ही भावी को बतलाता है, यह स्वीकार करता है कि भावी को बदला भी जा सकता है।

पुनर्जन्म का प्रश्न लोकलोकान्तरों के प्रश्न से भी सम्बद्ध है। क्या यह पृथ्वी ही एकमात्र लोक है अथवा इसके अतिरिक्त कोई और लोक भी है जहाँ मानव अपने विकासक्रम में जाकर निवास करता है। प्राचीन धर्मों में स्वर्ग और नरक तथा अन्य लोकों के जिक्र आते हैं, परन्तु आधुनिक बौद्धिक युग ने उनका खण्डन कर उन्हें काल्पनिक बता दिया है। परन्तु सत्ता के जिन स्तरों की हम पहले चर्चा कर चुके हैं वे यदि सत्य है तब जैसे यह पृथ्वी मुख्य रूप में जड़तत्त्व का लोक है इसी प्रकार प्राण, मन आदि स्तरों के भी अपने-अपने लोक होने चाहिए। इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति अपने बहिर्मुख और स्थूल भाव से तटस्थ होकर व्यक्तित्व और सत्ता के सूक्ष्मतर तथ्यों को जानने का यत्न करता है तो वह प्राण, मन, अन्तरात्मा आदि के अपने-अपने स्वतन्त्र लोकों और उनमें बसने वाले जीवों का अनुभव प्राप्त करता है। ये लोक परस्पर सम्बद्ध हैं और इसलिए इन सबका प्रभाव यहाँ पृथ्वी पर अनुभव किया जा सकता है। मृत आत्माओं के लोक की चर्चा आज एक पश्चिमी विज्ञान भी करता है। पुराने स्वर्ग और नरक प्राणलोक के विभिन्न क्षेत्र ही प्रतीत होते हैं जहाँ या तो अपार ऐन्द्रियक सुख हैं या असह्य शारीरिक यातनाएँ।

लोकलोकान्तरों, उनके स्वरूपों तथा उनमें रहने-सहने की अवस्थाओं आदि का प्रश्न अत्यन्त जटिल और कठिन है। परन्तु सत्ता के विभिन्न स्तरों का विचार काफी हद तक आग्रह करता है कि जहाँ वे स्तर एक-दूसरे से ओतप्रोत होकर जागतिक अभिव्यक्ति को प्रेरित और प्रभावित करें वहाँ उनके अपने-अपने शुद्ध लोक भी होने चाहिए। इससे उन लोकों के अपने-अपने अनुभव विशेष रूप से प्राप्त हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व में जहाँ पृथ्वीतत्त्व आधार है वहाँ इसमें प्राण, मन और अन्तरात्मा भी हैं। मानो कोई व्यक्ति विशेष रूप में प्राण के जीवन का अनुभव प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए प्राणलोक का आकर्षण होगा। प्राण के आवेगों-प्रवेगों से विरक्त हुए बिना व्यक्ति आत्मा का जिज्ञासु नहीं बनता। इसी तरह मन के अपने आकर्षण हैं और आत्म-जिज्ञासु को उन्हें भी अतिक्रान्त करना होता है।

मृत्यु के बाद अन्तरात्मा अपने सूक्ष्म शरीरसहित, जो कि शरीर, प्राण और मन के सूक्ष्म तत्त्वों का बना होता है, कुछ समय के लिए अन्तरात्मा के लोक में विश्राम करती है। यहाँ वह विगत जीवन के अनुभवों को पचाती और नए व्यक्तित्व की रूपरेखा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निर्धारित करती है। इस बीच में वह विशेष आकर्षण के कारण प्राणलोक में भी जा सकती है। कम से कम मृत्यु के बाद उसे प्राणलोक में से गुजरना जरूर होता है और यदि उसकी प्राणिक तृष्णाएँ प्रबल हैं तो वह समय उसके लिए काफी भय और संकट का होता है। पुनर्जन्म के विस्तारपूर्ण वर्णन के लिए इन लोकों का विवरण काफी विशद होना चाहिए। परन्तु हमने यहाँ इस विषय का केवल उल्लेख-मात्र ही किया है।

ज्ञान, ज्ञान के कारण, पूर्ण ज्ञान

पिछले कुछ प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि मानवीय व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथ्य उसकी अन्तरात्मा है और जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा में यह आध्यात्मिक तत्त्व ही विकसित होता जा रहा है। विकास का क्रम भी यह दर्शाता प्रतीत होता है कि मानव एक समय प्रत्यक्ष रूप में, जैसा कि निहित रूप में वह आज भी है, अन्तरात्मा की आध्यात्मिक चेतना में निवास करेगा तथा वहीं से वह अपना सारा कार्य-व्यवहार करेगा। परन्तु अन्तरात्मा की उपलब्धि पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की सम्भावना को चरितार्थ नहीं कर देगी, क्योंकि जब तक मन, प्राण और शरीर का समूल रूपान्तर न हो जाए, इनका प्रकृतिगत अहंकार सर्वथा दूर न हो जाए, तब तक मानव अपने सारे व्यवहार में तथा जीवन के सब सम्पर्कों में भगवान की मूल सत्ता और उपस्थिति को अनुभव नहीं कर सकेगा। उसके शरीर, प्राण और मन के गुप्त अहंकार उसे भागवत उपस्थिति से पृथक कर देंगे और जितनी देर वे कार्य करेंगे उतनी देर के लिए वह खण्डित चेतना में आ जाएगा। श्री अरविन्द अपने योगानुभव से बतलाते हैं कि यह समूल रूपान्तर से कहीं उच्चतर अन्य आध्यात्मिक तथ्य अतिमानस द्वारा साधित हो सकेगा। मानवीय व्यक्तित्व जब अन्तरात्मा के बाद विकसित होता हुआ अतिमानस को अधिगत कर लेगा तभी वह पूर्णता रूपान्तरित होकर सामान्य रूप में भागवत उपस्थिति के ज्ञान में रह-सहेगा। तभी पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की सम्भावना पूरी होगी तथा जड़तत्त्व और आत्म-तत्त्व का समन्वय सिद्ध होगा। हमारा वर्तमान जीवन, जो केवल वस्तुओं के बाह्य रूप को जानता है और भगवान के बारे में अनुमान-मात्र लगता है तथा समाधि के सीमित समय के लिए उसका अनुभव प्राप्त करेगा और उसके ज्ञान से अपने जीवन को प्रचालित करेगा। मानव-जीवन की अधिकतम परिपूर्णता यही है, वर्तमान जीवन की सब समस्याएँ अन्त में यही समाधान माँगती हैं और इसे ही प्रस्तुत करना दर्शन और योग का विषय है।

परन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की दशा तो अत्यन्त सीमित है। हम अपने व्यक्तित्व के छोटे-से जाग्रत भाग को ही जानते हैं, इसके विभिन्न क्षेत्रों, अतिचेतन, अवचेतन, गुह्यचेतन आदि को तो जानते ही नहीं। अन्य मनुष्यों को भी हम उनके बाह्य व्यवहार से अनुमान लगाकर जानने का यत्न करते हैं, घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र के भी भावों को साक्षात रूप में हम नहीं जान सकते, हममें और उसमें एक पृथक्ता की दीवार खड़ी रहती है। अन्य वस्तुओं को हम उनके रूप-रस-गन्ध आदि बाह्य गुणों से ही जानते हैं, उनका वास्तविक वस्तु-तत्त्व हम साक्षात रूप से नहीं जान पाते। ऐसी दशा में भगवान सत्ता का व्यापक, निहित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तत्त्व हम कैसे जान सकते हैं ? जब तक हमारा ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत न हो, हमें ज्ञान के और करण की प्राप्ति न हो, तब तक वास्तविक सत्ता को हम कैसे जान सकते हैं, मानव-जीवन की परिपूर्णता कैसे सिद्ध हो सकती है, इसकी मौलिक माँग कैसे पूरी हो सकती है।

ज्ञान का स्वरूप, इसके करण तथा विकास आदि दर्शनशास्त्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न हैं और इन्हें यहाँ विचारना आवश्यक है। ज्ञान कई श्रेणियों का होता है। बाह्य स्थूल पदार्थों के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक-दूसरे से बिलकुल अलग होते हैं और ज्ञाता ज्ञेय को इन्द्रियों द्वारा जानता है, अपनी चेतना के साक्षात सम्पर्क से नहीं जानता। इसके विपरीत अपने अस्तित्व के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। यह एकात्मता-सिद्ध ज्ञान है और जितना निश्चयात्मक यह है इतना हमारा और कोई ज्ञान नहीं। इस सम्बन्ध में पश्चिम के एक दार्शनिक रेने देकार्त का अनुभव अत्यन्त रोचक है। उसने एक तीव्र दुविधा और सन्देह की अवस्था में संकल्प किया कि मैं उन सब वस्तुओं को असत्य मानूँगा जिनका सत्य मानना अनिवार्य न हो। मन के सब विश्वासों और विचारों को एक-एक करके उसने असत्य कह दिया। परन्तु वह सोचने लगा कि यह असत्य कहने वाला जो मैं हूँ यह असत्य कैसे हो सकता है ? अतः मैं जरूर हूँ। एक दूसरी शैली से उसने यह प्रदर्शित किया कि हमारा अपने अस्तित्व के बारे में जो ज्ञान है वह बाकी सब प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है और वह सबसे अधिक निश्चयात्मक है। श्री अरविन्द कहते हैं, "हमारे तलवर्ती मन को संसार भर में अन्य किसी वस्तु का ऐसा ज्ञान नहीं है।"[11]

ज्ञान की इन दो श्रेणियों के बीच हमारा अपने विचारों का ज्ञान है। हम अपने विचारों को साक्षात रूप से जानते हैं, उनसे हमारा प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है, परन्तु हैं वे ज्ञेय रूप में ज्ञाता से भिन्न वस्तु। प्रायः विचार करते हुए हम उनसे एकात्मभाव हो जाते हैं और इस प्रकार उन्हें अन्तर्दृष्टि से जानते हैं। परन्तु हम उनसे एकात्म-भाव रखते हुए ज्ञाता-रूप में अपने आपको अलग भी अनुभव कर सकते हैं। ये दोनों प्रकार के ज्ञान पहली दोनों श्रेणियों से भिन्न हैं और उनके मध्य के प्रभेद हैं।

इस विवेचन से यह काफी साफ हो जाता है कि जो ज्ञान ज्ञेय से एकात्मता द्वारा प्राप्त किया जाता है वह अन्य प्रकार के ज्ञानों से अधिक निश्चयात्मक होता है। श्री अरविन्द का कहना है कि अन्त में सब ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की एकात्मता से ही प्राप्त होता है। पूर्ण ब्रह्म के लिए सारा ज्ञान उसका प्रत्यक्ष आत्मा-ज्ञान है, उसके लिए कुछ अन्य है ही नहीं। मनुष्य भी अहंकार के कारण जगत से अपने आपको भिन्न अनुभव करने लगता है और इसी कारण उसे इन्द्रियों और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियाँ और बुद्धि अहंकारजनित विभेद को पूरा करने के उपाय हैं और बुद्धि युक्ति और कल्पना से उस ज्ञान की कमी पूरी करने और उसे संगठित करने का यत्न करती है।

वैसे यह बाह्य वस्तुओं का ज्ञान भी एकात्मता पर निर्भर करता है। बाह्य वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों द्वारा स्नायु-तन्तुओं में गति पैदा करती हैं। यह गति मस्तिष्क में रूप-रस-गन्धादि के संवेदन पैदा करती है और इन संवेदनों से फिर ज्ञाता बाह्य वस्तुओं का ज्ञान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संगठित करता है। ज्ञाता और मानसिक संवेदनों में साक्षात सम्बन्ध और आंशिक एकात्मता होती है। परन्तु संवेदन बाह्य वस्तुओं के संकेत अथवा आंशिक प्रतिरूप ही होते हैं। इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान को पूरा करने के लिए बुद्धि की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। हम एक वस्तु का एक गुण अनुभव करते हैं, शेष की कल्पना कर उसका स्वरूप गठित करते हैं। बर्फ सफेद होती है, हम सफेद वस्तु को देखकर उसे बर्फ मान लेते हैं और उससे ठण्डे स्पर्श की आशा करने लगते हैं। इस प्रकार बाह्य जगत के इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान में सदा भूल की सम्भावना बनी रहती है।

परन्तु बुद्धि का कर्म दो प्रकार का है। एक मिश्रित और एक शुद्ध। मिश्रित में यह इन्द्रियों पर आश्रित होती है और शुद्ध में स्वतन्त्र। ज्ञान का वास्तविक रूप जानने के लिए इसका शुद्ध रूप विशेष महत्वपूर्ण है। टेलीपैथी (Telepathy) तथ्य के रूप में आज स्वीकृत हो चुकी है। इसमें एक मन दूसरे मन की बात को बिना इन्द्रियों के माध्यम के जान लेता है। यदि दिल्ली में बैठा हुआ राम लन्दन में बैठे हुए श्याम के मन के साथ साक्षात सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और उसके विचार को जान सकता है, तो निश्चय ही हमारे ज्ञान को इन्द्रियों के स्थूल क्षेत्र तथा मन-बुद्धि के अनुमानों और कल्पनाओं की सन्देहपूर्ण रचनाओं तक सीमित रहने की आवश्यकता नहीं। हम बुद्धि के शुद्ध रूप द्वारा दूरस्थ वस्तुओं तथा मन का साक्षात ज्ञान भी उपलब्ध कर सकते हैं। यह सामर्थ्य जरूर असामान्य है, परन्तु यहाँ हमारा प्रश्न ज्ञान के वास्तविक रूप को जानना है तो कोई कारण नहीं कि हम अपना ज्ञान इन्द्रियों के स्थूल विषयों तक ही सीमित मानें, जैसे कि आधुनिक विज्ञान साधारणतया करता है।

इसके विपरीत, शायद इन्द्रियों और बुद्धि का मिश्रित कर्म हमारे वर्तमान जीवन का एक अभ्यासमात्र है। विकासक्रम में हमारे अहंकारमय जीवन ने अपने पार्थक्य के उपाय के रूप में ये साधन पैदा किए हैं। यह सम्भावना हम टेलीपैथी, हिप्नासिस आदि अवस्थाओं में एक हद तक सिद्ध होते देखते हैं। हिपनासिस में व्यक्ति को किंचित मूर्छित कर दिया जाता है। वास्तव में उसका सामान्य बहिर्मुख जाग्रत व्यक्तित्व प्रसुप्त कर दिया जाता है और तब उसकी गुह्यचेतना (Subliminal consciousness) कार्य करने लगती है और साक्षात चेतना के कर्म से—बिना इन्द्रियों के प्रयोग के पदार्थ को जानने लगती है तथा अन्य कई प्रकार के कर्म करने लगती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियाँ वस्तुओं के रूप-रस आदि ग्रहण करने के लिए भी अनिवार्य साधन नहीं हैं।

योगविद्या का प्रमाण इससे भी अधिक सबल है। योग के अभ्यास में जब व्यक्ति अपने बहिर्मुख व्यक्तित्व के कठोर आग्रह को त्यागकर अपने अन्दर प्रवेश करने का यत्न करता है तो वह व्यक्तित्व के उन क्षेत्रों को उपलब्ध करता है जिनका ज्ञान-सामर्थ्य कहीं अधिक होता है। वह गुह्यचेतना द्वारा प्रकृति के विश्वव्यापी कर्म और व्यवहार के साथ एकात्मता अनुभव करने लगता है और चेतना की सहज क्रिया के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त करता है। अन्तरात्मा की स्थिति के लिए एकात्मता और अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान प्राप्त करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे मनुष्य प्रकृति तथा परात्पर सत्ता के तथ्यों को साक्षात जानने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में समर्थ हो जाता है। अतिमानस की अवस्था में यह सामर्थ्य व्यक्तित्व में इस हद तक विकसित हो जाता है कि हमारे सामान्य मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ भी रूपान्तरित होकर अन्तर्दृष्टि के साधन बन जाते हैं। तब हम सामान्य इन्द्रिय-बोध में भी केवल रूप-रस आदि ही ग्रहण नहीं करते बल्कि उनके साथ वस्तुओं के आन्तरिक तथ्य को भी साक्षात ग्रहण करने लगते हैं। तब सारा ज्ञान पूर्णतया निश्चयात्मक हो जाता है। इस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान में या सामान्य बुद्धि के कर्म में देखते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता में जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञान का वास्तविक रूप नहीं। वास्तव में जिस रूप में हम अपने अस्तित्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वही ज्ञान का वास्तविक रूप है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का रूप होता है। वास्तव में यही ब्रह्म के ज्ञान का रूप हो सकता है। उसके लिए उससे बाहर अन्य कुछ है ही नहीं। उसके लिए सारा विश्व आत्मसत्ता है और ज्ञान आत्मज्ञान। मनुष्य भी योगसाधना द्वारा उत्तरोत्तर, बहिर्मुख व्यक्तित्व की सीमाओं को अतिक्रान्त करता हुआ, सब वस्तुओं और विषयों को एकात्मता द्वारा जानने की सामर्थ्य पैदा कर सकता है। और यह सामर्थ्य विकसित होते-होते जब वह अतिमानस तक पहुँच जाएगा तब उसे ब्रह्मज्ञान के साथ सर्वांगीण एकात्मता प्राप्त हो जाएगी, वह उसमें निवास करने लगेगा और वह अवस्था, वास्तव में, पृथ्वी पर दिव्य जीवन की परम अवस्था होगी।

ब्रह्म पूर्ण है, उसका ज्ञान पूर्ण है; फिर संसार में यह अज्ञान क्यों? यह अविद्या क्यों? यह दुःख-ताप क्यों?

संसार में अज्ञान, अविद्या और दुःख-ताप प्रत्यक्ष हैं। इनसे इनकार नहीं किया जा सकता। अन्तिम सत्ता भी जरूर ही एक असीम चेतन तत्त्व होनी चाहिए, यह भी अनिवार्य है। यह असीम चेतन तत्त्व सत्ता और ज्ञान में पूर्ण भी होना चाहिए और यदि वह ऐसा ही है तो फिर उसके रचे संसार में अज्ञान और दुःख क्यों है। यह प्रश्न सभी आध्यात्मिक और आदर्शवादी दर्शनों के लिए पैदा होता है। और इसका समाधान उनके सफल समाधान की कसौटी है।

शंकर के अद्वैतवाद ने इस प्रश्न का हल 'माया' के विचार से किया। आध्यात्मिक अनुभव में हम एकत्वपूर्ण शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, परन्तु सामान्य जाग्रत अवस्था में नानात्वपूर्ण जगत को। तुरीय और जाग्रत के इन दो विरोधी अनुभवों में समन्वय बिठाया जाए तो कैसे? शंकराचार्य ने कहा कि इनमें समन्वय सम्भव नहीं, अतः दोनों सत्य नहीं हो सकते, एक जरूर मिथ्या है और वह जाग्रत का अनुभव ही हो सकता है, क्योंकि तुरीय का अनुभव अधिक प्रामाणिक है। जगत मिथ्या है, परन्तु फिर भी वह प्रतीति में तो है, इसका कारण क्या? इसका कारण माया है। अब प्रश्न पैदा होता है कि माया क्या है? क्या माया ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भिन्न तत्त्व है अथवा ब्रह्म का ही एक गुण तथा क्रिया है? ना, माया न यह है न वह। फिर क्या है? यह तो एक अनिर्वचनीय तत्त्व है। इसे हम न 'है' और न 'नहीं' ही कह सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जगत जीवन, जन्म, मृत्यु, दुःख-ताप, धर्म, अर्थ, काम, ब्रह्म की जिज्ञासा और मुक्ति, जो कुछ भी जीव जगत में करता-धरता है तथा चाहता है, सब मिथ्या हो जाता है। एक है पारमार्थिक और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक व्यावहारिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है और जगत व्यावहारिक, परन्तु यह व्यावहारिक सत्ता ब्रह्म की दृष्टि से तथा ब्रह्म में सर्वथा मिथ्या है। इस प्रकार शंकराद्वैत के अनुसार अविद्या तथा दुःख-ताप मिथ्या है।

हम पहले कह चुके हैं कि श्री अरविन्द जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय के किसी भी अनुभव को मिथ्या कहने के लिए तैयार नहीं। उनका कहना है कि हमें सभी अनुभवों को अपनी-अपनी जगह सत्य स्वीकार करना होगा और उनका आपस का यथार्थ सम्बन्ध स्थापित करना होगा। किसी अनुभव को असत्य कह देना उसका समाधान नहीं। जबकि कोई अनुभव हमें प्राप्त है तो वह किसी न किसी रूप में किसी न किसी अंश में जरूर अस्तित्व रखता है। उसके यथार्थ अस्तित्व और मात्रा का निरूपण ही दर्शन का काम है। इस प्रकार जगत को असत्य तो हम कह ही नहीं सकते, हाँ इसकी सत्यता के रूप-स्वरूप का वर्णन हमें अवश्य करना होगा।

हम पहले कह चुके हैं कि श्री अरविन्द के लिए जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, उसकी लीला, क्रीड़ा तथा रचना है। इस अभिव्यक्ति, लीला, क्रीड़ा के वास्तविक आशय का प्रश्न भी पहले हम उठा चुके हैं। और उसका एकमात्र बुद्धिसंगत उत्तर हमने यह पाया है कि पूर्ण सत्-चित्-आनन्द की यह क्रीड़ा उसके स्वभाव-सिद्ध गुणों की वृद्धि और विकास के लिए ही हो सकती है। उपनिषद् कहते हैं कि यह जगत आनन्द से पैदा हुआ है, आनन्द में स्थित है और आनन्द में लौटकर चला जाता है। जागतिक अभिव्यक्ति का वास्तविक आशय आनन्द-वृद्धि ही हो सकता है।

विचार की स्थिति में हमें यह अनुभव करते हुए विशेष कठिनाई नहीं होती कि अन्त में सत्ता जरूर ही एक अविभाज्य तथ्य होनी चाहिए। उसमें दो विरोधी तत्त्व नहीं हो सकते। और यदि अन्तिम सत्ता सच्चिदानन्द है तो यह संगत नहीं कि वह अज्ञान, अविद्या और दुःख-ताप को पैदा करे। ऐसा आशय ही उसमें दोष पैदा कर देगा और यदि आशय आनन्द का होते हुए भी वह आनन्द-वृद्धि में सफल नहीं होता तो उसके सामर्थ्य में त्रुटि माननी पड़ेगी। पूर्ण सच्चिदानन्द के लिए दोनों ही अचिन्तनीय हैं। परन्तु इधर मानव का नित्य का अनुभव भी असत्य नहीं। इसमें अविद्या और दुःख-ताप प्रत्यक्ष है फिर सच्चिदानन्द की पूर्णता, आनन्द-वृद्धि, सर्वशक्तिमत्ता आदि और मानव के व्यापक अज्ञान और दुःख-ताप का समन्वय हो तो कैसे?

समन्वय अत्यन्त कठिन है, परन्तु श्री अरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं और अपने दार्शनिक ग्रन्थ 'दिव्य जीवन' में इसका विस्तारपूर्वक समाधान देते हैं। पहले हम केवल दुःख के प्रश्न को लेते हैं। हम दुःख की शिकायत करते हैं, परन्तु क्या वास्तव में हमारे जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है? यदि ऐसा ही होता तो हमें जीवन से मोह क्यों होता, हममें जीवित रहने की इच्छा क्यों होती? फिर क्योंकि दुःख हमें अखरता है, क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं कि दुःख हमारे लिए असामान्य है तथा सामान्य अवस्था सुख की है। वस्तुतः हम अपने सामान्य सुख को ही अपनी सामान्य अवस्था मानते हैं। उसमें दुःखरूप जो विघ्न आते हैं अथवा जो विशेष सुख की अवस्थाएँ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आती हैं उन्हें ही, विशेष अनुभव करते हैं। इस सम्बन्ध में योग का अनुभव विशेष उपयोगी है। योग के अभ्यास द्वारा जब हम अपने बहिर्मुख मन-प्राण से तटस्थ होकर अपनी आन्तर सत्ता में स्थित होते हैं तब हमारा सुख-दुःख का अनुभव और का और हो जाता है। ये दोनों जो सामान्यतया विरोधी प्रतीत होते हैं, तब एकरस आनन्द के दो रूप अनुभव होते हैं। उस अवस्था में हमारे सामान्य जीवन के अन्य द्वन्द्व भी परस्पर पूरक प्रतीत होने लगते हैं। इससे हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुख-दुःख तथा अन्य द्वन्द्व मानव के बहिर्मुख व्यक्तित्व से किसी प्रकार घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं, हमारी भेदात्मक मानसिक चेतना के द्वन्द्वात्मक अनुभव हैं, ये इस विकास-अवस्था के धर्म हैं।

अन्तिम सत्ता के प्रश्नों पर विचार करते हुए मानव स्वभावतः अपनी प्रकृति की सीमाओं को अन्तिम सत्ता पर आरोपित कर देता है। यह वह करता अज्ञान में ही है, परन्तु इससे दार्शनिक समाधानों में विकट कठिनाई उपस्थित होती है। श्री अरविन्द इस दोष से हमें बार-बार सचेत करते हैं और लगभग हर मौलिक प्रश्न को उठाने से पहले माँग करते हैं कि हम अपनी मानवी भावनाओं से जरा तटस्थ में भी होकर निर्वैयक्तिक भाव में विषय पर विचार करें।

दुःख के प्रश्न के विषय में भी यही सबसे बड़ी कठिनाई है। हम अपने सुख की इच्छाओं के अधीन दुःख की काल्पनिक भावना बना लेते हैं और अपनी उच्छृंखल-सी इच्छाओं के अनुसार उसका हल चाहते हैं। निर्वैयक्तिक भाव में विचार करने से हम शीघ्र ही अनुभव करते हैं कि वास्तव में संसार में दुःख सुख की अपेक्षा अधिक नहीं। यदि हम विकासक्रम में दुःख की स्थिति को देखें तो हमें कुछ और भी मनोरंजक तथ्य मिलेंगे। भौतिक जगत में दुःख का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ईंट-पत्थर, नदी-पर्वत को दुःख नहीं। वनस्पति में दुःख-सुख प्रसुप्त अवस्था की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ-मात्र हैं। पशु में ये चेतन प्रभाव बनते हैं, परन्तु इनका रूप अभी शुद्ध ऐन्द्रिक है। मनुष्य में ये ऐन्द्रियक के साथ मानसिक तथा नैतिक भी हो जाते हैं। शरीर और प्राण के दुःखों के साथ-साथ मानव चिन्ता, शोक, दुविधा तथा पापादि के दुःख भी भोगने लगता है। प्रत्यक्ष ही पशु की अपेक्षा मानव में दुःख अधिक हो जाता है। परन्तु प्रकृति के क्षेत्र में मानव में ही सजग विकास और उन्नति की सम्भावना सिद्ध होती है तथा मानव ही द्वन्द्वमात्र को अतिक्रान्त करके शुद्ध निरपेक्ष आनन्द को अधिगत करने की सामर्थ्य उपलब्ध करता है। तो क्या फिर भी दुःख हमारी शिकायत का कारण हो सकता है? क्या यह प्रकृति के महान आयोजन में हमारे विकास का अवसर उपस्थित नहीं करता?

इस प्रकार निर्वैयक्तिक तटस्थ भाव से विचार करने पर दुःख का रूप-स्वरूप ही बदल जाता है। इसका अस्तित्व भौतिक स्तर पर नहीं है, मानव के द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्तर पर भी नहीं, यह केवल ऐन्द्रिक-मानसिक स्तर से सम्बन्ध रखता है और वहाँ भी विकासक्रम से सम्बद्ध है। यहाँ यह प्रश्न फिर भी उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा सम्भव नहीं था कि भगवान बिना दुःख के ही पशु और मानव को प्रेरणा दे सकते? यह प्रश्न उचित नहीं। हम सृष्टि के क्रम में विद्यमान आशय और अर्थ को समझने का यत्न

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर सकते हैं और यही दर्शन का लक्ष्य और उद्देश्य है, हम यह प्रश्न नहीं उपस्थित कर सकते कि भगवान ने किसी और तरह की सृष्टि क्यों नहीं बनाई? यहाँ हमारी मानवीय इच्छाएँ ही हमें फिर धोखा दे रही हैं।

हमने ऊपर देखा है कि मानव जब अपने द्वन्द्वों की अवस्था को अतिक्रान्त कर जाता है, तब उसके सुख-दुःख भी दूर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में जब वह अपनी भेदात्मक मानसिक चेतना तथा शंकर के शब्दों में नानात्व-भाव की अविद्या को पार कर जाता है तब उसे निरपेक्ष आनन्द उपलब्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष ही दुःख अविद्या का परिणाम है। अतः अविद्या का प्रश्न अधिक मौलिक है।

हम देख चुके हैं कि शंकराचार्य के लिए 'अविद्या' अथवा 'माया' एक विकट दार्शनिक समस्या बन गई थी। इसे वे न 'है' न 'नहीं' है ही कह पाए। अनिर्वचनीय शब्द द्वारा ही उन्हें इसका समाधान करना पड़ा। शंकर के बाद जो आचार्य आए, जैसे रामानुज, वल्लभ ने कहा कि यदि ब्रह्म के अतिरिक्त माया भी है तो सत्ता को अद्वैत कैसे कह सकते हैं? रामानुज ने तो सात प्रसिद्ध युक्तियों द्वारा माया के विचार को अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण दिखलाने का यत्न किया। अधिकांश में इन प्रहारों के फलस्वरूप ही शंकर के अनुयायियों ने माया के विचार में कुछ परिवर्तन लाने का यत्न किया। भारत के आधुनिक दार्शनिक तो अधिकांश रूप में शंकर के मायावाद को बिलकुल ही दूसरा रूप दे देते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् का मत है कि जगत माया नहीं बल्कि दृश्य सत्ता (Phenomenon) है। डॉ० दत्त और चैटर्जी भी इसी पक्ष के हैं। पं० कोकिलेश्वर शास्त्री ने तो मायावाद को शंकराद्वैत से सर्वथा ही निकाल दिया है। वे तो जगत को सत् बतलाते हैं, ब्रह्म का सगुण रूप कहते हैं। ब्रह्म भी निर्गुण नहीं, बल्कि सगुण-निर्गुण का आधार और समन्वय है।

परन्तु यह कहना पड़ेगा कि ये विचार आधुनिक विचारधारा और प्रवृत्ति से प्रभावित हैं। शंकर ने तो स्पष्ट शब्दों में जगत को मिथ्या कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि शांकर भाष्य में कुछ एक स्थल ऐसे जरूर हैं जिनसे विपरीत संस्कार ग्रहण होता है। परन्तु उनका प्रधान आशय अवश्य ही यह है कि जगत मिथ्या है। माया या अविद्या का विचार जिससे वे जगत के मिथ्यात्व का समाधान करते हैं, अत्यन्त कष्टदायक हो गया था और यह अनिवार्य भी था। क्योंकि यदि मन के नानात्व-बोध में और आत्मा के एकत्व-अनुभव में विरोध हो और उनमें विकासक्रम का कोई सम्बन्ध न हो तो एक को जरूर मिथ्या कहना पड़ेगा। शंकराचार्य ने यही किया। उन्होंने तो अत्यन्त साहसपूर्वक आत्मानुभव को सत्य ठहराया और सब अपवाद और कठिनाई के बावजूद सारे सामान्य जागतिक बोध को मिथ्या कहा।

परन्तु क्या वह वास्तव में अनिवार्य था? श्री अरविन्द कहते हैं नहीं। यदि हम जगत की जड़, प्राण और मन की क्रमिक अवस्थाओं को गम्भीरतापूर्वक विचारें, इनमें वर्द्धनशील चेतना को अनुभव कर सकें तथा मन की अपूर्ण अवस्था को देख पाएं तो हम जरूर यह परिणाम निकालेंगे कि मन से उच्चतर ज्ञान के कारण भी सम्भव होंगे। श्री अरविन्द इन उच्चतर करणों को प्रमाणसहित प्रस्तुत करते हैं। हमारा सामान्य मन उच्चतर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मन, प्रबुद्ध मन, प्रज्ञा तथा अधिमन की अवस्थाओं से होता हुआ अतिमानस की एक महान निर्णायक अवस्था तक पहुँच सकता है। इस क्रम में एकत्वभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, परन्तु नानात्व खण्डित नहीं होता। अतिमानस में एकत्व आधार बन जाता है और नानात्व उसमें निवास करता है। प्रत्यक्ष ही तब तो एकत्व और नानात्व परस्पर-विरोधी नहीं हैं। श्री अरविन्द का कहना है कि यदि शंकराचार्य ने मानसोत्तर क्रमिक अवस्थाओं को पहचाना होता तो उन्हें मन के नानात्व को मिथ्या कहने की आवश्यकता न पड़ती। वे इस अतिमानस-तत्त्व को युक्ति तथा अनुभव के संयुक्त बल से सिद्ध करके दिखलाते हैं और यह उनके दर्शन का एक विशेष बलशाली अंग है। इसी से वे ब्रह्म और जगत का समन्वय करते हैं और इसी से पृथ्वी पर दिव्य जीवन की क्रियात्मक सम्भावना भी सिद्ध होगी। युक्ति के रूप में वे कहते हैं कि एकत्वमय ब्रह्म और नानात्वपूर्ण जगत के बीच सत्ता का एक ऐसा सोपान अनिवार्य है जहाँ ये इकट्ठे उपस्थित हों अथवा जहाँ नानात्व का एकत्व में से जन्म होता हो।

अच्छा, मान लिया कि जगत मिथ्या नहीं, यह सत्य है, परन्तु इसके सत्य की मर्यादा क्या है? क्या यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है? श्री अरविन्द कहते हैं कि यह ब्रह्म की तरह सत्य नहीं है, यह ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में सत्य है और ऐसी अभिव्यक्ति के रूप में जो जड़ तत्त्व की घोर अचेतना में अधिकाधिक चेतना को प्रकट कर रही है। मानव में यह चेतना इस समय अधिकतम है, परन्तु वह भी अहंकार-केन्द्रित है और इस कारण ब्रह्म से अपना वास्तविक सम्बन्ध अनुभव नहीं करती। प्रत्यक्ष ही जगत में अविद्या का एक तत्त्व मानता है, साक्षात और स्वाभाविक रूप में अपने आपको ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति अनुभव नहीं करता। प्रश्न पैदा होगा यह अज्ञान, यह अविद्या क्यों? शंकर ने मानव के इस अज्ञान, इस अविद्या को मिथ्या कह दिया था, परन्तु श्री अरविन्द इसे मिथ्या नहीं कहते। इसका फिर समाधान क्या है? अन्त में यह अविद्या जरूर ब्रह्म में ही माननी पड़ेगी; तो ब्रह्म जो कि पूर्ण है, उसमें यह अज्ञान कैसे?

यही भारतीय दर्शन का परम्परासिद्ध कठिनतम प्रश्न है और इसका समाधान अब हमें यहाँ प्रस्तुत करना है। पहले जरा हम अपनी स्वार्थमयी मानवीय इच्छाओं के हस्तक्षेप से सजग हो जाएँ और निर्वैयक्तिक भाव में इस पर विचार करने का संकल्प कर लें। जरूर ही, यह अविद्या ब्रह्म में माननी होगी, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता हो ही नहीं सकती। परन्तु ब्रह्म में, जो कि पूर्ण है, जरूर ही यह भी शक्ति होनी चाहिए कि वह अपनी शक्ति को जहाँ जिस मात्रा में प्रयोग में लाना चाहे, ला सके अर्थात उसमें आत्म-परिसीमन, अपने आपको सीमित करने की शक्ति होगी। इसको दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं। सच्चिदानन्द आनन्दमय चित्-शक्ति है। इस चित-शक्ति में प्रत्यक्ष ही संगठन तथा एकाग्रता होगी; यह खण्डित तथा विक्षिप्त नहीं हो सकती। जब कि यह संगठित तथा एकाग्र शक्ति है तब इसमें अपनी एकाग्रता को अपने अन्दर विभिन्न स्थलों अथवा पक्षों पर कम या अधिक करने की भी सामर्थ्य होगी। बस इतने में ही अविद्या का समाधान आ जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह जगत हमें क्रमविकास द्वारा अचेतन में से निकलता दिखाई देता है। जड़ तत्त्व में चेतना का अभाव-सा है, वनस्पति, पशु और मानव में यह चेतना उत्तरोत्तर बलवती होती दिखाई देती है। मानव में आध्यात्मिक चेतना के क्रमिक विकास से यह ब्राह्मी चेतना की ओर बढ़ती प्रतीत होती है। प्रत्यक्ष ही ब्राह्मी चेतना पहले जड़ में लीन हो गई होगी, ब्राह्मी चेतना ने आत्म-संकल्प से अपने आपको अचेतना में परिवर्तित कर दिया होगा, नहीं तो उसमें से क्रमश: यह चेतना का विकास कैसे सम्भव हो पाता। यहाँ प्रश्न पैदा हो सकता है कि ब्रह्म ने अपने आपको अंशत: भी जागतिक अभिव्यक्ति के रूपों में, अचेतना या निश्चेतन में क्यों परिवर्तित कर दिया? इस क्यों का उत्तर सम्भव नहीं है, परन्तु जागतिक व्यवहार में हमें दिखाई यह दे रहा है कि आत्मविभाजन और आत्म-विस्मृति में से आत्म-उपलब्धि का क्रम चल रहा है। अत: हम अनुमान लगाते हैं कि सच्चिदानन्द ने आत्मोपलब्धि के आनन्द के लिए ही यह आत्म-विभाजन तथा आत्म-विस्मृति की सृष्टि की होगी। अहंकार की सृष्टि का अर्थ आत्म-प्राप्ति है। अत: अविद्या आत्मज्ञान का साधन है। अविद्या मानव का अभिशाप नहीं बल्कि उसके विकास का दिव्य सुयोग है। इसके बिना वह आत्म-जिज्ञासा और आत्मोपलब्धि के परमानन्द को कैसे प्राप्त करता? यहाँ यह भी याद रखना होगा कि अविद्या में आत्म-विस्मृति नितान्त नहीं होती, क्योंकि बहिर्मुख व्यक्तित्व के पीछे स्थित होकर आत्मा सदा ही मानव की गतियों का निरीक्षण करती रहती है तथा उसे यथासम्भव प्रेरणा देती रहती है। अविद्या का सारा स्वरूप इतना ही है कि मानव अपने बहिर्मुख व्यक्तित्व के साथ, जो कि उसका एक अंशमात्र है, लगभग पूर्ण तादात्म्य-भाव बना लेता है। इससे लाभ भी हुआ। प्रकृति के क्षेत्र में व्यक्तित्व की, सजग निजी भाव की, अहं की और व्यक्तिगत चेष्टा-कर्म की सम्भावना चरितार्थ हो गई। प्रत्यक्ष ही, प्रकृति की यह चरितार्थता अत्यन्त महान थी। इसी से अहंमय बहिर्मुख व्यक्तित्व में आन्तरिक एकत्व चरितार्थ करना तथा अहंमय व्यक्तियों के समुदाय में एकत्वमय समाज चरितार्थ करना सम्भव हो पाता है। और जब ये नए आदर्श चरितार्थ हो जाएँगे, जब व्यक्ति में आत्मिक एकत्व स्थापित हो जाएगा और समाज में भी एकत्व, समस्वरता और परस्पर-प्रेम स्थापित हो जाएँगे तब मानव अपने विकास के पूर्वार्द्ध को अतिक्रान्त करके उत्तरार्द्ध में प्रवेश करेगा, जहाँ विकास अविद्या के माध्यम से नहीं बल्कि विद्या के माध्यम से होगा, ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर।

परन्तु यह अवस्था कभी सिद्ध होगी भी? श्री अरविन्द कहते हैं जरूर होगी। यह तो प्राकृतिक विकास स्वयं का ध्येय है, इसके लिए तो प्रकृति अपनी वैश्व शक्ति से कर्म कर रही है और इसे ही अपनी सहज गति से धीरे-धीरे अधिगत करती जा रही है। फिर मानव अवस्था में यह विकास द्रुततर गति से चलना सम्भव हो जाता है। यदि मानव प्रकृति के गुप्त आशय को समझकर उसे सहयोग दे तो भावी सम्भावनाएँ शीघ्रतर भी चरितार्थ हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द विशेष रूप से कहते हैं कि यदि अतिमानसतत्त्व को, जो कि एक उच्चतर स्तर है, योगशक्ति से पृथ्वीतल पर अवतरित किया जा सके तो यहाँ के व्यापक विकास में एक महान अन्तर आ जाएगा, आज की कठिनाइयों को दूर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करने के लिए तथा आध्यात्मिक अवस्थाओं को अधिगत करने के लिए एक गुप्त व्यापक प्रभाव की सहायता मिल जाएगी, विकास का एक महान उच्चतर स्तर यहाँ सक्रिय रूप में काम करने लगेगा। श्री अरविन्द की अपनी योगसाधना का वास्तव में ध्येय और लक्ष्य यही था और इसी कार्य को अब श्रीमाताजी आगे चला रही हैं। अतिमानस तत्त्व का अवतरण दिव्य जीवन की चरितार्थता के लिए अनिवार्य है। क्योंकि तभी तो मानव व्यक्तित्व पूर्णतया रूपान्तरित होकर मानवोत्तर दिव्य जीवन का नया स्तर पृथ्वी पर प्रस्तुत कर सकेगा। तब जो चेतना प्रकट होगी वह अविद्या से मुक्त होगी और उसका प्रादुर्भाव हमारे अविद्या के प्रश्न का मूर्त्त और प्रत्यक्ष समाधान होगा। आज हम उसे युक्ति और कल्पना से जानने की कोशिश करते हैं, तब वह साक्षात अनुभव का विषय बन जाएगी।

अतिमानस और दिव्य जीवन

दुःख-ताप और विद्या का समाधान श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि को हमारे सामने और भी उज्ज्वल तथा ओजस्वी रूप में प्रस्तुत कर देता है। हम अनुभव करने लगते हैं कि जगत वास्तव में दुःख और अविद्या का घर नहीं। यह तो आनन्द का कर्म और व्यवहार है और आनन्द की अभिवृद्धि ही इसका लक्ष्य है। दुःख और अविद्या इसकी गौण क्रियाएँ हैं जो विकासक्रम में साधनरूप में पैदा होती हैं। हम मानवी संकुचित दृष्टि के कारण जागतिक व्यवहार के मूलगत प्रधान आशय को न समझकर दुःख और अविद्या की गौण गति को ही प्रधान प्रवृत्ति मान लेते हैं और व्यर्थ में निराशा में पड़ जाते हैं। श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि अपूर्व रूप में आशावादी है। इसमें निराशा के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं। हम स्वाभाविक रूप से विकास कर रहे हैं। प्रकृति स्वयं योग-साधना कर रही है जिसका फल हर किसी को उपलब्ध हो रहा है। इस पर यदि मानव सजग रूप में साधना द्वारा प्रकृति के आशय को पूरा करने में योगदान दे तो शताब्दियों का विकास वर्षों में सिद्ध हो सकता है। हमारे सुख-दुःख आदि द्वन्द्व हमारी मानसिक अवस्था के धर्म हैं और प्रकृति सहज रूप में इन्हें अतिक्रान्त करने का यत्न कर रही है। जड़, प्राण और मन में अतिमानस की स्थिति चरितार्थ होने जा रही है और इसके चरितार्थ होने से जड़, प्राण और मन की वर्तमान अवस्थाओं में अपूर्व परिवर्तन आ जाएगा। ऐसा ही परिवर्तन जैसा कि जब निष्प्राण जड़ में प्राण प्रादुर्भूत हुआ था अथवा संज्ञारहित प्राण में चेतना प्रकट हुई थी अथवा पशु की चेतना में मानव की मन-बुद्धि प्रकाशित हुई थी, आया था। अतिमानस की आध्यात्मिक चेतना का अवतरण और प्रकाश पार्थिव जीवन के लिए प्राकृतिक विकास की पूर्वगामी क्रान्तियों से भी कहीं बढ़कर क्रान्ति होगी और यह आश्वासन-मात्र के लिए भविष्यवाणी-सी नहीं है बल्कि प्रकृति के विकास क्रम का स्पष्ट और अनिवार्य संकेत है।

प्रत्यक्ष ही, श्री अरविन्द का अतिमानस उनकी जीवन-दृष्टि का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। इसके अनिवार्य विकास का विचार ही हमारे सारे जीवन में नई आशा भर देता है, हम एक नए महान भविष्य की प्रतीक्षा करने लगते हैं। यह आशा और यह प्रतीक्षा अपने आपमें हमारे भूत और वर्तमान के मोह, आग्रहों और पक्षपातों के प्रति उदासीन बना देती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं तथा हम एक नए महान आध्यात्मिक आदर्श की भावना से प्रेरित होकर जीवन में अग्रसर होने लगते हैं। इस आदर्श को किसी हद तक हम पहले वर्णित कर चुके हैं, परन्तु यहाँ हम इसे कुछ और स्पष्ट तथा विस्तृत रूप में देखना चाहेंगे।

हम पहले कह चुके हैं कि हमारा सामान्य व्यक्तित्व हमारे विशाल और विस्तृत अस्तित्व का उपरितल-मात्र है। यह चेतनातल बहिर्मुख है। यह परिस्थिति के साथ लेन-देन के व्यवहार से विकसित हुआ है और बाह्य वस्तुओं को जानने तथा उन पर कर्म करने में ही विशेष सशक्त है। परन्तु यह वस्तुओं के भी बाह्य रूप-रस-गन्ध को ही जान पाता है, उनके आन्तरिक अस्तित्व के बारे में यह अनुमान ही लगाता है। इसी प्रकार वस्तुओं का व्यापक ज्ञान तथा जगत का सम्पूर्ण ज्ञान भी इसके लिए अनुमान का ही विषय है। अपने विषय में भी यह तलीय संवेदनाओं, भावों और इच्छाओं से ही सज्ञान होता है, अपने आन्तरिक आध्यात्मिक सत्य से अनभिज्ञ ही रहता है। हमारा सामान्य व्यक्तित्व जहाँ ज्ञान में इतना सीमित है वहाँ भावमय जीवन में सुख-दुःख के द्वन्द्वों तक ही सीमित है। इसके सुख में सदा दुःख मिला रहता है, पूर्ण सुख, निरपेक्ष आनन्द इसके भाग्य में नहीं बदा। इसी प्रकार इसकी कर्तृत्व-शक्ति भी प्रायः विरोधपूर्ण विभाजित चेष्टा होती है। प्रायः हर इच्छा की कोई विरोधी इच्छा होती है। प्रायः हर काम में विरोध, संघर्ष और आयास रहता है।

यह हमारे मानसिक स्तर के जीवन का रूप है, जिसे हम अपने अनुभव से भली प्रकार सम्पुष्ट कर सकते हैं। इसकी अपूर्णताएँ, इसकी समस्याएँ, इसके कष्ट हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक-राजनीतिक जीवन के दैनिक अनुभव हैं। इसकी कठिनाइयाँ आज के सांस्कृतिक जीवन में विशेष उग्र हो उठी हैं जो हम पर संकट और गतिरोध बनकर टूट पड़ी हैं। अतिमानसिक स्तर का मानवीय व्यक्तित्व ही बहुत भिन्न प्रकार का होगा और कुछ एक व्यक्तियों में चरितार्थ होने से भी यह मानव के सामने जीवन और कर्म का एक महान आदर्श उपस्थित कर देगा। मानव के इतिहास में जब-जब भी विशेष शक्तिशाली महापुरुष प्रकट हुए हैं, उन्होंने सामान्य जनता में अपने अकेले जीवन के प्रभाव से नई भावना भर दी है और जनता अपूर्व त्याग करने में सफल हुई है। अतिमानसिक स्तर आध्यात्मिक जीवन का एक अत्यन्त महान शिखर है क्योंकि इसकी सर्वप्रधान अनुभूति है सत्तामात्र से घनिष्ठ व्यावहारिक एकता। आज जातियों और राष्ट्रों में मेल-मिलाप कितना कठिन हो रहा है। परन्तु यह क्यों न हो ? क्या संसार के नेताओं में आज एक भी ऐसा है जो मानव एकता को प्रत्यक्ष सत्य के रूप में अनुभव करता है, जो सबके सामूहिक हित में ही हर एक का हित देखता है, जिसके मन में भय, शंका और अविश्वास नितान्त नहीं है। यदि जो एकता के पोषक हैं, वे स्वयं व्यापक मानवहित और प्रेम से वस्तुतः प्रेरित अनुभव नहीं करते तो कुछ आश्चर्य नहीं कि वे जनता में उस आदर्श के लिए सक्रिय भावना पैदा करने में सफल नहीं हो सकते। अतिमानसिक अवतरण ऐसे व्यक्ति पैदा कर देगा, जिनके लिए एकत्व अटल अनुभव होगा, जो व्यापक प्रेम को अपना स्वाभाविक गुण पाएँगे और उनके अनुरूप ही उनका सब कर्म और व्यवहार होगा। प्रत्यक्ष ही, इससे मानव समाज और संस्कृति में एक या आदर्श मूर्तिमान रूप में आ उपस्थित होगा जो शनैः-शनैः हमारे सारे जीवन पर प्रभाव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डालने लगेगा। आज जहाँ हमें अपने तत्काल के स्वार्थों की चिन्ता रहती है तब हम अपने विशाल और स्थायी हित को सोचेंगे और उसमें हमें अपने और पराये हित में विरोध नहीं दिखाई देगा। यह दृष्टि हमारे सारे जीवन में एक नया मापदण्ड ला देगी। इससे हमारा जीवन क्या से क्या हो जाएगा—यह आज कल्पना में भी लाना कठिन है।

अतिमानसिक स्तर का मानवीय व्यक्तित्व भी मानसिक स्तर पर जैसा भेद और द्वन्द्व-व्याप्त संगठन नहीं होगा। यह आत्मा की एकता से परिपूर्ण सर्वथा रूपान्तरित व्यक्तित्व होगा। वह आत्मा की प्रज्ञा-शक्ति से वस्तुओं तथा सत्ता के आन्तरिक मर्म को ग्रहण करने में समर्थ होगा। उसमें इन्द्रियाँ भी वस्तुओं के केवल बाह्य रूप-रस को ही नहीं बल्कि उनके आन्तरिक तत्त्व को और उसके साथ ही उनके बाह्य गुणों को प्रस्तुत करेंगी। सुख-दुःख के द्वन्द्व के स्थान पर आन्तरिक आनन्द स्वाभाविक गुण हो जाएगा और कर्तृत्व में भी विभाजन की जगह पूर्ण एकता आधार बन जाएगी।

प्रत्यक्ष ही, अतिमानसिक अवतरण तथा विकास हमारे जीवन में अपूर्व अन्तर ला देगा, जो उत्तरोत्तर विस्तारित होकर एक नए जीवन का क्षेत्र बन जाएगा। यह क्षेत्र अपने आपमें दिव्य जीवन का नमूना होगा और इस जीवन की मर्यादा के अनुसार रहने-सहनेवाले व्यक्ति, शरीर के रूप से मनुष्य होंगे, परन्तु चेतना के स्वरूप से वे दिव्य श्रेणी के अन्तर्गत आएँगे। उनमें मानव के द्वन्द्व नहीं होंगे, वे पूर्णतया एकत्वगुणसम्पन्न होंगे। उनमें मानव की तरह व्यक्तित्व का अधिकांश भाग निश्चेतन, अवचेतन तथा अतिचेतन नहीं होगा, वे पूर्णतः चिन्मय होंगे। यह मानवोत्तर अतिमानसिक जाति का स्वरूप होगा, जिसके जन्म से मानवजाति का महान पथप्रदर्शन तथा कल्याण-साधन होगा।

स्पष्ट ही, अतिमानस श्री अरविन्द की जीवन-दृष्टि का महत्वपूर्ण अंग है। यह उनके सत्ता-शास्त्र का भी समान रूप में प्रभावशाली भाग है। हम सत्ता के आठ स्तर बता चुके हैं। ये, वास्तव में, पूर्ण ब्रह्म के विभिन्न क्रमिक सोपान हैं जिनमें से जागतिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभी अधिकांश भाग अतिचेतन है। जड़, प्राण और मन तो जगत के चरितार्थ सत्य हैं और अन्तरात्मा, अतिमानस, सत, चित् और आनन्द अभी अचरितार्थ अतिचेतन सत्य हैं। परन्तु यदि ब्रह्म ने अपने संकल्प से अपने आपको जड़ के निश्चेतन में छुपा लिया है, निवर्तित (Involved) कर लिया है, तो फिर उत्तरोत्तर वे पूर्णतया ही उसमें से विकसित, विवर्तित भी होगा। वास्तव में, यही जड़ जगत में दिव्य जीवन के चरितार्थ होने की सम्भावना का प्रमाण है। यदि पूर्ण चेतन निश्चेतन में न छुप गया होता तो उसका यहाँ पूर्ण प्रकाश भी सम्भव न हो पाता।

परन्तु ब्रह्म का निश्चेतन में निवर्तन किस क्रम से हुआ तथा इसका पुनः विवर्तन किस क्रम से सिद्ध होगा, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। हम दार्शनिक विचार में प्रायः ब्रह्म और जगत को, दो ध्रुवों के रूप में ले लेते हैं और फिर उसमें समन्वय बिठाने का यत्न करते हैं। परन्तु इनके बीच की कड़ियों के बिना उनमें सम्बन्ध बैठता ही नहीं। शंकराचार्य का अद्वैत इसी कारण मायावाद में परिणत हो गया। श्री अरविन्द बीच की कड़ियों को बड़े परिश्रम से प्रस्तुत करते हैं और सत्ता के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में, सत्, चित् तथा आनन्द और जड़,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राण, मन तथा अन्तरात्मा में अतिमानस को वे मार्मिक कड़ी बतलाते हैं जिसके द्वारा सच्चिदानन्द बहुत और निश्चेतन में निवर्तित होता है और जिसके द्वारा ही पुनः वह अपनी पूर्ण शुद्ध अभिव्यक्ति को चरितार्थ करेगा। सच्चिदानन्द के शुद्ध एकत्व और जगत के नानात्व के बीच अतिमानस वह तत्त्व है जिसमें सत्ता के ये दोनों सत्य समन्वित रूप में चरितार्थ होते हैं। ऐसे तत्त्व जगत की सृष्टि के लिए आवश्यक हैं। यह युक्ति की माँग है तथा योगानुभव का तथ्य है। इस प्रकार अतिमानस जगत की सृष्टि तथा विकास की परिपूर्णता के लिए भी महत्वपूर्ण है। श्री अरविन्द के दर्शन में अतिमानस एक अत्यन्त विशेष तत्त्व है और इसी कारण इसे अतिमानस अथवा दिव्य जीवन का दर्शन कहा जाता है।

अतिमानसिक अथवा चिन्मय पुरुष और उसके व्यक्तित्व का हमने ऊपर एक संक्षिप्त वर्णन किया है। यह वर्णन मानवोत्तर व्यक्तित्व तथा उसके दिव्य जीवन का संकेतमात्र है। आज मानसिक स्थिति से हम उसकी एक कल्पना ही कर सकते हैं, उसका विशद वर्णन सम्भव नहीं। अतिमानस तत्त्व मन से बहुत भिन्न है। क्या पशु के ऐन्द्रियक संवेदन मनुष्य के मानसिक-बौद्धिक व्यवहार और रचना की कल्पना कर सकते थे? मन भी अतिमानस और उसके दिव्य जीवन का वर्णन नहीं कर सकता। अतिमानस अपने जीवन को कैसे निर्धारित तथा विकसित करेगा, यह भला आज हम कैसे कहें? हाँ, हम यह कह सकते हैं कि उसमें मन की अपूर्णताएँ नहीं रहेंगी। वह बहिर्मुख और द्वन्द्वपीड़ित नहीं होगा, वह सर्वथा आत्मिक और एकत्वपूर्ण होगा। उसमें दुविधा, शंका और शोक नहीं होंगे, वह निश्चयपूर्ण और आनन्दमय होगा। प्रत्यक्ष ही, वह पृथ्वी पर प्रकट होकर एक नए जीवन और नई संस्कृति की सृष्टि करेगा, अपने अनुकूल और अनरूप एक नया सामाजिक वातावरण पैदा करेगा, परन्तु उस जीवन, उस संस्कृति, उस वातावरण का वर्णन हम आज कैसे कर सकते हैं!

सन्दर्भ ग्रन्थ

अदिति श्री अरविन्द की पंचविधि प्रेरणा—डॉ० इन्द्रसेन

1. *Letters of Sri Aurobinodo, Series II*, पृ० 303
2. *दि लाइफ डिवाइन,* भाग 1, पृ० 2
3. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 3
4. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 53
5. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 49
6. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 108
7. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 137
8. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 137
9. वही ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 143
10. *दि लाइफ डिवाइन,* भाग 2, पृ० 350

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

16

धर्म और दर्शन में रहस्यवाद

राममूर्ति त्रिपाठी

धर्म

प्राणी मानवेतर भी है और मानव भी—परन्तु

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः

मानवेतर से मानव को व्यावृत्त करने वाली विशेषता है—धर्म। इससे हीन होने पर मानव अपनी पहचान खो देता है और वह द्विपाद पशु ही माना जाता है। प्राणन क्रिया के साथ जीवन-यापन में पशु प्रकृति परिचालित है, पर मानव प्रकृति परिचालित होने के साथ कर्तृत्वगत स्वातन्त्र्य और बुद्धिगत विवेक सम्पन्न होने के कारण अर्जित ज्ञान के कारण 'कामाचार' पूर्वक भी जीवन-यापन कर सकता है और 'शास्त्राचार' पूर्वक भी। गीता कहती है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥[1]

शास्त्राचार छोड़कर जो कामाचारपूर्वक जीवन-यापन करता है उसकी मानवता अचरितार्थ ही रह जाती है—फलतः वह दुर्गति को प्राप्त करता है। शास्त्र समधिगम्य कर्म ही धर्म है। यह सही है कि शास्त्र का मर्म वही समझता है जो प्रज्ञावान है। कहा गया है—

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः।
शास्त्रार्थं न विजानाति दर्वी सूपरसं यथा॥[2]

जिस मनुष्य के पास अपनी निजी प्रज्ञा नहीं है वह केवल बहुश्रुत है, वह शास्त्र के मर्म को वैसे ही नहीं समझता जैसे दाल में पड़ी कलछुल दाल का रस नहीं समझती। इसीलिए धर्म के विभिन्न स्रोत भी कहे गए हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥[3]

वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतोषकारी कर्म ही धर्म है। आत्मतोषकारिता ही धर्म को Religion तथा मजहब से व्यापक सिद्ध करता है। उसके निर्णय में संस्था, पवित्र पुस्तक या उपदेष्टा ही सब कुछ नहीं हैं, आचरणशील व्यक्ति का भी योगदान है। शास्त्र के प्रवर्तक और निवर्तक वाक्य ही प्रेरणाप्रद होने के कारण धर्म में प्रमाण माने जाते हैं। मीमांसा दर्शन प्रेरणा को ही धर्म कहता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चोदना (प्रेरणा) लक्षणोऽर्थः धर्मः ।

सांख्य दर्शन कहता है कि शास्त्रविहित कर्म से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति ही धर्म है। न्याय और वैशेषिक कहता है कि शास्त्रविहित कर्मों से जीवात्मा में उत्पन्न हुए गुण को धर्म कहा जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शुभकर्म से उत्पन्न 'अपूर्व' ही धर्म है। जैन दर्शन मानता है कि शुभकर्म से वासित मुद्‌गल ही धर्म है। बौद्ध मानता है कि विज्ञानधारा के पूर्व विज्ञान से किए गए शुभकर्म से उत्तर-विज्ञान में संक्रान्त वासना ही धर्म है। इस प्रकार धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। जैन दर्शन तो यह भी कहता है—'वत्थु सहावो धम्मो।' वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। मानव का स्वभाव मानवता ही धर्म है, जो रागाधृत परदुःखकातरता का दूसरा नाम है। इस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में विभिन्न विचार मिलते हैं पर व्यवहार में मंगल विधायक कर्म ही धर्म कहा जाता है। मतलब धर्म हमारा आचार पक्ष है।

दर्शन

भारत में दर्शन का मुख्य अर्थ है—प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभूति, ऐसी अनुभूति जो अन्य निरपेक्ष या साक्षात हो। उपनिषद् कहता है—

यत् साक्षाद्परोक्षाद् ब्रह्म

व्यापकतम विराट चिन्मयी सत्ता ही साक्षात अपरोक्षानुभूति है। हमारा 'दर्शन' फिलॉसफी (विद्यानुराग) नहीं है—विद्या ही है—बोध ही है—तत्वबोध ही है। इसलिए यहाँ दर्शन—जीवन दर्शन है जो त्रिकोण है, उसके शीर्ष पर गन्तव्य है और उस तक पहुँचाने वाला एक कोण पर आचार तथा दूसरे कोण पर उसके प्रति आस्था के दृढ़ीकरण के लिए अपनाया गया विचार है। दर्शनार्थ होने से विचार भी उपचारतः 'दर्शन' कहा जाता है।

ऊपर भारतीय चिन्तन में 'धर्म' और 'दर्शन' का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। कहा गया है कि 'दर्शन' पद की अभिधा 'साक्षात अपरोक्षानुभूति' में है, जो बुद्धि से परे होने के कारण 'रहस्य' है। लाक्षणिक रूप में उसका अर्थ उक्त अनुभूति तक पहुँचाने में सहायक 'विचार' है। 'धर्म' तदर्थ विहित 'आचार' है। दिव्य पुस्तकों या शास्त्र द्वारा विहित कर्म तो धर्म ही है, हृदय द्वारा अभ्यनुज्ञात और महाजनों द्वारा आचारित पद्धति भी धर्म ही है। पद्धति 'धर्म' का गन्तव्य 'अनुभूति' से सीधा सम्बन्ध है। अनुभूति अथवा उसका विवरण तो अबुद्धिबोध्य होने से रहस्यमय होता ही है, आचरण भी भीतरी होने से रहस्यमय हो सकता है। रहस्यदर्शी सिद्ध पुरुषों के 'गन्तव्य' और 'पद्धति'—उभयत्र रहस्यमयता सम्भव है। रहस्यदर्शियों की आध्यात्मिक यात्रा में आने वाले आन्तरिक पड़ाव भी रहस्यमय होते हैं। ऐसी रहस्यवादिता वैदिक उपनिषदों, 'सौन्दर्यलहरी' और 'आनन्दलहरी' जैसे स्तोत्र काव्यों तथा सिद्ध, सन्तों और रसिक भक्तों की अभिव्यक्तियों में व्याप्त है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारतीय परम्परा रहस्यवादी की अपेक्षा रहस्यदर्शी संज्ञा ज्यादा अनुकूल समझती है। रहस्यदर्शी की आन्तरिक साधना भी रहस्यमय हो सकती है और अनुभूतियाँ भी। ये अनुभूतियाँ आन्तरालिक भी हो सकती हैं और पार्यन्तिक भी। चित्र यों होगा—

- रहस्य
  - साधनागत
  - अनुभूतिगत
    - आन्तरालिक
    - पार्यन्तिक

बुद्धि प्रामाण्यवादी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवादिता को वैदेशिक लक्षण मानते हैं। वे कहते हैं कि हमारे यहाँ ज्ञान का क्षेत्र हो या भक्ति का—उभयत्र स्पष्टता है। ये सूफी सन्त हैं जहाँ 'राग' से 'गुणातीत' को 'जाना' जाता है। उनकी दृष्टि में राग से जानना वैसा ही रहस्य है जैसा नाक से देखना। उन्होंने इसीलिए गीताकार की इस उक्ति 'भक्त्या मामभिजानाति' की अन्यथा व्याख्या की है। वे कहते हैं—'जानना' ज्ञान से होता है—भक्ति से नहीं, भक्ति से जानने का मतलब होता है—भक्ति से जानने में सुकरता का आधान। भक्ति से जानना सुकर हो जाता है। वस्तुतः शुक्ल जी भक्ति को एक विशिष्ट मनोवृत्ति ही मानते हैं—जो साधनात्मिका है। उन्हें "चिदाह्लादमयी शक्ति रूप भक्ति—जो साध्य और पंचम पुरुषार्थ स्वरूप है"—पर विश्वास नहीं है। भारतीय परम्परा में वैष्णवों के यहाँ इसीलिए 'भक्ति' ज्ञानमयी भी मानी जाती है। फलतः वह होती है—स्वरूपबोध के बाद। स्वरूपबोध से पहले वह 'की' जाती है—इसीलिए वह साधनात्मक है। स्वरूपबोध के बाद 'होने' वाली 'भाव' और 'प्रेम' भक्ति की उनकी बुद्धिवादी प्रस्थिति में स्थान ही नहीं है—फलतः उनका पक्ष अमान्य है। भारतीय धारा भक्ति को आन्दोलन नहीं अपितु एक आध्यात्मिक प्रस्थान मानती है। अस्तु।

ऋग्वेद कहता है—'उताधीतं विनश्यति' अर्थात जब बुद्धि प्रसूत विचार द्वारा इसके समीप पहुँचा जाता है तब वह लुप्त हो जाता है। इसीलिए वह 'बुद्धेस्तु परतः' है। रहस्यदर्शिता के जिज्ञासात्मक पक्ष को भी यदि इस चौखटे में लाया जाए तो वह बुद्धि के दायरे में आ सकता है—पर बुद्धि को यह अहसास अतिबौद्धिक धरातल की कौंध से ही सम्भव है। कभी-कभी हमें कुछ 'लगता' है—पर क्यों 'लगता' है—बुद्धि समझ नहीं पाती। कालिदास ठीक कहते हैं—

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्

अ-बोधपूर्वक व्यापक चेतना उसका साक्षात्कार करती है। वेद की संहिता, आरण्यक तथा उपनिषदों में 'रहस्य' मय तत्व का अनुभूत रूप वाग्बद्ध होकर छलकता प्रतीत होता है। वहाँ अदृष्ट लोकों तथा साधनालब्ध 'परमपद', 'परमव्योम' जैसे अबुद्धिगोचर रहस्यमय स्थानों की अनुभूतियाँ लक्षित की गई हैं। यह अनुभूति त्रिविध हो सकती है—जिज्ञासात्मक, साधनात्मक तथा भावना या अनुभूतिपरक। वैदिक साहित्य में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उक्त तीनों स्तर का रहस्य सम्बन्धी वाद मिलता है। मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषि रहस्यदर्शी ही थे और गुह्य अर्थ को प्रतीकों में प्रकाशित करते थे। ऋषि दीर्घतपा कहते हैं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुः

अर्थात ऋचाएँ रहती हैं उस परमव्योम में जो अविनश्वर तथा अनिर्वचनीय है। जब वह रहस्यमय तत्व को कहता है—'आनीदवातम्' यहाँ वात या वायु नहीं थी—पर वह श्वास लेता था—यह काम वह 'एक' अपनी 'स्वधा' शक्ति से करता था। नासदीय सूक्त में रहस्यवाद का जिज्ञासा के स्तर पर स्पष्ट ही अभिव्यक्ति श्रुतिगोचर होती है—

कुत इयं विसृष्टिः ? कासीत् प्रत्ता ? प्रतिभा ? किं निदानम् ?

यह सृष्टि कहाँ से फूट पड़ी ? यह सृष्टि क्यों ? इसकी प्रभा क्या है ? किस प्रतिभा को लेकर इसकी सृष्टि हुई है ? इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में तीनों प्रकार के रहस्यमय वाद भरे पड़े हैं। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् कहता है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्मजाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिता केन सुखेतरेण वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

प्रश्नोपनिषद् और केनोपनिषद् भी इस सन्दर्भ में उद्धृत किए जा सकते हैं। उपनिषद् ऐसे रहस्याख्यानों से भरे पड़े हैं। उपनिषद् स्वयं रहस्य अर्थ का बोधक बन गए हैं। इस प्रकार नैगमिक वाङ्मय में साधन, जिज्ञासा तथा आन्तरात्मिक और पार्यन्तिक सन्दर्भों का विवरण प्रचुरता से उपलब्ध है।

'तन्त्रालोक' आगमिक चिन्ताधारा का विश्वकोश है। वह बताता है कि 'वीरावलि' आगम में कहा गया है कि जब चित्त चेत्य (ज्ञेय पदार्थ-मात्र) को ग्रासीकृत करता हुआ चेतयिता (संवित्) में विश्रान्त हो जाता है तब 'प्राण' एवं 'अपान' का प्रवाह 'मध्यधाम' में लीन हो जाता है—फलतः 'उदात्त' या जीव मध्य मार्ग से ऊर्ध्व संचार करता हुआ 'द्वादशान्त' में पहुँच जाता है—उस समय प्रमाण एवं प्रमेय का व्यवहार समाप्त हो जाता है—प्रमाता काष्ठाधिरूढ़ हो जाता है—यही आत्मबोध की स्वप्रकाशमयी चरम दशा है—इसी अवसर का जो अनुभव विशेष है—वही मोक्ष है—वही रहस्य का पार्यन्तिक अनुभव है। यहाँ 'बोध' और 'स्वातन्त्र्य' का सामरस्य अनुभूत होता है। दोनों का पार्थक्य ही वेध है और समरसीभाव मोक्ष। चाहे औपनिषद धारा हो या आगमिक—दोनों ही इस पार्यन्तिक दशा को आनन्दमय कहते हैं। इस परमपद के आरोहण करने में होने वाले आन्तरालिक और पार्यन्तिक साधनों और अनुभूतियों का बड़ा विराट विवरण आगमों में उपलब्ध होता है।

पातञ्जल दर्शन में भी समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य संज्ञक चार पाद हैं। जहाँ सम्प्रज्ञात की निर्विचारा समापत्ति में उदित ऋतम्भरा प्रज्ञा रहस्यमय ढंग से सत्य का साक्षात्कार कराती है। इस ज्ञान में स्मृति परिशुद्धि रहती है—फलतः असंकीर्ण ज्ञान की स्थिति रहती है। इस प्रज्ञा प्रासाद पर अधिरूढ़ योगी तापत्रयपरीत विश्व को साफ देखता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहता है। असम्प्रज्ञात समाधि का भव प्रत्यय तथा उपायप्रत्यय भी रहस्य का भाण्डार अनावृत करता है।

आगमिक धारा के बौद्ध-सिद्ध जब कमल-कुलिश योग का सहारा लेते हैं तब प्रज्ञा और उपाय की समरस दशा में रहस्य 'बोधिचित्त' का समुत्पाद होता है और 'महासुह' की अनुभूति, जो रहस्यमयी है—अनुभूत होती है। इनकी साधन प्रक्रिया तथा आन्तरालिक और पार्यन्तिक अनुभूतियाँ रहस्यमयी ही हैं। इनके चार चक्र, चार क्षण, चतुर्विध आनन्द—सब रहस्यमय ही तो हैं।

नाथसिद्धों का हठमार्ग और कायसिद्धि रहस्यमय साधन मार्ग हैं। उनका लक्ष्य है—पिण्ड और पद का सामरस्य। तदर्थ इनकी रहस्यमय कायप्राण साधना चलती है। प्राणापात समीकरणपूर्वक चिदग्नि का जागरण, सप्त धातुज देह का भस्मीकरण, चक्र-भेद और उस काल की अनुभूतियाँ—सब रहस्यमय ही हैं।

जहाँ तक मध्यकालीन सन्त और भक्तों का सम्बन्ध है, वे भी आगमधारा के राममार्गी उपासक हैं। उपासना के लिए ये लोग नाम-साधना को माध्यम बनाते हैं। नाम-साधना की दो दिशाएँ हैं—रस पर्यवसायी और नाद पर्यवसायी। रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी धाराएँ रस या लीला रस पर्यवसायी हैं और कबीर आदि सन्तों की धारा 'सबद' पर्यवसायी है। भक्तों को आचार्य विशिष्ट साधन प्रक्रिया से लीलारस का साक्षात्कार कराते हैं। महाप्रभु वल्लभ, निम्बार्क, गौड़ी, हित तथा हरिदासी धाराओं में रसमयी रहस्यात्मक लीला का साक्षात्कार प्रसिद्ध है। कृष्णाश्रयी धारा में ब्रह्म-सम्बन्ध साधना द्वारा 'अक्षर' का साक्षात्कार, स्वरूप योग्यता की प्राप्ति, भगवदनुग्रह रूप सहकारी योग्यता की प्राप्ति की रहस्य प्रक्रिया से लीलारस का साक्षात्कार और भक्ति के विविध रूपों का रहस्यमय अनुभव उनके साहित्य में भरा पड़ा है। गोस्वामी जी का मर्यादामार्गी साधक प्रेममग्न होकर घर में राम का साक्षात्कार करता है। इनकी रसिकधारा तो आद्यन्त रहस्यमय है ही। इस प्रकार धर्म-दर्शन में प्राप्त रहस्य सम्बन्धी वदन या वाद का सारगर्भ संक्षिप्त विवरण दिया गया।

संदर्भ

1. *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता*
2. *महाभारत*
3. *मनुःस्मृति,* 2/11

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

17

रहस्यवाद और समाज

गशमि स्कॉलेम

रहस्यवाद के विविधतापूर्ण साहित्य में, जिसकी पिछली दो पीढ़ियों में असाधारण रूप से वृद्धि हुई है, रहस्यवाद और समाज के सम्बन्ध की समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। रहस्यवादी जिस ढंग से ईश्वर-तादात्म्य अथवा एकरूपता स्थापित करने के अपने लक्ष्य (इस लक्ष्य की हम चाहे जो भी परिभाषा करें) को प्राप्त करने का प्रयास करता है, जिस विचित्र आध्यात्मिक संसार में वह रहता है, रहस्यवादी धर्मशास्त्र की जटिलताएँ, जिसमें आध्यात्मिक अनुभव की रचना एक अवधारणात्मक ढाँचे में होती है तथा जिसमें धर्मशास्त्र के पारम्परिक रूपों और इन अनुभवों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित होता है—इन सभी विषयों की उपर्युक्त साहित्य में विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। विभिन्न व्यवस्थाओं तथा धर्मों के भीतर इन गतिविधियों के इतिहास ने भी इतिहासकारों में रुचि उत्पन्न की है। हमें धार्मिक रहस्यवाद की घटनाओं को उसके सामाजिक सन्दर्भ से पृथक रहने की एक प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। उन्हें पृथक कर ऐतिहासिक एवं सामाजिक घटनाओं तथा उनके बीच के तथाकथित आधारभूत भेदों पर जोर दिया जाता है। किन्तु वास्तव में, ईसाई रहस्यवाद से सम्बन्धित साहित्य में एक महत्वपूर्ण अपवाद दिखता है, फिर भी यह विचित्र प्रतीत होता है कि विशेषज्ञों के प्रासंगिक विवेचनों में इसका बहुत कम उल्लेख होता है। मेरे ध्यान में जो अपवाद है वह अर्न्स्ट ट्रोयल्स की सुविस्तृत रचना ईसाई गिरजों एवं समूहों की सामाजिक शिक्षा (1912) में सम्मिलित 'रहस्यवादी और अध्यात्मवाद' नामक लम्बा अध्याय है। वास्तव में, ट्रोयल्स को रहस्यवाद में रुचि होने के कारण प्रेरणा नहीं मिली थी, किन्तु उसकी इच्छा विभिन्न ईसाई समूहों के उपदेशों के सामाजिक अर्थ पर प्रकाश डालने की थी। अतएव ईसाई धर्म के एक समाजशास्त्री के रूप में उसने रहस्यवाद का विवेचन किया। मेरे विचार से यह विवेचन अत्यधिक रोचक और उपयोगी है फिर चाहे हम उसके द्वारा प्रस्थापित अनेक विवादास्पद भेदों के बारे में कोई भी धारणा रखें। यहाँ इतना कहा जा सकता है कि रहस्यवाद के आधुनिक विवेचनों के बहुत पूर्व ईसाई रहस्यवाद के सामाजिक सम्बन्धों तथा निहितार्थों के सम्बन्ध में गाटफ्रीड आरनोल्ड की क्रान्तिकारी रचना 'गिरजे और विधर्मगामी इतिहास' जो यद्यपि लगभग 270 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी, पर उसका आकर्षण, मूल्य और रोचकता आज तक पहले जैसी बनी हुई है।

यह तथ्य निश्चय ही बड़ा दयनीय है, क्योंकि संगठित धर्मों के अन्य समस्त रूपों में रहस्यवाद को अत्यधिक सामाजिक महत्ता प्रदान की जाती है। इस स्वरूप की एक साधारण विवेचना को प्रारम्भ करते समय मैं वस्तुतः यहूदी धर्म के ढाँचे के भीतर स्थित रहस्यवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की घटना के बाहर के विषय में अधिकारपूर्वक कहने का दावा नहीं कर सकता। मेरा सारा जीवन यहूदी के अध्ययन में ही लगा है। विभिन्न धर्मों के सन्दर्भ में रहस्यवाद के विभिन्न रूपों में मध्य अन्तरों को हम चाहे जितना महत्वपूर्ण मानें फिर भी हम ऐसे प्रश्नों का निरूपण तो कर ही सकते हैं जो उन सब पर समान रूप से लागू हो सकें।

रहस्यवाद की यह अपनी साधक को पारम्परिक सामाजिक सन्दर्भों से उतनी सीमा तक दूर ले जाता है जहाँ तक स्वयं उसकी मौलिक रहस्यवादी प्रेरणा सम्बन्धित है। ट्रोयल्स द्वारा जिस अर्थ में प्रयुक्त किया गया उसी के अनुरूप 'रहस्यवाद' का मैं यहाँ 'सान्निध्य', 'आन्तरिकता' और 'धार्मिक अनुभूति' की उपस्थिति के अर्थ में प्रयोग करूँगा। यह भगवान की सजीव अनुभूति की एक प्रतीति है जो धर्म के संस्थाकृत और पारम्परिक रूपों में रहने वाले व्यक्तियों को कृपापूर्वक प्रदान की जाती है। मैं उन लोगों से सहमत हूँ जो रहस्यवाद में धार्मिक विकास की गौरव अवस्था देखते हैं, जो कर्मकाण्ड तथा धर्मशास्त्र में धर्म के पारम्परिक रूपों के प्रति प्रकट तनाव में विकसित होती है। पारम्परिक धर्म और समाज संस्थाकृत गरिमा के बाह्य चिह्नों से अथवा, एक प्राचीन लेखक के अनुसार ''उसकी पूजा के आडम्बर, उसके धर्म-प्रचारकों की शूरता, उसके उपदेशकों के सद्‌गुणों तथा उसकी साहित्यिक शिक्षा के सौष्ठव से'' परस्पर एकताबद्ध हैं। समाज से रहस्यवाद के सम्बन्धों में ये सभी अनिवार्यत: अनुपस्थित हैं यदि ये प्रकट भी होते हैं तो केवल दैवयोग से ऐसा होता है। रहस्यवादी उस प्रकार की अनुभूति से कभी सन्तुष्ट नहीं होता है जो उसे स्वयं उसकी परम्परा से धर्मादेशों तथा संस्थाओं के जरिये मिलती है। वह ऐसी खोज करना चाहता है जो पूर्णतया उसकी अपनी है। वह एक प्रकाश, एक ज्ञान और उससे भी अधिक एक ऐसी अनुभूति प्राप्त करना चाहता है जिनमें उसके लिए सान्निध्य, एक अत्यधिक सत्य और साक्ष्य के सभी चिह्न मौजूद होते हैं। अत: वह एक स्वत:स्फूर्त व्यक्तिवादी की हैसियत से प्रारम्भ करता है जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए किसी साधक अथवा मार्गदर्शक का परामर्श न मिला हो, जो उसके पूर्व ऐसे अकेले रास्तों पर चल चुका हो और उन रास्तों के खतरों तथा उतार-चढ़ावों के बारे में परिचित करा सके। इन सभी में साहसिकता की एक भावना होती है जो साधारण मनुष्य की संगति से रहस्यवादी को दूर हटा देती है और बहुत बार उसे घृणा और व्यंग्य का पात्र बना देती है। जिस रहस्यवादी जीवन को वह आरम्भ करता है वह आन्तरिकता का जीवन है जो प्रकृति से भी असीम है; इस जीवन में सतत घनीभूत होती हुई अनुभूति की ओर अनन्त प्रगति होती है। उस सबसे उसकी तथा समाज के बीच दूरी उत्पन्न हो जाती है क्योंकि उसकी रुचि का केन्द्र विपरीत दिशा में आगे बढ़ता है। रहस्यवादी अनुभूति, परमानन्द, भगवान का ध्यान, भगवान से सम्पर्क अथवा उससे एकता के शिखर पर स्वाभाविक तथा उसका साधारण मनुष्यों के समाज से कोई सम्पर्क नहीं स्थापित रहता। रहस्यवाद के इस पक्ष पर उसी के अनुसरण में रहस्यवाद के समसामयिक विवेचनों में भी ऐसा किया गया है, जहाँ मनोविज्ञान सर्वोपरि है। दर्शन (Vision), दृष्टि और अनुभूति के उन शिखरों से नीचे आने पर भी रहस्यवादी अनेक स्रोतों के अनुसार अपने सामाजिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिवेश से एक अनिवार्य दूरी बनाए रखता है, इतिहास और समाज के दृश्य संसार में उसके कार्यकलाप उसके लिए केवल द्वितीयक महत्व के होते हैं। उसके अतिरिक्त सामाजिक सम्बन्धों के संसार में रहस्यवादी के लौटने पर एक खतरा अन्यथा, मेरे विचार से, स्वभाव के परिवर्तन की एक अन्तर्निहित आवश्यकता बनी रहती है। उसकी अनुभूति की घनिष्टता, विलक्षणता, और व्यक्तिगत स्वरूप उस नवीन अन्यथा पुराने सन्दर्भ में नष्ट हो सकते हैं। रहस्यवादी मौलिक दिशा (उन्मुक्ता) और अर्थवत्ता लुप्त हो सकती है और उन्हें विलगाव (Alienation) की एक प्रतिक्रिया से गुजरना पड़ सकता है।

इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या रहस्यवादी प्रेरणा की कठोरता एवं अर्थ तब भी बने रहते हैं जब उसके समूह के भीतर रहस्यवादी की क्रिया की ओर वह उन्मुख हो जाए। दूसरे शब्दों में, यदि यह सत्य है कि रहस्यवाद को उसके मौलिक रूप (आभास) में पूर्णतया निजी और व्यक्तिवादितापूर्ण प्रकृति की घटना मानना चाहिए, तब फिर क्या यह समान रूप से सत्य नहीं हो सकता है कि ऐसा होने के साथ ही इस घटना में स्वयं का एक तर्क समाविष्ट है जिसे आलोचनपूर्ण प्रेक्षक शीघ्रता से ढूँढ़ लेगा और जिसे स्वयं रहस्य की घटनाओं से पृथक किया जा सकता है अथवा नहीं? धर्मशास्त्री ऐसे तर्क को नकार सकता है। उसके लिए भगवान तक पहुँचने का मार्ग और जिसे ईसाई रहस्यवादी 'एकता उत्पन्न करने वाला जीवन' (Unitive life) कहता है, वही सब कुछ है, वह स्वयं घटना है जो अध्यात्मवाद की समझदारी के लिए अर्थपूर्ण है, और यदि उसका कोई सामाजिक परिणाम होता है तो वह प्रतिकाष्ठा (Anticlimax) की प्रकृति में है। मानव प्रकृति के कारण उससे एक प्रकार की दुर्बलता उत्पन्न होती है, यद्यपि वह प्रिय हो सकती है, तथा उसकी बात करने से रहस्यवाद के मर्म (अन्तर्भाग) को हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं होती। विद्वत्तापूर्ण विवेचनों में इस बात पर बहुधा यह कहकर बल दिया जाता है कि चूँकि रहस्यवादी अनुभूतिकर्ता और कर्म के अन्तर के निर्मूलन पर आधारित है, ध्रुविता और द्वैधता पर आधारित ऐतिहासिक एवं सामाजिक क्षेत्र में लौट आने को रहस्यवादी के ढंग का आवश्यक भाग नहीं माना जा सकता। अधिक से अधिक इसे वास्तविक यथार्थ वस्तु का फल कहा जा सकता है न कि उसका आवश्यक भाग। किन्तु उतने पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह सतर्कपूर्ण विचार एक सत्य चित्र है जो हमें प्राप्त होता है? क्या मानव की आत्मा के अन्तर्भागों में घटित होने वाली बातों को सम्पूर्ण रहस्यवादी अनुभूति, जिसमें सम्पूर्ण मानव प्राणी समाहित रहता है, से पृथक करना गलत नहीं है? क्या चढ़ाव और उतार की दोनों अवस्थाएँ, जिनसे होकर रहस्यवादी गुजरता है, एक महान मानव अनुभूति के अपृथकनीय दो पहलू–मात्र नहीं है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यही प्रथम प्रश्न है जिसका हमें उत्तर देना है, और मैं तर्कपूर्ण विचार वाले लोगों से स्वतः सहमत होने के बारे में कारण बताऊँगा। यह सत्य है कि रहस्यवाद के अध्येता का अनेक विरोधाभासों से सामना पड़ता है जब वह साधारण प्रत्ययों की भाषा में उसकी घटना का निरूपण करने का प्रयास करता है। इस क्षेत्र के सभी अध्येता इस तथ्य से सुपरिचित हैं। तब यदि एक आभासित समान विरोधी घटना के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सामाजिक संघात (Impact) और प्रकार्य पर विचार करना एक विरोधाभास है, तो कम से कम हमें यह एक सृजनात्मक विरोधाभास के रूप में तो प्रकट होगा और हमारे विवेचन के विषय के लिए यही महत्वपूर्ण बात है।

समाजशास्त्र के महान विद्वान मैक्सवेबर ने एक बार कहा था "सामूहिक जीवन में साधुता एवं पवित्रता का कोई स्थान नहीं है।" ऐसे कथनों को बहुधा दोहराया जाता है। किन्तु क्या वे सत्य हैं? अधिकांशत: रहस्यवादियों की उक्तियों के आधार पर उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता. किन्तु मैं इस प्रसंग की चर्चा बाद में करूँगा। यह अनुमानत: असम्भाव्य प्रतीत होता है कि मानव व्यक्तित्व को जो पूर्णता एवं सम्पन्नता आध्यात्मिक अनुभूति से प्राप्त हुई है वह तथाकथित शुद्ध आध्याकरण (अन्तर्मुखता) के उन्नत कोनों में जाकर समाप्त हो जाए (प्रोटैस्टैन्ट धर्मशास्त्र के एक बहुचर्चित शब्दसमूह शुद्ध अन्तर्मुखत्व में ऐसी बात व्यक्त की गई है) और दृश्य जगत में उसका कोई चिह्न न दिखे। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है जितना अधिक समृद्ध मानव व्यक्तित्व होगा और उसके विकास के लिए जितना अधिक मूल्य चुकाया होगा उतना ही अधिक शक्तिशाली उसका सामाजिक विकिरण होगा। निश्चय ही रहस्यवादी के व्यक्तित्व का विकास साधारणतया प्रचलित अर्थ में नहीं होता है। इसके विपरीत वह अपनी समस्त शक्तियों को दूसरी दिशा में केन्द्रित करता है। वह अपने व्यक्तित्व को विकसित न करके उसको नष्ट करता है अथवा अपनी आत्मा में भरी हुई अनेकों प्रतिकृतियों तथा रूपों में निरन्तर कमी करता जाता है जिससे उसकी ऐन्द्रिय अन्तर्वस्तु नष्ट हो जाए और वह ऐसे बिन्दु के आगे निकल जाए (यह विवादास्पद है कि यह बिन्दु उसके भीतर होता है अथवा बाहर जहाँ उसे केवल एक एकता और प्राणी के दिव्य मूल से साक्षात्कार होता है), किन्तु दिव्य शक्ति से यह साक्षात्कार जिसमें संसर्ग (Communion) में अथवा संघ (Union) की अवस्था में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति होती है, उसे निर्धन नहीं बनाता। प्रत्युत इस साक्षात्कार से उसे अपने अस्तित्व का एक नया गुण प्राप्त होता है, फिर चाहे इस नवीन गुण की कितनी ही विभिन्न धर्मशास्त्रीय व्याख्याएँ क्यों न हों। इस नवीन गुण से उसमें एक अन्तर्दृष्टि आ जाती है जो **समागम** के पूर्व नहीं थी तथा इस समागम के कारण उसमें एक संगठित (एकभूत) शक्ति का संचार होने लगता है। तब फिर क्यों यह पुनर्नवीकृत शक्ति अनुभवगम्य न बने अथवा कालान्तर में बाह्य आचरण में अभिव्यक्त न हो? सामाजिक जीवन पर आध्यात्मिक अनुभूति के संघात से उत्पन्न विरोधी रूपों की चर्चा हम आगे करेंगे। एक पारम्परिक दृष्टिकोण से वे रचनात्मक अथवा विनाशकारी हो सकते हैं किन्तु इतने पर भी वे निस्सन्देह सामाजिक जीवन में स्थित रूप हैं। प्राच्य और पाश्चात्य रहस्यवाद की विभिन्न प्रणालियों में दिव्य शक्ति से रहस्यात्मक समागम होने पर मनुष्य द्वारा प्राप्त 'कुछ' को व्यक्त करने के लिए अनेक शब्द मिलते हैं किन्तु यह मानने के बहुत कम तार्किक आधार हैं कि यह कुछ 'ध्यान परायण एकता' संयोजक जीवन अथवा जिसे यहूदी रहस्यवादी 'डेवेकथ' कहता है विशुद्ध रूप से अन्तर्मुखी प्रकृति का है और बाहर निकल कर उसका मनुष्यों के समुदाय में विकिरण नहीं होता। ऐसे बहुत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मामलों को ढूँढ़ना कठिन होगा जिनमें इस प्रकार सामाजिक विकिरण की अनुपस्थिति सिद्ध की जा सके। वे केवल अत्यन्त असाधारण घटनाएँ हैं और विरोधाभास होते हुए भी यह बात पर्याप्त रूप से समझ में आने वाली हैं कि उन्हें केवल उनके द्वारा सभी कुछ के बावजूद उत्पन्न सामाजिक परिणामों से जानते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण **लाओ त्से** नाम व्यक्ति था, यदि कभी ऐसा कोई व्यक्ति रहा हो, यद्यपि कुछ समय से यह विषय बहुत विवादास्पद हो गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य रहस्यवादी भी रहे होंगे, जिन्होंने अपने को गुप्त रखने में सफलता प्राप्त की और सामाजिक ख्याति तथा प्रभावशालिता से वंचित रहे। किन्तु ऐसे लोगों का रहस्यवाद के इतिहास में कोई परिचय नहीं मिलता और हमें उनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सकेगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसे कुछ रहस्यवादी रहे होंगे किन्तु मुझे इसमें बहुत सन्देह है कि वे उस श्रेणी के प्रतिनिधि हो सकते हैं जिससे रहस्यवाद को शासित करने वाले नियमों को खोजा जा सकता है।

अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के बाद भी रहस्यवादी एक मनुष्य है। इसका अर्थ है कि वह अपने मनोभावों, अनुभूतियों आदि की अवश्य अभिव्यक्ति करेगा—और यही सर्वाधिक मूलभूत बात है। स्वयं में अभिव्यक्ति योग्य न होते हुए भी उसका हर्षातिरेक अथवा मनन (ध्यान, चिन्तन) उसमें दूसरों तक उसे प्रेषित करने की एक प्रबल इच्छा उत्पन्न करता है जो संचार योग्य नहीं है, उसमें मानवीय भाषा का प्रयोग करने की इच्छा जाग्रत होती है और यह सर्वाधिक आधारभूत सामाजिक व्यापार है कि मनुष्य दूसरों को अपनी अनुभूतियाँ बताना चाहता है, अपनी अनुभूति को दूसरों से व्यक्त करने की उसकी इच्छा उसकी सम्पूर्ण अनुभूति से पृथक हो सकती है। मेरे विचार से रहस्यवाद की अनेक विशुद्ध मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं की यही मुख्य कमजोरी है। यदि रहस्यवादी दूसरों के साथ और दूसरों को संप्रेषण न करे तो भी वह स्वयं से तो बोलेगा ही। यदि वह अपनी अनुभूति को साहित्यिक भाषा में व्यक्त करने में असमर्थ हो तो भी वह वर्णनातीत को शब्दों में रूपान्तरित कर सकता है और फिर वह केवल अवसर की बात है कि ये शब्द किन्हीं श्रोताओं तक पहुँचते हैं अथवा नहीं। प्राच्य रहस्यवाद के इतिहास में एकान्तिक रहस्यवादियों और संन्यासियों में कतई अन्तर नहीं किया जाता क्योंकि रहस्यवादी अपनी अनुभूतियों को स्वतः ही बुदबुदाते रहते हैं और संन्यासी अपने अनुभवों को अत्यन्त सुन्दर भजनों के रूप में व्यक्त करते हैं। इसका एक उदाहरण तिब्बती मिलारेपा है जिसके भजनों का हाल में अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। और न ही उनमें भेद किया जाता है जो समाज से दूर रहते हैं तथा जो शिष्यों के साथ रहते हैं क्योंकि उनके शिष्यों में अन्य साधारण मनुष्यों के समान दूसरे लोगों के जीवन तथा अनुभवों में भाग लेने की इच्छा होती है।

हर्षातिरेक (परमानन्द) में मृत्यु की सम्भावना की सैद्धान्तिक कल्पना रहस्यवाद के धर्मशास्त्रियों द्वारा की जाती है जो (कुछ यहूदी रहस्यवादियों की भाँति) कभी-कभी यह आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि इस उच्चतम अवस्था से जीवन की सामान्य दशाओं तक कभी तो लौटते होंगे, परन्तु वास्तव में यह एक बहुत सैद्धान्तिक विचार है। तथ्य यह है कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवादी अपने जीवन और शरीर को बनाए रखता है। रहस्यवादी साहित्य में वर्णित 'रहस्यवादी मृत्यु' को प्राप्त होने के लिए यदि वह स्वयं अपने लिए मरना चाहता है, तो वह इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल जीवित रहकर ही कर सकता है। यदि हम एक गणितीय अलंकार प्रयोग करें, तो हम कहेंगे कि रहस्यवादी के कालबद्ध जीवन का निरन्तर चक्र एकमात्र विच्छिन्नता-बिन्दु पर पहुँचता है किन्तु यह बिन्दु भी उस साधारण समीकरण से सम्मिलित है जो इस प्रकार के जीवन को व्यक्त करता है। यह सत्य है कि उसका परमानन्द, उसका स्वप्न विच्छिन्नता का एक ऐसा बिन्दु, उसके जीवन में मोड़ लाने वाला बिन्दु कायम रहता है जिसे वह स्वयं बहुधा कालिक संसार से बाहर एक क्षेत्र में प्रवेश का प्रारम्भ मानता है। फिर भी जैसे उस मोड़-बिन्दु की प्राप्ति और पुष्टि उसके पूर्वगामी अनुभव से सम्भव हो सकी, इसी प्रकार उसके परमानन्द के परिणामों का अनुभव पुनः अनुगामी परमानन्द में किया जाएगा। उसे किसी प्रकार की परम स्वतन्त्रता उपलब्ध हो गई है। किन्तु जीते रहने पर इस स्वतन्त्रता का मानव जीवन के नियमों से अनुकूलन होना पड़ेगा। प्रतिकृतियों और शब्दों के जिस संसार को उसने पीछे छोड़ दिया था वही फिर उसके पास तुरन्त आ जाएगा तथा उसकी रहस्यवादी अनुभूति से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को अपने रंग में रँग देगा। अपने अनुभव के विचित्र स्वभाव के कारण वह विरोधी कथनों में फँस जाता है, किन्तु वह ऐसे विरोधों से बच निकलने के लिए अब स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वे संसार से ठीक ढंग से निपटने के लिए उसके प्रयत्न के विभिन्न अंग बन जाते हैं। चाहे वह इन केन्द्रीय अनुभव और उसके परिणामों के बीच गहरी खाई छोड़ना चाहे अथवा वह उन दोनों को एक सूत्र में बाँधना चाहे, यह स्वयं अनुभव की प्रकृति पर आश्रित नहीं होता किन्तु सामाजिक क्रिया के प्रति उसको विशेष सम्मान और रुचि पर आश्रित रहता है। इस चुनाव की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त इस आधारभूत स्थिति का एक प्रतिबिम्ब-मात्र है। इस सिद्धान्तों के कुछ यहूदी रूपों का मैं विवेचन करूँगा। इसके अतिरिक्त, रहस्यवादी और उसके सामाजिक समूह के बीच अन्तर सम्बन्ध रहता है। इन दोनों के बीच कितना ही जोरदार तनाव विकसित हो जाए और उसके परिणाम कितने ही नाटकीय हों जब उपर्युक्त दोनों के सम्बन्ध वास्तव में टूट जाते हैं तो भी कुछ के सीमान्त मामलों के अपवाद के उनका अंतर्संबंध बना रहता है। मैं इस लेख में इस अन्तर्सम्बन्ध की प्रकृति अनुभव करना चाहता हूँ। अन्तर्सम्बन्ध के विषयों में विचार करते समय मेरा अर्थ केवल समाज पर रहस्यवादी के संघात से नहीं है किन्तु उसी समय उस पर समाज के संघात से भी है। और इसका तात्पर्य यह है कि इस अन्तर्सम्बन्ध के बारे में साधारण प्रतिज्ञाओं का निर्माण करना दुष्कर है। क्योंकि किसी निर्दिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में एक समाज की निरन्तर परिवर्तनशील दशाओं की इस सम्बन्ध की परिभाषा करने में निर्णायक भूमिका है।

रहस्यवाद संगठित धर्म के पारम्परिक सन्दर्भ के भीतर की एक प्रघटना है। वह वहाँ एक संकट उत्पन्न कर सकता है, वह स्वयं अपना नया सन्दर्भ निर्माण कर ले अथवा उससे पृथक हो जाए, किन्तु वह सदैव उक्त पारम्परिक ढाँचे पर निर्भर रहता है। स्वर्गीय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डॉ० लियो बायक के शब्दों का अनुसरण करते हुए हम इसे धर्म की रोमांटिक अवस्था कह सकते हैं जो उसकी संस्थापित अवस्था के विपरीत और भिन्न है। संस्थापित अवस्था में महान धार्मिक व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ और पुनः वे सामाजिक रूपों, संस्कारों और संस्थाओं में स्थापित हो गईं (स्थापित रूप से परिवर्तित हो गईं)। जब ये पुरानी और नीरस होकर घिस जाती हैं तो रहस्यवाद का प्रादुर्भाव होता है जिसे ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करते हैं जो उस प्राथमिक (मौलिक) स्रोत से निकटस्थ सम्पर्क पुनः स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिस पर संस्थानिक धर्म ने अपनी सत्ता को आधारित किया है। इस कथन में संक्षेप में उन सभी समस्याओं का समावेश है जिन्हें रहस्यवाद और समाज के विवेचन में उठाया गया है। उनमें से सर्वाधिक मूलभूत समस्याओं को इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

(1) मौलिक रहस्योद्घाटन तथा रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के स्रोतों के तादात्म्य की मान्यता।

(2) रहस्यवादी रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति में पारम्परिक प्रतिबिम्बों की भूमिका।

(3) रहस्यवादी की सत्ता और पारम्परिक सत्ता के बीच सम्भावित संघर्ष।

(4) रहस्यवादी की सामाजिक क्रिया का रूढ़िवादी अथवा क्रान्तिकारी मोड़ लेना।

यदि हम उल्लिखित अन्तर्सम्बन्ध को समझना चाहते हैं तो हमें उपर्युक्त सभी समस्याओं पर विचार करना पड़ेगा। वे वास्तव में रहस्यवादी के सामाजिक दृष्टि से सक्रिय होने पर आधारित हैं। साधारण से विशिष्ट की ओर बढ़ना तीन ढंगों से हो सकता है—

(अ) जो पूर्वकाल में केवल एक निजी और सम्भवतः उसी को प्राप्त कतिपय गुप्त ज्ञान था उसे वह लिखकर अथवा बातचीत द्वारा सार्वजनिक रूप से व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति के कितने ही विरोधी साधनों का आश्रय ग्रहण करके अपनी अभिव्यक्ति करके वह ऐसे बीज को बोता है जो संचेतन अथवा मूल से पक जाए और सामाजिक परिणामों को उत्पन्न करे।

(आ) यदि वह ऐसे शिष्यों को आकृष्ट कर उन्हें स्वीकार करता है जो उसके विचार सुनने को प्रस्तुत रहते हैं और इस प्रकार उसके रहस्योद्घाटन के संचार के लिए एक उर्वरक भूमि बन जाते हैं, यदि उसके पास कुछ संचार योग्य है, तो उसके कार्य करने की सबसे प्रारम्भिक इकाई का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(इ) यदि वह बृहत्तर सामाजिक क्षेत्रों को प्रभावित करने की चेष्टा करता है जिनके साथ वह भी पारस्परिक ढाँचे में भागीदार होता है, अथवा उन क्षेत्रों तथा उसके बीच संघर्ष होने पर, वह एक नए समूह के विकास का प्रयास करता है जिसके लिए वह अब एक धार्मिक सत्ता बन जाता है।

इन सभी ढंगों में वह अपने समाज में एक अपवाद स्वरूप व्यक्ति है। यद्यपि उसकी जड़ें उसी परम्परा में हैं। किन्तु वह उसका सीमोल्लंघन करता है, उसे व्यापकतर बनाता है, और उसके आगे भी बढ़ सकता है। उसके और उसके समूह के सम्पर्क बिन्दु इतने स्पष्ट और शक्तिशाली होते हैं कि उनमें उनके सम्बन्धों का तूफान केन्द्र होने की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्भावना होती है। इस बिन्दु पर धार्मिक परम्परा की रहस्यवादी पुनर्व्याख्या का प्रश्न उठता है। क्योंकि रहस्यवादी परम्परा की भाषा बोलता है किन्तु साथ ही उसमें गहरा रूपान्तरण भी करता है जिससे पुराने शब्दों को नया अर्थ दिया जाता है और कुछेक नए शब्दों का सृजन करता है जिनका विचित्र गुण और उनका संवेगात्मक प्रभाव उनकी विशेषता होती है। इन सभी के माध्यम से वह अभिव्यक्ति के लिए आतुर नई सामाजिक शक्तियों को सरलता से रूपान्तरित करने अथवा उन्हें स्थायी बनाने के कार्य करता है।

मैं कह चुका हूँ कि रहस्यवादी अपने समाज में असाधारण व्यक्ति होता है। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि वह एक द्वन्द्वात्मक व्यक्ति है। प्रारम्भ से ही उसका सम्बन्ध एक पूर्ण सम्बन्ध नहीं होता और वह गम्भीर तनावों से ग्रस्त रहता है। रहस्यवादी पूर्ति की ओर उन्मुख उसकी खोज की दिशा उसे समाज से दूर ले गई, उन दोनों के बीच दूरी उत्पन्न कर दी, यहाँ तक कि उनके बीच एक खाई पैदा कर दी। यदि वह मुड़कर पीछे लौटता है और लोगों के एक समूह से लाभदायक सम्बन्ध बनाने के लिए उनकी ओर ढकेला जाता है तो उस आन्दोलन की प्रकृति द्वन्द्वात्मक होगी। उसमें अनिवार्यतः आन्तरिक कारण होते हैं क्योंकि सामाजिक क्रिया के 'सक्षोभ' के भीतर रहस्यवादी उस निश्चयात्मक समाज-विरोधी प्रति प्रेरणा के प्रति सचेत रहता है जिसने सर्वप्रथम उसे उस स्थिति में पहुँचने योग्य बनाया। एक दिशा में बढ़ने वाले प्रत्येक कदम में उसी समय एक ऐसा तन्तु होता है जो पीछे की ओर विरोधी दिशा में संकेत करता है। उसमें तथा समाज के बीच उस समय सरल तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं रह सकता और वह स्वयं ही स्पष्ट दिखता है जब हम उन चार आधारभूत समस्याओं पर विचार करें जिनका पूर्वोल्लेख किया जा चुका है।

सर्वप्रथम, रहस्यवादी का यह आग्रह है कि वह भगवान को अनुभव से जान गया है। परन्तु बिलकुल उसी आग्रह अथवा दावे पर तो संस्थागत धर्म और उसकी आवश्यकताएँ आधारित होती हैं। इसके संस्थापकों, इसके निश्चयात्मक रहस्योद्घाटन के वाहकों तथा इसके पैगम्बर (मन्त्रद्रष्टाओं) ने ईश्वर के एक अनुभव होने का दावा किया था जिसका रूप रहस्यमयी परमानन्द न होकर एक स्पष्ट और विशिष्ट सन्देश का रूप था जो रहस्योद्घाटन के स्रोत से वास्तविक समागम होने पर उन्हें मिला था। उस रहस्योद्घाटन की विशेष व्यवस्था और उसके द्वारा स्थापित परम्परा के सामाजिक स्वरूप का निर्धारण हुआ। इन सम्बन्धित परम्पराओं द्वारा उद्घाटित संस्थाओं का सशक्त सामाजिक एवं भावनात्मक आकर्षण आज धार्मिक अनुभव के मध्यस्थ का कार्य करने लगा और अधिकांशतया उसके स्रोत से प्रत्यक्ष सम्पर्क को निष्कासित कर दिया, किन्तु जब रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के उस निर्दिष्ट पारम्परिक रूप का व्यवहृत स्वरूप अब अपर्याप्त है। धार्मिक इच्छा किसी विशेष समय और घड़ी पर नहीं रुक जाती; यह तो बार-बार उठा करती है, और यदि यह उसी एक नए सन्देश एवं एक नई व्यवस्था का रूप ग्रहण नहीं करती है अपितु अपने को पारम्परिक ढाँचे के भीतर रखने का प्रयास करती है तो यह प्राचीनतर व्यवस्था के आन्तरिकीकरण (इण्टरनैलाइजेशन) की ओर प्रवृत्त होती है और रहस्यवाद हो जाती है। रहस्यवादी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राचीनतर रहस्योद्घाटन का प्रतिस्पर्धी रहस्योद्घाटन प्राप्त करने का कभी भी दावा नहीं करता। किन्तु फिर भी वह वहाँ तक पहुँचने का दावा तो करता है जो इस सब का उद्गम है। उसके लिए अब प्रदत्त रहस्यवादी रहस्योद्घाटन, ईश्वर से एकता (यूनियन) अथवा सायुज्य (कम्यूनियन) का वह अनुभव अब एक अवरुद्ध और सुस्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं बना रहता। उसके विपरीत पूर्णतया आन्तरिकीकृत हो जाने के कारण वह एक निराकार, आकृतिहीन, अकथनीय (अवर्णनीय) और वर्णनातीत हो गया है। परन्तु इसके बावजूद यह मान लिया जाता है कि उसके स्रोत और ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन के स्रोत में तादात्म्य है। मुझे यह मान्यता बहुत महत्वपूर्ण लगती है और यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह मान्यता मिथ्या नहीं है? मैं स्वयं रहस्यवादी नहीं हूँ इस कारण मैं तादात्म्य की इस समस्या पर निर्णय देने की स्थिति में नहीं हूँ। इस सम्बन्ध में मेरी आशंकाएँ स्वयं रहस्यवादियों की घोषणाओं तथा उनके वर्णनों पर आधारित हैं। मूसा अथवा मुहम्मद को प्राप्त रहस्योद्घाटन के स्रोत को यहूदी रहस्यवादी अध रब्बी इशाक अथवा रब्बी इशाक लुरिया अथवा इब्न अरबी और हलाज को प्राप्त रहस्योद्घाटन के स्रोत में समानता ढूँढ़ने में वास्तव में अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। फिर भी इस मान्यता के बिना रहस्यवादी स्वयं को अपने धार्मिक समुदाय में बनाए रखने का स्वप्न कभी नहीं देख सकते, उस पर उनके प्रभाव के विषय में तो कहा ही नहीं जा सकता। अन्यथा, रहस्योद्घाटन की निरन्तरता का उनका अभिमान (प्रदर्शन, आडम्बर) प्रारम्भ से ही व्यर्थ हो जाएगा। सच तो यह है कि रहस्यवादियों के विरोधियों एवं शत्रुओं ने यही तर्क अक्सर दिया है। तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कब्बालवाद के प्रारम्भ से ही हमें एक प्रलेख प्रोवेन्स को एक महान राबीवादी सत्ता द्वारा जारी एक परिपत्र का पता चला है जिसमें इस प्रकार के तर्क पर बहुत जोर दिया गया है। इस सम्बन्ध में रहस्यवादियों की दृढ़ोक्तियों का उनके शत्रु मजाक उड़ाते थे। निश्चय ही रहस्यवादी इसका यह उत्तर देते थे कि उनके विरोधी वैसी ही बात करते हैं जैसी अन्धे लोग रंग के विषय में करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दोनों पक्ष अपनी-अपनी स्थितियों के समर्थन में अच्छे तर्क दे सकते थे। रहस्यवादियों की दलील यह थी कि इस अन्तर्निहित तादात्म्य के अनेक, यहाँ तक कि अनन्त पहलू हैं, और तब फिर आगे की दृढ़ोक्ति, जिसका द्वन्द्वात्मक स्वरूप अधिक था, करना केवल अगला कदम था अर्थात इतिहास क्रम के माध्यम और समाज के परिवर्तनीय रूपों के अनुसार यह तादात्म्य स्वयं सदैव नवीन एवं परिवर्तनशील पहलुओं में प्रकट होता रहता है। इस दृढ़ोक्ति में रहस्यवादियों का यह दावा पुष्ट होता है कि अन्तत: दिव्य रहस्योद्घाटन का अकेला और केन्द्रीय स्रोत है जिसको व्यक्त करने और सर्व प्रमुख बनाने का वे प्रयत्न करते हैं और ऐसा प्रत्येक रहस्यवादी अपने ही ढंग से और अपने ही परिवेश में करता है।

यदि एक बार यह बात समझ ली जाती है, तो हम दूसरे प्रश्न पर विचार-विमर्श कर सकते हैं। यह प्रश्न है : रहस्यवादी रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति में पारम्परिक प्रतिबिम्बों की भूमिका। रहस्यवादी और उसके समाज के बीच कोई सम्बन्ध असम्भव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होगा यदि उसके समूह की परम्परा से धार्मिक प्रतिबिम्बों की विशाल राशि उसे प्राप्त नहीं हो सकती। वे उसे पवित्र ग्रन्थों से, संस्कारों (कर्मकाण्ड) की भाषा से और उसके धर्मशास्त्र के विशिष्ट प्रतिबिम्ब-विन्यास से प्राप्त हो सकती है यदि रहस्यवादी इन सबसे अपने को पृथक नहीं करता और एक ऐसे बिन्दु पर नहीं पहुँचता जहाँ कोई प्रतिबिम्ब शेष नहीं बचते हैं। सम्बद्ध लोगों के सर्वसम्मत साक्ष्य के अनुसार रहस्यवादी अनुभूति को प्रतिबिम्बों का कोई ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वह या तो उन्हें पीछे छोड़ देता है अथवा नष्ट कर देता है। किन्तु आकृतिहीन प्रकाश (ज्ञान) का यह केवल चलायमान क्षण होता है। जब यह क्षण बीत जाता है तो भाषा की सामाजिक विरासत और प्रतिबिम्ब-विन्यास पुनः अपनी सम्पूर्ण शक्ति से लौट आते हैं। यह प्रतिबिम्ब किसी धार्मिक समाज में स्थायी रूप से प्रविष्ट हो गए थे और उसके द्वारा उसके अनुभव को व्यक्त करने के प्रामाणिक साधन माने जाते थे। वे कल्पना को प्रभावित करते थे और साथ ही परम्परा से निर्दिष्ट न्यूनाधिक निश्चित अर्थ व्यक्त करते थे (एक ही प्रतिबिम्ब का विभिन्न समूहों में बिलकुल विभिन्न अर्थ हो सकता है—उदाहरणार्थ, मोक्ष के समानुरूपी प्रतिबिम्बों का यहूदी और ईसाई सन्दर्भों में वहुत भिन्न अर्थ होता है)। अतः अपने अनुभव का वर्णन करने अथवा उसका कितनी ही अपूर्णता से रूपान्तरण करने के प्रयास में यहूदी रहस्यवादी यहूदी धर्म के पारम्परिक प्रतिबिम्बों का प्रयोग करेगा। वह बाइबिल में प्रयुक्त अथवा रब्बावादी प्रतीकों में ईश्वर की एकता की बात करेगा, वह अपने स्वप्न (कल्पना, दृष्टि) को तोराह और उसके अर्थों आदि से सम्बन्धित करने का प्रयत्न करेगा। इसी कारण से, समान रूप से ईसाई रहस्यवादी अपनी परम्परा के प्रतिबिम्बों का प्रयोग करेगा। इस प्रक्रिया में यह मानना उचित है कि वह इन प्रतिबिम्बों में नये अर्थों अथवा पुराने अर्थों के काफी संशोधनों का प्रवेश कर देगा और उनके जीवन-काल में एक नई अभिवृद्धि करेगा। यदि वह ऐसे नवीन प्रतिबिम्बों का प्रयोग करता है जिनका उद्गम उसकी अपनी परम्परा में नहीं है तो उनके निष्प्रभावी, रहस्यमय और भ्रान्त रहने की सम्भावना रहेगी। अतः वे विरोध भड़काएँगे और संघर्ष उत्पन्न करेंगे।

इस तरह रहस्यवादी की मनोवैज्ञानिक प्रेरणा और उसका सामाजिक संघात अन्योन्याश्रित है। उसकी स्वयं की प्रेरणा पर सामाजिक कारकों का प्रभाव पड़ता है जिनको पुनः वह इस सीमा तक प्रभावित कर सकता है कि वह उसे सामाजिक दृष्टि से ग्राह्य (स्वीकार्य) बना दे। मुझे बहुधा आश्चर्य होता है कि रहस्यवाद के इस मनोवैज्ञानिक तथ्य—और यह एक सामाजिक तथ्य है—को कितनी सरलता से लेते हैं कि रहस्यवादी अपने पथ पर केवल अपनी ही परम्परा की प्रतिकृतियों के सम्पर्क में आते हैं। बौद्धानुयायी रहस्यवादी को ईसा के दर्शन नहीं होते हैं और न ईसाई रहस्यवादी को कोई बौद्ध-प्रतिबिम्ब दिखता है। इसी प्रकार केवल यहूदी (कब्बालवादी) रहस्यवादी को इनमें से कोई भी प्रतिबिम्ब नहीं दिखता। किन्तु रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के ठीक पूर्व उसे पैगम्बर (देवदूत, नवी) एलीजाह से समागम होता है। इस प्रतिकृति का यहूदी परम्परा से अत्यधिक सामाजिक महत्व है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसके अतिरिक्त संचार के कुछ महत्वपूर्ण साधन विद्यमान हैं जिनसे रहस्यवादी अनुभूति का संचार किया जा सकता है और स्पष्ट भाषा के प्रयोग के बिना उसे समझने योग्य बनाया जा सकता है। यहाँ मेरा अभिप्राय प्रतीकात्मक संकेतों (हाव भावों जिसमें उदाहरणतया महात्मा बुद्ध की प्रख्यात मुस्कान भी सम्मिलित है, जब उनसे ज्ञान अथवा निर्वाण का अर्थ पूछा गया था) और व्यक्ति के क्षेत्र से पूरे नृत्य और गीत से है। लगभग प्रत्येक रहस्यवादी समूह में उनकी अत्यधिक महत्ता आम तौर पर स्वीकार की जाती है। धारणात्मक निरूपण और परिणामतः सम्भव विरोधी प्रतिक्रियाओं को बचाकर वे सामाजिक संघर्ष के विस्तार को कम कर देते हैं। उनके द्वारा अपनाए गए अभिव्यक्ति और उच्चारण के विशिष्ट रूप कम निश्चित होते हुए भी बहुत अधिक सामाजिक आकर्षण वाले होते हैं। एक सामूहिक प्रघटना के रूप में परमानन्द को उत्पन्न करने में उनका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वे पूर्व प्राप्त परमानन्द को रूपान्तरित कर उसे (स्थूल) अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते हैं। हसीदी आन्दोलन के कुछेक महान रहस्यवादियों ने रहस्यवादी के जीवन में 'मधुर ध्वनि के संसार' की उस दोहरी भूमिका का सविस्तार उल्लेख किया है। जबकि किसी बाहरी व्यक्ति के लिए रहस्यवादी की साहित्यिक विरासत सरलता से सम्प्रेषणीय होने के कारण अधिक प्रभावपूर्ण (गौरवपूर्ण) प्रतीत होगी। रहस्यवाद के साधकों के लिए उन अन्य रूपों का अधिकतर ज्यादा जीवन्त महत्व होता है। उन्हें उस बौद्धिक प्रयास की आवश्यकता नहीं होती जो अन्ततः रहस्यवादियों की सैद्धान्तिक शिक्षाओं के आत्मसात्करण से अभिन्न होती है और उनसे विशुद्ध भावनात्मक तत्व की सन्तुष्टि होती है, क्योंकि उसे इस प्रकार सामाजिक और व्यापक रूप से समझी और स्वीकृत की जाने वाली अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि रहस्यवादी अनुभूति से उद्गमित (जन्मी) और मुख्यतया समाज के निचले स्तरों के सदस्यों से बने हुए सम्प्रदायवादी संगठन बहुधा सामाजिक अभिव्यक्ति के इन साधनों पर जोर देते हैं।

आइए, अब पुनः वहीं चलें जहाँ से प्रारम्भ किया था अर्थात रहस्यवाद में प्रयुक्त परम्परात्मक भाषा और उसके बिम्बों पर विचार करें। धर्म के सुप्रतिष्ठित रूपों का आधार उसके संस्थापकों का मार्गदर्शन करने वाले रहस्योद्घाटन होते हैं। उसके लिखित अथवा व्यक्त प्रलेख ही समूह के लिए उसकी सत्ता होते हैं। इस अर्थ में महात्मा बुद्ध के उपदेशों को रहस्योद्घाटन का प्रलेख कहा जा सकता है और वे एक उभरती हुई धार्मिक परम्परा के मुख्याधार भी हैं। किन्तु यहाँ पर पीछे उठाए गए प्रश्नों में से तीसरे प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है। समुदाय के सामाजिक जीवन को शासित करने वाली एक सत्ता का विधिवत निर्माण हो जाता है। जैसा कि हम कह चुके हैं, इस समय उस रहस्यवादी को, जो उस सब के उद्गम (मूल स्रोत) तक वापस लौटने का दावा करता है, दो विकल्पों में से एक को चुनना पड़ेगा। या तो वह परम्परागत सत्ता को स्वीकार कर उसके अनुरूप आचरण करे अथवा उस सत्ता का अवमूल्यन करे या उसे नकार दे। ऐसा करने में सम्भाव्य संघर्ष (विरोध) स्पष्टतः दिखता है। किसी अदम्य अनुभूति के द्वारा ईश्वरी शक्ति से निकटतम

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्पर्क का दावा करने के पश्चात क्या वह स्वानुभूति को सत्ता का एक स्रोत स्थापित करेगा अथवा पूर्वस्थापित सत्ता के अधीन हो जाएगा? इनमें से दूसरे विकल्प पर मैं पहले विचार करना चाहूँगा। ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन की सत्ता के अधीन होने की इच्छा केवल तभी सम्भव हो सकती है जब वह स्वानुभूति और संस्थापकों की अनुभूति में तादात्म्य स्थापित करे। हो सकता है इसमें कठिनाई हो, क्योंकि उनकी अनुभूति स्पष्ट थी जबकि इसकी अनुभूति अस्पष्ट है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वह इस अनुभूति को परम्परा की भाषा में रूपान्तरित करता है किन्तु तब भी वह बिलकुल तदनुरूप नहीं हो पाती। उसकी अनुभूति के कारण इस परम्परा का अर्थ कुछ नया हो जाता है यद्यपि वह दावा यही करता है कि नवीन अर्थ और मौलिक अर्थ में कोई भेद नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह इस प्रकार के सिद्धान्त को कैसे प्रतिपादित कर सकता है? यहीं तो एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक अर्थात पवित्र ग्रन्थों और प्राचीन प्रलेखों की रहस्यवादी व्याख्या प्रविष्ट होती है। इसके बिना यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि क्या रहस्यवाद ने समाज में वह भूमिका अदा की होगी जो कि इसने वास्तव में की है। मैंने अन्यत्र इस बात पर विस्तार से विचार किया है। जहाँ यहूदी रहस्यवाद में 'तौराह' के अर्थ की चर्चा की गई है। यह मान लेने पर कि ईश्वर का शब्द अनेक प्रकाशों से ज्योतिर्मान है और वह अर्थ के असंख्य दर्पणों में प्रतिबिम्बित होता है, रहस्यवादी प्राचीन ग्रन्थों को उनके अन्तरतम अनुभव और दृष्टि के विषय में बताते हुए पढ़ा जा सकता था। परम्परावादी अथवा रूढ़ ग्रन्थ रहस्योद्घाटन के अधिकार से युक्त हो गया था और पिघलकर नये रूपों में ढल गया था। इसके अतिरिक्त उसमें नये आयामों का भी विकास हो जाता है। ईश्वर के शब्द की एक जीवित रचना में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया, अर्थात् सदैव नवीन रहने वाले आध्यात्मिक अर्थों के सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ढँके हुए कठोर कवच का रूपान्तरण, वर्तमान विचार-विमर्श के लिए केन्द्रीय महत्व की है। इसने रहस्यवादियों के पवित्र ग्रन्थों में स्वयं अपने संसार को पढ़ने के योग्य बनाया, उनका आध्यात्मीकरण करते हुए वे प्रायः अत्यधिक स्पष्ट विरोधाभासों पर काबू पा सकते। और वे ऐसा एक अकाट्य तर्क की पद्धति द्वारा कर सकते थे। वे यह तर्क प्रस्तुत कर सकते थे कि यदि वास्तव में ईश्वर का शब्द विद्यमान है तो क्या वह अनिवार्यतः अनन्त शक्तिशाली नहीं होगा और उसकी सत्ता की अक्षय सम्पन्नता को प्रतिबिम्बित नहीं करता होगा! जो रहस्योद्घाटन के माध्यम से भी अवश्य ही किया जाना चाहिए। ईसाई, मुस्लिम और यहूदी रहस्यवादियों का साहित्य इस तर्क की सबलता का एक अत्यधिक गम्भीर साक्षी है। जैसा कि कभी यहूदी रहस्यवादियों अथवा अधिक रूढ़िवादी ईसाई रहस्यवादियों के बारे में होता है, रहस्योद्घाटन के बाहरी कवच की सत्ता अलंघ्य बनी रहती थी और इस मामले में परम्परा पर आधारित समुदाय के जगत और रहस्यवादियों के आध्यात्मिक जगत के बीच एक पुल का निर्माण किया जा सकता था। परन्तु वहाँ निश्चय ही कुछ ऐसे मूल क्रान्तिवादी भी थे जो अतिवादी सीमाओं तक जा सकते थे और जो एक ही साथ ऐतिहासिक और परम्परा कवच का विनाश कर सकते थे और इस प्रकार उनके पास रहस्योद्घाटन में एक सम्पूर्ण (निरपेक्ष) आध्यात्मिक तत्व के अलावा कुछ नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बचता था। इस प्रकार यह वही हो जाता है जिसे आन्तरिक शब्द अथवा आन्तरिक ज्योति कहा जाता है, जो स्वयं को मनुष्य की आत्मा में उद्घाटित करती है। यह भली प्रकार ज्ञात है कि इस प्रकार के सिद्धान्त के ईसाई रहस्यवाद के इतिहास और सम्बन्धित प्रघटनाओं के क्षेत्र में कितने गम्भीर परिणाम हुए। उन रहस्यवादियों के विचार से प्रत्येक मनुष्य में एक दैवी प्रकाश-किरण रहती है जो उन बाइबिल के शब्द के सम्पर्क में आने पर मुक्त हो जाती है और फिर स्वयं उसका जीवन और प्राधिकार विकसित हो जाता है। रहस्यवादी के क्रियाकलाप का सामाजिक स्वरूप मोटे तौर पर इन तीन विभिन्न विकल्पों से सम्बन्धित उसकी स्थिति द्वारा निश्चित होता है। रहस्यवादी व्याख्या कुछ मात्रा में रहस्योद्घाटन की प्राचीनतर अधिकारसत्ता और रहस्यवादी अधिकारसत्ता के बीच के संघर्ष-क्षेत्र को कम कर देती है, यद्यपि इससे इन दोनों अधिकारसत्ताओं के बीच व्याप्त तनाव को दूर करने की सम्भावना का प्रादुर्भाव नहीं हो जाता।

अस्तु, इस विचार-विमर्श के द्वारा हम एक अन्तिम प्रश्न तक आ गये हैं जिसे हमने पहले उठाया था। सभी प्रकार के रहस्यवाद में एक ही समय पर दो परस्परविरोधी और अनुपूरक पहलुओं—एक अनुरक्षणात्मक और दूसरा क्रान्तिकारी—को पाया जा सकता है। शायद यह कहा जा सके कि यह रहस्यवादी के चरित्र अथवा उसके व्यक्तित्व पर और उसके समक्ष ऐतिहासिक परिस्थितियों पर आश्रित है, फिर चाहे वह दोनों पहलुओं में से किसी एक को दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण माने। अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों तत्व सदैव उसमें विद्यमान रहते हैं। वह समान रूप से आचरण करने की इच्छा कर सकता है। किन्तु अपनी अनुभूति से वह मौलिकता और स्वाधीनता की ओर आकृष्ट हो जाता है। एक मूर्त सामाजिक सन्दर्भ में सक्रिय रहते हुए भी परम्परा से ओतप्रोत रहते हुए उसकी रहस्यवादी कामना उसकी परम्परा की पुष्टि कर सकती है और उसे उसके समर्थक और रक्षक में बदल सकती है। जब वह सामाजिक रूप से सक्रिय हो जाता है तो एक महान साक्षात्कार से मुक्त हुई उसकी आध्यात्मिक शक्ति चेतन रूप से उसके समुदाय और उसके जीवन की रक्षा और सुदृढ़ता के लिए कार्य करने लगेगी। उसका मस्तिष्क परिवर्तन की ओर अभिमुख नहीं होता यद्यपि वह प्राय: सुधार करना चाहता है। समाज में आध्यात्मिक तत्व को उसके उपयुक्त स्थान पर पुन: लाकर खड़ा करने के संकल्प के कारण, जहाँ वह प्राय: अपनी गत्यात्मक गुणशीलता को खो चुका है, वह सामाजिक व्यवस्था को उस तत्व से अनुप्राणित करना चाहेगा। रहस्यवादी की इस प्रकार की मौलिक अनुरक्षणात्मक क्रिया के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। कुछ लोग स्वयं अपना समूह-निर्माण करने के कार्य से दूर रह सकते हैं किन्तु फिर भी वह स्वीकृत सामाजिक रूपों के अन्तर्गत कार्य करेगा जब तक कि उसका विरोध नहीं होता जो कि उनकी क्रिया को अन्य मार्गों पर मोड़ने को विवश करता है। तब वे उन लोगों के साथ मिल जाते हैं जो प्रारम्भ से ही समानरूपी प्रेरणाओं से युक्त किसी विशिष्ट संगठन के निर्माण का प्रयास करते हैं, जिसके माध्यम से वे कार्य करेंगे। इस्लाम व ईसाई धर्म के अधिकांश रूढ़िवादी रहस्यवादियों के मामले में ऐसा ही हुआ। कैथोलिक धर्म के भीतर कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रेणियाँ प्रख्यात

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवादियों के अग्रणी प्रयासों के कारण उत्पन्न हुई हैं और जो बाद में चलकर गहन सामाजिक कार्यकलाप की केन्द्र बन गईं। इस प्रकार की श्रेणियों का उदाहरण असासी के फ्रेन्सिस, लोयोला के एगनेशियश और ऐविला के टैरेसा कहे जा सकते हैं। इसलिए अण्डरहिल नामक विद्वान ने कहा है कि रहस्यवादी जीवन जगत में आध्यात्मिक जीवन्तता की एक नवीन उत्पत्ति का अभिकरण है, वह एक आध्यात्मिक प्रजा की माता है। महान संघटनात्मक रहस्यवादी आध्यात्मिक परिवारों के संस्थापक रहे हैं। ईश्वर की प्रवाहमयी ज्योति उन पर वैसे ही केन्द्रित होती है जैसे कि एक शीशे के लेंस में। केवल वह उनके माध्यम से गुजरती हुई चारों तरफ व्याप्त हो जाती है।

रहस्यवाद के कुछ ऐसे रूप हैं जो स्वयं सिद्ध रुख से एक सामाजिक सन्दर्भ के भीतर रहस्यवादी चेतना के एक संगठित प्रयास को प्रोत्साहन देते प्रतीत होते हैं। इस्लाम के रहस्यवाद के बारे में यह बहुत बड़े रूप में सत्य प्रतीत होता है। गस्टाव फॉन ग्रूनबाम ने इस बात को काफी स्पष्ट किया है। ज्यों ही आप एक बार आनन्द को धार्मिक जीवन का एक वैध लक्ष्य स्वीकार कर लेते हैं, अथवा ज्यों ही आप यह स्वीकार करते हैं कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आभिजात्य और जनसाधारण दोनों प्रकार के लोग स्वतन्त्र होने चाहिए, यह दृष्टिकोण सूफीवाद जैसे रहस्यवाद में स्पष्ट रूप से व्यक्त होने वाले रहस्यवाद के रूपों तक निश्चय ही ले जाता है। आस्तिकों की एक निरन्तर बढ़ती हुई संख्या एक ऐसे संघ में भाग लेकर, जहाँ ऐसी अनुभूति प्राविधिक साधनों द्वारा अथवा किसी विशेष प्रणाली अथवा समुदाय की जीवन–पद्धति द्वारा सुविधाजनक बना दी जाती है, दैवी शक्ति की चरम अनुभूति प्राप्त कर सकती है।

यहूदी धर्म में कब्बालवाद के संस्थापित रूपों का निश्चय ही इसी रूढ़ प्रकार के रहस्यवाद से सम्बन्ध है। मैं यहाँ इस प्रश्न पर विस्तार से कुछ नहीं कहना चाहूँगा कि क्या रहस्यवाद का एक ऐसा प्रकार, जो अपने उद्देश्य के रूप में एक रहस्यवादी समागम प्राप्त करना चाहता है, और दूसरे जो केवल ईश्वर से एकाकार हो जाने का प्रयास करता है, के बीच कोई अन्तर है। मैं इस बारे में बिलकुल आश्वस्त नहीं हूँ कि यह अन्तर उतना अधिक महत्वपूर्ण है जितना कि प्राय: ईसाई रहस्यवाद पर लिखे गये निबन्धों में विशेष रूप से दावा किया जाता है और साथ ही मैं विशिष्ट रूप से समाज पर रहस्यवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में भी किए जाने वाले दावों से सहमत हूँ। मेरा यह मानना है कि रहस्यवाद के चरम लक्ष्य की परिभाषा मोटे तौर पर निर्वचन का एक विषय है और इस पर ऐतिहासिक और धर्मशास्त्रीय विचारों का प्रभाव पहले ही पड़ चुका है। यहूदी रहस्यवादियों ने इस चरम लक्ष्य को व्यक्त करने के लिए 'डेवेकुथ' नामक पद का प्रयोग किया था। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ ईश्वर से चिपकना अथवा उससे जुड़ जाना है और इसमें प्रमुख रूप से एक चेतावनीपूर्ण धारणा व्यक्त होती है, यद्यपि इससे थोड़े बहुत अन्तर से कई अर्थ प्रकट हो सकते हैं। मध्ययुगीन यहूदी धर्मशास्त्र से समझौता करने की आवश्यकता के कारण उपर्युक्त पद को स्वीकार किया गया न कि स्वयं क्रिया को, जिससे एक रहस्यात्मक समागम की अवस्था का समावेश हो भी सकता है और नहीं भी। मुझे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो अपेक्षाकृत यह सन्देह है कि क्या इसका 'डेवेकुथ' के शिक्षण के सामाजिक निहितार्थों से कोई सम्बन्ध है ? मैं इस बात को कुछ अधिक विस्तार से समझाना चाहूँगा।

'डेवेकुथ' नामक पद ईश्वर से एकाकार होने की अवधारणा के उतना ही निकट है जितना की कल्पना की जा सकती है। मौलिक रूप से यह व्यक्ति का ईश्वर से निरन्तर सम्पर्क है और निश्चय ही एक सामाजिक अनुभूति नहीं है। जो रहस्यवादी साधुता के पथ पर चलता है वह अन्ततः एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ स्वयं ईश्वर उसका मार्गदर्शन करने लगता है और उसमें पवित्रता का तत्व भर देता है। कब्बालवादी मोसेस हुयीम लुजातो 'डेवेकुथ' अथवा ईश्वर से एकाकार होने की अवस्था को उल्लिखित साधुता के पथ की अन्तिम अवस्था मानता है ? इसे छोड़े बिना रहस्यवादी उसके भीतर प्रगति कर सकता है और गरिमा के उत्तरोत्तर उच्च शिखरों पर जा सकता है जिनमें मन की ऐसी स्थितियाँ भी सम्मिलित हैं जहाँ ईश्वर से एकाकार अदृश्य रूप से दैवी शक्ति के साथ एक रहस्यवादी समागम में बदल जाता है। सृष्टिकर्ता और उसके जीवों के बीच अन्तर पर जो एकाकार की इस घनिष्ठ स्थिति के भीतर भी जोर दिया गया है वह दैवी अतिलंघन की तीव्र चेतना के कारण है जो यहूदी धर्म में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। साथ ही सावधानीपूर्वक प्रयुक्त पद कभी-कभी इस सर्वोच्च स्थिति का वर्णन करने में अधिक क्रान्तिकारी अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। रहस्यवादी चिन्तन का वर्णन करने वाले कब्बालवादी ग्रन्थों तथा हसीदिक ग्रन्थों, जिनमें इस सिद्धान्त को केन्द्रीय महत्व दिया गया है, के बारे में यह बात समान रूप से सही है। किन्तु कब्बालवादी के विपरीत, जिनके लिए ईश्वर तक पहुँचने के लिए मार्ग के एक भाग के रूप में ही 'डेवेकुथ' को स्वीकारा जाता था, वह अनिवार्य रूप से अनिर्वचनीय था। हसीदिम 'डेवेकुथ' की दो स्थितियाँ मानते थे जिनमें से एक अवस्था आरोहण की थी और दूसरी अवरोहण की। यह अवस्था केवल चिन्तनशील मन द्वारा ही प्राप्त नहीं की जा सकती है, ऐसे चिन्तनशील मन द्वारा जो कि शरीर के सभी बन्धनों से मुक्त हो। परन्तु ज्यों-ज्यों यह अनन्त सत्ता की ओर आनन्दाभिभूति में ऊपर की ओर चढ़ती है त्यों-त्यों यह आनन्द के क्षण के पश्चात रहस्यवादी की सत्ता में व्याप्त होती जाती है। इसमें एक महत्वपूर्ण द्वन्द्वात्मक प्रणाली प्रारम्भ हो जाती है। एकाकार की शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है और मात्र ईश्वर से भक्त के सम्बन्ध को निर्धारित नहीं करती किन्तु भक्त और उसके साथी मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी, अर्थात भक्त और समाज के सम्बन्धों को भी, निर्धारित करती है। अतः एकाकार की दो प्रकार की प्रकृति होती है : एक आधिभौतिक अथवा तत्वज्ञानी और दूसरी सामाजिक। जो मनुष्य ईश्वर से किसी सूत्र द्वारा बँधा था और ईश्वर के साथ अकेले रहने में सफल हो गया था वह अपने को असीमित समूह से सूत्रबद्ध कर लेता है और उसके सदस्यों के साथ समागम की स्थिति प्राप्त कर लेता है जो रहस्यवादी प्रकृति का प्रतिबिम्ब है। एकाकार में एक सामाजिक अर्थ विकसित हो जाता है और उसके प्रस्थापकों ने इस स्थिति से सम्बन्धित अपेक्षाकृत अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों की उपेक्षा नहीं की है। एक बार की स्थिति के सामाजिक निर्धारण का एक प्रसिद्ध उदाहरण स्वयं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बालशेम है जो हसीदिक आन्दोलन का संस्थापक और उसका केन्द्रीय व्यक्ति था। वह तालमूतिक सम्बन्धी घटना का प्रायः उल्लेख करना बहुत पसन्द करता था। रब्बविरोका अपने नगर के बाजार में घूमा करता था और एलीजा नामक मसीहा उसे मिला करता था। एक बार उसने उससे पूछा, क्यों संसार के कोई बच्चे अब भी इस बाजार में आने वाले हैं, अर्थात ऐसे लोग जो अनन्त सुख प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जब वह यह पूछ रहा था तो पास से दो भाई निकले। एलीजा ने तब कहा कि देखो यह दो व्यक्ति कैसे बच्चे हैं। रब्बी तब उन दोनों भाइयों के पास गया और पूछा कि वे क्या काम करते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि वे विदूषक हैं। यदि लोग रंजीदा होते हैं तो उन्हें हम हँसा देते हैं और यदि हम लोगों को झगड़ा करते देखते हैं उनमें आपस में शान्ति करा देते हैं। ये विदूषक जादिकिम हैं जो मूल्यों के हसीदी मापदण्ड के आदर्श के प्रतिनिधि हैं और जो बालशेम को बहुत प्रिय हैं। वह घर पर बैठकर केवल अपने मोक्ष के बारे में चिन्तित नहीं रहते हैं, जनसाधारण के बीच जाकर कार्य करते हैं, जैसा कि स्वयं बालशेम को प्रिय था। वे निराकार के सच्चे साकार रूप दिखाई पड़ते हैं जो परीक्षा में खड़े होते हैं अर्थात वे पदार्थ को चेतना तक उठा देते हैं। उच्चतम उपलब्धि के लिए वे अपने निम्नतम पेशे को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं।

जब हसीदी रहस्यवादी अपने सर्वोच्च लक्ष्य पर पहुँच जाता है तो उसके समक्ष चुनाव करने का अवसर प्रस्तुत होता है कि वह जगत से छिपा रहे और जगत के सुखों-दुःखों को त्यागकर केवल अपने और ईश्वर के बीच में एकान्त में एक निकटतम सूत्र विकसित करे, अथवा संसार की ओर मुड़े और समाज में सक्रिय होकर उसी क्षेत्र में अपने आध्यात्मिक कार्य को पूरा करे। पहले प्रकार का रहस्यवादी स्वयं के प्रति 'जादिग' कहा जाता है और दूसरा अन्यों के प्रति 'जादिग' कहा जाता है। यह निस्सन्देह स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकार के जादिगों में से बालशेम की अधिक सहानुभूति किसके प्रति है। एक सच्चे रहस्यवादी के रूप में हसीदी जादिग की शक्ति के प्रदर्शन का वैध माध्यम सामाजिक क्षेत्र है। साधु पुरुष अथवा रहस्यवादी क्षेत्र में प्रवेश कर अपना जीवन प्रारम्भ करता है ताकि वह उसको आध्यात्मिक बना सके, सक्रिय जीवन को साधनात्मक मूल्यों में परिवर्तित कर सके। परन्तु वह ऐसा करने का प्रयास करता है तो स्वयं ही इस प्रक्रिया में बदल जाता है। ईश्वर का सच्चा मित्र मनुष्य बन जाता है और आदर्श रूप से एक से दूसरे की ओर महत्ता का झुकाव हो जाता है। भौतिक क्षेत्र में फैले हुए स्फुलिंगों को ऊँचा उठाने के स्थान पर, जैसा कि कब्बालवादी विचारधारा में कहा जाता है, अथवा इस क्षेत्र से जीवित शक्ति को उन्मुक्त करने के स्थान पर जादिग उसमें वृद्धि करता है। वह स्वयं उसकी सजीवता से बाहर की ओर प्रस्फुटित होती है। जो उसके एकाकार के माध्यम से उस तक आकर भी स्वयं ईश्वरीय सजीवता से बाहर की ओर प्रवाहित होती है। यदि नेता स्वयं को दैवी सत्ता का एक साधन बना लेता है, जिसे 'शेखीना' कहा जाता है, तो वह उससे बाहर निकल कर उसके समकालीन साथियों तक विस्तृत हो जाता है। बालशेम ने रहस्यवादी के सामाजिक कार्य के बारे में एक स्पष्ट निर्धारण में ऐसी ही बात कही है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वास्तव में समकालीन नागरिकों से सम्बद्ध होने के अनेक रास्ते हैं और प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्ध सदैव उतना अभीष्ट नहीं माना जाता जितना कि बालशेम ने माना था। निश्चय ही यह सब कुछ जादिग के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। कभी-कभी मुख्य रूप से समाज से दूर जाना ही नेता को उसके आरोही स्थान की ओर ले जाता है। परन्तु अकेलापन और शान्ति अधिकांशतः इस प्रक्रिया का पहला चरण माना जाता है, वे इसके आगे होने वाली सामाजिक क्रिया की एक पूर्व दिशा है जिसका कारण यह नहीं है कि रहस्यवादी प्रारम्भ से ही ऐसी योजना बनाता है परन्तु जिसका कारण उसकी अनुभूति में अन्तर्निहित गत्यात्मकता कही जा सकती है। एकाकार की स्थिति के भीतर संस्थापित हसीदी लेखकों ने दो अवस्थाओं को माना था। इसकी प्रमुख अवस्था को वे गैदलूथ कहते थे जहाँ एकाकार (देवेकुथ) रहस्यवादी आनन्दातिरेक के सर्वोच्च रूप में विकसित हो जाता था। उसकी गौण अवस्था को वे 'कातनूथ' कहते थे जिसमें देवेकूथ अब भी कायम रहता था, किन्तु यह असम्पूर्णता के एक प्रकार में रहता था। ये दोनों अवस्थाएँ जीवान्त श्वास को अन्दर खींचने और बाहर निकालने के समान हैं। जिस मनुष्य को ईश्वर से समागम होने का आश्वासन मिल गया है वह उसे बाह्य जगत और समाज की ओर अभिमुख समस्त कार्य-कलापों में उँड़ेलना चाहता है। इसलिए इसमें बहुत कम आश्चर्य है कि देवेकूथ की गौण अवस्था प्रायः (यदि सर्वदा नहीं) सामाजिक क्रिया में सम्बन्धित होती है। इसका सम्बन्ध रहस्यवादी के अपने समुदाय के एक जीवित केन्द्र के रूप में सेवा में जुटे होने से होता है।

हासिदिम में एक ऐसे सामाजिक सिद्धान्त की स्थापना थी जिसका समर्थन प्रारम्भिक यहूदी लेखकों ने किया था किन्तु जिन्होंने उसका उपयोग रहस्यवादी के सामाजिक कार्य से सम्बन्धित अपने विचारों के लिए किया था। प्रत्येक वस्तु के समान समाज का भी रूप और भौतिक तत्व होता है और दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। एकाकार की स्थिति में रहने वाले चेतना के मनुष्यों द्वारा प्रतिनिधानित रूप में स्वयं की छाप पदार्थ पर लगाना चाहते हैं और पदार्थ का प्रतिनिधित्व वह जनसाधारण करता है जो अपने पार्थिव स्वार्थों की पूर्ति में लीन रहता है, किन्तु जो रूप की स्थिति में ऊँचा उठने के लिए आन्तरिक रूप से कामना करता रहता है। इन दोनों के बीच कोई स्थिर सन्तुलन नहीं है। वास्तव में यह सन्तुलन एक निरन्तर आगे बढ़ने वाली प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के दौरान सामाजिक व्यवस्था का पदार्थ निरन्तर रूपान्तरित होता रहता है। चेतना-युक्त मनुष्य को एक ऐसे रहस्यवादी के रूप में माना जाता है जो बाह्य क्रिया के प्रति अपने को लगाता है, परन्तु फिर भी इस बात के आध्यात्मिक पक्ष पर मनन करता है, जो शुद्ध रूप से एक भौतिक कार्य प्रतीत होता है। हसीदबाद अपने काल में एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रघटना विशेष रूप से इस कारण बन गई थी कि इसने यहूदी समुदाय के संगठन में रहस्यवादी के स्थान को परिभाषित करने का प्रयास किया। आध्यात्मिक बातों के सम्बन्ध में जादिक के बात करने और सांसारिक ढंगों से आचरण करने के बीच और इस प्रकार आध्यात्मिक उत्कृष्टता के एक कार्य करने के बीच

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समस्त विरोधाभास केवल इस कारंण सार्थक है कि रहस्यवादी के सामाजिक कार्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। यह अब भी विचित्र लगता है कि रहस्यवादी को जादिक कहा जाए अथवा उसे एक उचित मनुष्य कहा जाए। यह पद परम्परात्मक रूप से रहस्यात्मक अर्थ व्यक्त नहीं करता, किन्तु इसका स्वयं अपना तर्क है। यहूदी परम्परा में एक उचित अथवा न्याय-संगत मनुष्य ऐसा होता है जो प्रत्येक वस्तु को उसके उपयुक्त स्थान में रखता है और प्रत्येक वस्तु को उसका उचित भाग देय होता है और इस प्रकार यहूदी धर्म के सामाजिक आदर्श को प्रस्तुत करता है।

एक आदर्श प्रकार के यहूदी रहस्यवादी से तादात्म्य स्थापित करने में, जो अपेक्षाकृत एक सामाजिक सन्दर्भ में साधनात्मक जीवन का निर्वाह करने का विरोचित कार्य अपनाता है, रहस्यवाद और समाज के दोनों क्षेत्र एक साथ आ जाते हैं और एक महत्वपूर्ण साक्षात्कार में परस्पर मिल जाते हैं। पूर्वी योरुप के यहूदी धर्म पर हसीदीवाद का जितना घनीभूत सामाजिक प्रभाव पड़ा है, शायद ही किसी रहस्यवादी आन्दोलन का वैसा प्रभाव पड़ा हो। यह कहना न्याय-संगत होगा कि उपर्युक्त साक्षात्कार में सामाजिक और रहस्यवादी कारकों के बीच सम्बन्ध अन्ततः एक कठिन सम्बन्ध था—वे एक-दूसरे के प्रति किसी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा आकृष्ट होते थे और फिर एक-दूसरे से मेल करने का प्रयास करते थे। हसीदी रचनाओं में सबसे आकर्षक रचनाएँ, जैसा कि, जाकोब जोजेफ तोलेदोथ (लेखक पोलनोई का जाकोब जोजेफ, 1780) और नोआम एलीमेलेख (लेखक लीजेन्स का एलीमेलेक, 1789), पूर्ण रूप से इन दो शक्तियों के बीच संकटपूर्ण सन्तुलन को प्रतिबिम्बित करती है। जहाँ इन दोनों शक्तियों के बीच में कोई संघर्ष उत्पन्न होता है वहाँ सैद्धान्तिक रूप से भी सामाजिक तत्त्व अधिक शक्तिशाली हो जाता है। 'नोआम ऐलीमेलेख' नामक रचना में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सामाजिक क्रिया के लिए विशेष कामना अपने प्रति सम्मान प्राप्त करना चाहती है। रहस्यवादी प्रेरणा हसीदी समूह के संगठन हो जाती है और विशेष रूप से उसके नेता के शरीर में, जिसे जादिक कहा जाता है। परन्तु यहाँ भी हसीदीवाद के दूरगामी परिवर्तन में रहस्यवादी और उसके सामाजिक समूह के बीच परस्पर सम्बन्ध के बारे में चेतना बहुत धनी है।

प्रारम्भिक हसीदी लेखकों ने प्रायः इस बात पर जोर दिया कि जादिक केवल यह विचार नहीं देता जो कि पदार्थ और रूप के अलंकारयुक्त प्रयोग द्वारा हमारे मस्तिष्क में इस सम्बन्ध में बन जाता है। वह जितना देता है उतना ही लेता है। जनसाधारण को ऊँचा उठाने के प्रयास में वह स्वयं को ऊँचा उठाता है और जितना ही वह अपने सामाजिक कार्य में सफल होता है उतनी ही उसकी आध्यात्मिक महत्ता बढ़ जाती है। जादिक का सामाजिक प्रभाव कुछ नीचे गिरने जैसी वस्तु पर निर्भर करता है, अर्थात अपने समुदाय के अधिक निकट होने के लिए वह एकाकार के प्रमुख रूपों के नीचे गिरता है। किन्तु उसका यह त्याग उसे फल भी देता है क्योंकि उसके जीवन की गहनता उसके माध्यम से बहती हुई सम्पूर्ण समाज तक जाने वाली एक धारा द्वारा अत्यधिक बढ़ जाती है। यह धारा केवल स्वयं उस तक ही सीमित नहीं रहती।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एकाकार के अपने सिद्धान्त का रहस्यवादी और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर विकास करने में और उसे रब्बी सम्बन्धी परम्परा से अधिकांशतया सम्बन्धित करने में हसीदीवाद के संस्थापकों ने मूलत: रूढ़िवादी मार्ग का अनुसरण किया जो एक अधिक क्रान्तिकारी शाखा के रूप में विद्यमान रहती है। वे मूलत: अनुरक्षणात्मक सुधारक थे जिनमें स्वयं उनका रहस्यवादी अनुभव उनके समाज के प्रति एक संस्कारात्मक दृष्टिकोण विकसित करता था। उनके लिए यहूदी समाज उनके स्वयं के स्थानीय समूह का कोई समुचित ढाँचा नहीं था परन्तु वह सम्पूर्ण यहूदी जनता का एक सर्वव्यापी ढाँचा था। स्वयं अपने समूह की स्थापना करने में वे एक व्यापकतर अर्थ में यहूदी समाज के नवीकरण के लिए उसे एक केन्द्र मानते थे। रहस्यवाद पर सामाजिक प्रभावों के सम्बन्ध में ऐसे किन्हीं कारकों के विश्लेषण के लिए पूर्व उल्लिखित बातों की वैधता सिद्ध होती है जो हसीदी आन्दोलन के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। परम्परावादी यहूदी धर्म और हसीदी नेताओं की दृष्टि के बीच कोई अन्तर नहीं है, और जहाँ तक कोई संघर्ष उत्पन्न होने का प्रश्न है, वे इसकी कामना नहीं करते थे परन्तु वह उन पर थोप दिया गया था। ऐसा इस कारण हुआ क्योंकि पुनर्निर्मित रब्बी नेतृत्व ने उनके विरोधियों को बिलकुल भी उस प्रकाश में प्रकट नहीं होने दिया था जिसमें कि वे स्वयं अपने को देखते थे। अपने विरोधियों के लिए वे परस्परवादी नहीं थे परन्तु परम्परा-विरोधी और क्रान्तिकारी थे जो यहूदियों की परम्परा की धार्मिक भाषा का प्रयोग यहूदी समाज पर आघात करने के लिए करते थे।

इस प्रकार विचार करने से हम पुन: उस विकल्प पर आ जाते हैं जो रहस्यवादी के समक्ष प्रस्तुत होता है। क्या वह परम्परात्मक प्राधिकार की अधीनता स्वीकार करेगा और इस प्रकार जिन सामाजिक रूपों में वह प्रकट होती है उनके भी अधीन अपने को मानेगा अथवा वह स्वयं अपनी अनुभूति से प्राधिकार का एक नया दावा प्रस्तुत करेगा और परम्परात्मक प्राधिकार के विरुद्ध इस प्रकार के प्राधिकार खड़ा करेगा? मैंने रहस्यवादी द्वारा अपनाये गये रूढ़िवादी दृष्टिकोण और उसके उपलक्षणों के बारे में पहले ही बताया है। अब केवल इस विकल्प के क्रान्तिकारी पहलू के बारे में विचार करना शेष है। यदि हम उन लोगों की विचारधारा का अनुसरण करें तो रहस्यवाद को आवश्यक रूप से असामाजिक मानते हैं, अथवा उसे समाजविरोधी प्रघटना कहते है, जहाँ सभी वस्तुएँ और प्रत्येक वस्तु किसी एक अनुभूति के चारों ओर जीवित है, जिसकी मात्र प्रकृति में सभी प्रकार के प्राकृतिक रूपों का विघटन अथवा छिन्न-विच्छिन्नता अन्तर्निहित है और उससे भी अधिक रहस्यवादी समागम की क्रिया को प्राप्त करने के लिए सभी ऐतिहासिक रूपों का विघटन अन्तर्निहित है, तब तो केवल यह मानना तर्कसंगत होगा कि एक सामाजिक प्रघटना के रूप में रहस्यवाद का क्रान्तिकारी और उससे भी आगे अराजकतावादी पहलू ही सर्वप्रमुख है। इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि मन की यह रूपहीन और आकारहीन और अव्यक्त दृढ़ कामना केवल परम्परात्मक मूल्यों और रूपों के स्रोत का पुष्टिकरण है। रहस्यवादी रूप से निरपेक्ष स्वतन्त्र उद्बोध का अनुसरण क्यों न करे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिसको कि उसने उस निर्णायक काल में अनुभूत किया है जहाँ उससे सभी प्रकार के रूप दूर हो जाते हैं? निश्चय ही हमने यह देखा है कि यह इस तरह नहीं होता और रहस्यवादी की द्वैत विधि उसे रूपों के जगत तक वापस लौटा जाती है। इस कार्य में वह परम्परात्मक प्रतीकों और आध्यात्मिक गुरु द्वारा प्रोत्साहित होता है जो उसे वह दर्शाता है कि किस बात की अपेक्षा करनी चाहिए, और इसलिए कई रूपों से वह उसे इस महान घटना के पश्चात भी सामाजिक अनुरूपता के लिए तैयार कर देता है। इन सभी अनुरक्षणात्मक कारकों के होते हुए भी स्वयं उसके अस्तित्व की स्वाधीनता और चेतना का स्वातन्त्र्य विद्यमान रहता है जिसका सम्बन्ध प्रेरणा के स्रोत से है जो संघर्ष को जन्म देता है। भाषा और रूप के जगत को लौटाने पर वह अब बहुत अधिक समय तक सब कुछ अपने मूल रूप से स्वीकार नहीं कर सकता और न उसे एक प्रतीकात्मक और अध्यात्मवादी पुनर्व्याख्या ही दे सकता है। वह सरलता से परम्परा और उसके सामाजिक रूपों के एक आलोचक रूप में प्रकट हो जाएगा और उसके एक अंश को स्वीकार कर लेगा, अथवा अत्यधिक मौलिक मामलों में सम्पूर्ण परम्परा को भी नकार सकता है। वह प्राचीन रूपों के स्थान पर नये रूपों की स्थापना करता है अथवा सभी बाह्य रूपों के रहस्यवादी विनाश के आदर्श का प्रतिपादन करता है।

रहस्यवादी के पक्ष में यह केवल एक स्वभाव की बात है और साथ ही ऐतिहासिक परिस्थिति का विषय है कि ज्यों ही एक आलोचना के रूप में प्रकट होता है तो वह कितना आगे जाएगा अथवा कहाँ तक आगे धकेल दिया जा सकेगा यह नहीं कहा जा सकता। अनेक रहस्यवादियों के विचार के अनुसार वे, अर्थात रहस्यवादी, शून्यता की स्थिति में रहते हैं और इस बिम्ब के अनुसार अत्यधिक नाटकीय और भावनात्मक ढंग से बोझिल रहते हैं। फिर भी इसमें विनाश का एक अन्तर्निहित तत्व व्याप्त रहता है। जब रहस्यवादी शून्यता रहस्यवादी के जीवन का केन्द्र-स्थल अथवा उसका शीर्ष बन जाती है तब वह एक ऐसे आदर्श के रूप में प्रक्षेपित क्यों हो जाती है जो आराधक की भावी गतिविधियों का शासन करती है? निस्सन्देह अनुरक्षणवादियों ने इसके प्रति घृणा व्यक्त की है, और यदि मैं ऐसा कह सकूँ तो वह एक अत्यधिक सरल और अद्वैतवादी आग्रह है, फिर चाहे वह कितना ही उपयोगी क्यों न प्रतीत हो। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उसमें विस्फोटक शक्ति होती थी। रहस्यवादी शून्यता अथवा अस्वीकरण का मार्ग इस प्रकार उन्मुक्त होता है जहाँ धार्मिक जीवन के सभी दृश्य रूपों का विनाश लक्ष्य बन जाता है और जहाँ उनकी अन्तर्निहित मूल्यहीनता पर बारम्बार जोर दिया जाता है। बाह्य रूपों अथवा सामाजिक अनुरूपता का कोई अर्थ नहीं है। आप उन्हें परिस्थिति अथवा अपने झुकाव से प्रेरित होकर उनका उपयोग कर सकते हैं अथवा नहीं भी। आप उनके आधार पर उनके माध्यम से इसलिए गुजरने का प्रयास भी कर सकते हैं ताकि उनकी नकारात्मक और प्रतिबाधक प्रगति का मूलतः अनुभव किया जा सके। यह आन्तरिक स्वतन्त्रता अपने को एक अराजकतावादी स्वरूप के समुदाय के उन्मुक्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आध्यात्मिक जीवन में व्यक्त करती है, कुछ ऐसे अतिवादी उदाहरण भी हैं जहाँ रहस्यवादी अस्वीकरण के लिए प्रेरक शक्ति बन गया, जैसा कि कुछ संशयवादी मत-मतान्तरों में देखा जाता है। उत्तर-मध्यकालीन युग की स्वतन्त्र चेतना के भ्राता अनुयायियों डेबिट जोरिश के सम्प्रदाय और 18वीं शताब्दी के यहूदी उन्मुक्तवाद में यही बात देखी जाती है। इनमें से कुछ में विद्रोह का एक तत्व, अर्थात स्थापित प्राधिकारों को कुचल देने का तत्व निहित है और विनाश की प्रक्रिया में आनन्द मनाने का तत्व निहित है। इस तत्व में आध्यात्मिक तत्व को अन्तिम स्वाधीनता माना गया है। यहूदी धर्म में उन्मुक्तता आन्दोलन का अध्ययन करने से हमें इस प्रकार के रहस्यवादी अस्वीकरण और सामाजिक स्तर पर उसके संघात की एक गहरी जानकारी प्राप्त होती है।

किन्तु रहस्यवादी अतिवादिता के सही रूपों में यह तत्व नहीं मिलता। रहस्यवादी के लिए धार्मिक संगठन और उसके कर्मकाण्डों के प्रति उदासीनता का एक दृष्टिकोण अपनाना, अथवा सभी दृश्य रूपों से अपनी पीठ फेर लेना और ईसाई पदों में एक अदृश्य धर्म के उत्साहपूर्ण आदर्श की स्थापना करना, जिसको एक बाह्य क्रिया द्वारा चरितार्थ नहीं किया जा सकता किन्तु समानधर्मी प्रेरणाओं के एक रहस्यवादी समुदाय द्वारा ही चरितार्थ किया जा सकता है। इस प्रकार अराजकतावादी संगठनों का उनके सदस्यों के लिए जो सामाजिक अर्थ है उसकी कीमत को कम आँकना एक गलती होगी। ईसाई रहस्यवाद का इतिहास उन्हें क्रान्तिकारी अध्यात्मवादियों अथवा उत्साहवादियों अथवा उदासीनतावादियों के रूप में जानता है। वे सभी बाह्य आराधना को नकारते हैं क्योंकि वह आध्यात्मिक समागम में बाधक होती है, उसकी वृद्धि नहीं करती। परन्तु वे फिर भी अभिव्यक्ति और संचार के अपने साधनों को बनाये रखते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जोहान जार्ज गिब्ल (मृत्यु 1710) के समूह का है जिसको एक बहुत गहन तदनुरूपता द्वारा संगठित बनाये रखा गया था जिसमें ऐसा करने के लिए कोई अन्य वस्तु महत्वपूर्ण नहीं थी। वे क्वेकर-वादियों जैसी मूल-परिवर्तनवादी विचारधाराओं के सम्प्रदायों में भी सम्मिलित नहीं हुए। वे अपनी निष्क्रियात्मक अराजक स्थिति से ही सन्तुष्ट रहे किन्तु धर्म के सामाजिक संगठनों को उन्होंने जो अस्वीकार किया वह स्वयं सामाजिक विरोध का एक दृश्य-चिह्न था।

परन्तु अतिवादी उदाहरणों को हम सर्वाधिक प्रमुख उदाहरण नहीं मान सकते। रहस्यवाद की क्रान्तिकारी विशेषताएँ मुख्यतया ऐसे रहस्यवादी पन्थों में निखरकर ऊपर आ जाती हैं जो रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित उद्‌बोध का अनुगमन करते हैं, और जो उसके प्रति उद्‌बुद्ध नहीं होते हैं उनसे संघर्ष में आ जाने के बाद भी ऐसा करते हैं। निस्सन्देह इन पन्थों का विशिष्ट सामाजिक संघात हुआ जबकि रहस्यवाद का मेल मेसियानिजूम से हो गया। बहुत से संगत मामलों में यह बताना बहुत कठिन होगा कि इनमें से किस तत्व का दृढ़तर सामाजिक संघात हुआ। यहूदी और ईसाई धर्मों के इतिहास में उदाहरणतया उपर्युक्त दोनों ही तत्त्वों का मेल बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है जो आन्तरिक रूप से दूसरे तत्व से स्वतन्त्र माने जाते हैं। जब मेसियानिजम का प्रादुर्भाव हुआ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो सामाजिक संघर्ष के सर्वाधिक अवसर मौजूद थे। उदाहरण के लिए, यहूदी धर्म में कब्बालवादियों की रहस्यवादी प्रवृत्तियों को एक स्पष्ट अनुरक्षणात्मक बाह्य मार्ग मिल गया क्योंकि रब्बीवादी यहूदी धर्म को रहस्यवादी प्रतीकवाद की एक व्यवस्था के रूप में पुनः व्याख्यायित किया गया जब मैसियानिजम अपने केन्द्र पर पुनः आविर्भूत हुआ और इसका विस्फोट हो गया जो उसके रहस्यवादी आकांक्षाओं के साथ संयोग के कारण प्रारम्भ हुआ था। यह सत्रहवीं शताब्दी के समान इस आन्दोलन में एक क्रान्तिकारी शक्ति बन बैठा। अतः वैप्टिजम के अनेक पहलुओं और उसके बाद में प्रकट होने वाले रूपों में किसी भी अध्येता को रहस्यवादी शिक्षाओं में क्रान्तिकारी मोड़ों का उदाहरण मिलता है। प्रारम्भ में जो सामाजिक शक्तियाँ रहस्यवाद से किसी भी रूप में सम्बन्धित नहीं थीं उन्होंने रहस्यवादी शिक्षाओं से गृहीत नारों या घोषणाओं का प्रयोग किया, जैसा कि टामस मुंजो के उदाहरण में हुआ, और तब निश्चय ही रहस्यवादी प्रेरणा क्वेकरवाद के सामाजिक क्षेत्र में प्रविष्ट हो गई। रहस्यवादी पन्थों ने प्रचलित धर्म का केवल एक अंश ही अस्वीकार किया, उन्होंने अपने स्वयं के विचारों और आदर्शों का ही प्रतिपादन किया किन्तु उन्होंने उनको प्राचीनतर रूपों से यथासम्भव सम्बद्ध करने का प्रयास किया। उनकी भाषा और उद्घोषणाएँ जितनी ही अधिक सरल होती थीं, समाज के अपरिष्कृत अथवा अशिक्षित वर्गों को उनका उतना ही आकर्षण अधिक सशक्त होता था और इस प्रकार वे अधिकाधिक विद्रोही स्वभाव के होते जाते थे। वे उस प्रेरणा पर जोर देते थे जो जीवन देती थी किन्तु उसका विनाश करने वाले विषय पर वे अधिक जोर नहीं देते थे। किन्तु अधिकांश उदाहरणों में उनका प्रयास वस्तु को अथवा कलेवर की प्रेरणा का धारक स्थल मानकर उसकी रक्षा करने का प्रयास होता था। समाज के प्रति समझौता तथा धार्मिक-सामाजिक स्थापित व्यवस्था के प्रति आलोचना की मात्रा का कोई अन्त नहीं था। समाज में रहस्यवादी के समक्ष असमंजस की स्थिति ऐसी है जिसका कोई एक नहीं बल्कि अनन्त समाधान हो सकते हैं, किन्तु रहस्यवादी अपने दावे के शुद्ध विरोधाभास के कारण समाज को उसकी गहराइयों तक हिला डालने में कभी असफल नहीं रहा है। इस विचार-विमर्श को मैं ईसाई रहस्यवाद के एक इतिहासकार के इस कथन को उद्धृत कर समाप्त करूँगा—''जो लोग अचल की उद्घोषणा करने और उसको प्राप्त करने का प्रयास करते हैं उन्होंने अन्य सभी लोगों की तुलना में ऐतिहासिक आन्दोलन का निर्माण करने में अपना योगदान किया है।''

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आधुनिक भौतिक विज्ञान और प्राच्य रहस्यवाद

वसुन्धरा मिश्र

आधुनिक भौतिक विज्ञान की अवधारणा केवल तकनीकी तक ही सीमित नहीं है। वह अपने में विचारों और संस्कृति को भी समेटे हुए है और उसमें अखिल ब्रह्माण्ड की संकल्पना और उसके अन्तर्सम्बन्ध भी निहित हैं। भौतिक विज्ञान के परमाणविक पदार्थों और पदार्थ की पारम्पारिक अवधारणा में उसी प्रकार का अन्तर है जिस प्रकार अन्तरिक्ष, समय या कारण में, जिसके प्रभाव से सभी परिवर्तन सम्भव होते हैं। सभी विचारों में परिवर्तन सुनिश्चित हैं जिसके कारण सम्पूर्ण जगत की अवधारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक, दार्शनिक और चिन्तक पिछले कई दशकों से उस विषय पर विचार करते आए हैं। एक ओर भारतीय संस्कृति में बौद्ध एवं हिन्दू धर्म अपना केन्द्रीय स्थान रखते हैं, जो बौद्धिकता के परिचायक हैं और दूसरी ओर परमाणविक सिद्धान्तों के समानान्तर ज्ञानमार्गीय विषयों की समस्याओं का समाधान बुद्ध और लाओ त्जे जैसे चिन्तकों ने किया।

पूर्वी देशों की रहस्य की अवधारणा से हमारा तात्पर्य हिन्दू, बौद्ध और ताओ के धार्मिक दर्शन से ही है। आधुनिक भौतिक विज्ञान की तुलना न केवल हिन्दू वेदों से ही की जाती है, बल्कि चिंग या बौद्ध सूत्रों से भी की जाती है, साथ ही हरक्युलिस के अपूर्ण अंश अरबी के इब्न (Ibn) सूफियों और याक्वी (Yaqui) की शिक्षाओं में भी निहित हैं।

पूर्वी और पाश्चात्य रहस्यवाद की अवधारणा में भेद है। पश्चिमी रहस्यवादी भावना में सम्प्रदायों का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उसकी मुख्य धारा पूर्व के दार्शनिकों और धार्मिक विचारों से जुड़ी है। इसी के फलस्वरूप पश्चिमी विज्ञान में बहुत से मूल्यवान और तर्कपूर्ण प्रयोग हुए जो गणित के जटिल स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं।

ग्रीक संस्कृति के प्रारम्भिक समय (छठी शताब्दी ईसा पूर्व) में विज्ञान, दर्शन और धर्म तीनों के साथ-साथ भौतिक विज्ञान की जड़ें भी निहित थीं। उनका प्रमुख उद्देश्य था, अनिवार्य रूप से प्रकृति या फिजिक्स (Physics) की संरचना की खोज। फिजिक्स (Physics) मूलत: ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है प्रकृति की सभी वस्तुओं को उनके प्रकृत रूप में देखना।

मिलेशियन इसे हाइलोजोइत्स कहते हैं। वे पदार्थों को जीवित समझते हैं। बाद में ग्रीक लोगों ने जीव और अजीव, आत्मा और पदार्थ में कोई अन्तर नहीं माना। वस्तुत: उनके पास वस्तुओं को सम्बोधित करने हेतु कोई शब्द नहीं था क्योंकि सभी रूप (Physics) के अन्तर्गत आते थे जो उन्हें जीवन और अध्यात्म से जोड़ते थे।

थेल्स ने सभी वस्तुओं को ईश्वर से पूर्ण माना जबकि ऐनेक्सीमेण्डर ने ब्रह्माण्ड को अन्तराश्रित सम्पूर्ण रचना मानी जो वायु द्वारा चालित है और ब्रह्माण्डीय नि:श्वास (Cosmic

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

breath) के रूप में मनुष्य के शरीर की हवा में विद्यमान है। मिलेशिएन के अद्वैत और संघटक विषयक चिन्तन प्राच्य भारतीय और चीनी दर्शन से साम्य रखते हैं। हेराक्लीट्स और इफेसस के दर्शन भी पूर्वी विचारों के समानान्तर हैं। हेराक्लीट्स जगत के निरन्तर होने वाले परिवर्तन में विश्वास करता है। वह वायुमण्डलीय शास्त्र को भ्रामक मानता है और ब्रह्माण्ड की स्थिति अग्नि के आधार पर मानता है जो गति और परिवर्तन की प्रतीक हैं। हेराक्लीट्स जगत की उत्पत्ति का कारण गत्यात्मक और चाक्रिक की पारस्परिक क्रीड़ा को मानता है क्योंकि वह दो विरोधी युग्मों में एकता को देखता है। यही एकता विरोधी शक्तियों को मानवीय अनुभवों या तर्क से पृथक करती है, ऐसा उसका विचार है।

ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ग्रीक दार्शनिकों में परमेण्डीस और हेराक्लीट्स के चिन्तनों को लेकर गहरा मतभेद उत्पन्न हुआ था, जिसे पुनः एकत्रित किया गया। ग्रीक परमाणुवादियों ने आत्मा और वस्तु के मध्य एक विभाजक रेखा खींची। वस्तुओं को मकान बनाने हेतु ब्लॉक की तरह माना जो शुद्ध रूप से निष्क्रिय और तत्वतः मृत अणु की तरह शून्य में घूमते रहते हैं। उनकी गति का कारण परिभाषित नहीं था जबकि उन्हें बाह्य शक्तियों से जुड़ा माना गया और आध्यात्मिक उत्पत्ति और सैद्धान्तिक दृष्टि से अलग रखा गया। पाश्चात्य चिन्तन मस्तिष्क और पदार्थ, शरीर और आत्मा के अनिवार्य तत्वों से सम्बन्धित है। आत्मा और पदार्थ में मतभेद होने के कारण दार्शनिकों का ध्यान आध्यात्मिक जगत की ओर आकर्षित हुआ, भौतिकवाद की अपेक्षा मनुष्य आत्मा और नीतिविषयक समस्याओं के प्रति-सजग हुआ। करीब दो हजार वर्षों तक पाश्चात्य चिन्तन इन प्रश्नों से प्रभावित रहा। पाँचवीं और चौथी शताब्दी ईसा पूर्व का ग्रीक विज्ञान और संस्कृति का स्तर अपनी पराकाष्ठा पर था।

प्राचीन काल में वैज्ञानिक एरिस्टोटल ने ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित अपने व्यवस्थित और संगठित विचारों से यह माना कि भौतिकवादी जगत की खोज उतनी आवश्यक नहीं है जितनी मनुष्य की आत्मा और ईश्वर के चिन्तन की। उसका यह मत बिना किसी मतभेद के बना रहा। इसका कारण यही रहा कि उस समय भौतिक जगत के प्रति रुचि कम थी क्योंकि क्रिश्चियन चर्च का प्रभाव अधिक था जिससे पूरे मध्यकाल में एरिस्टोटल के मत के प्रति विश्वास की भावना थी।

एरिस्टोटल और चर्च के प्रभाव के कारण प्रकृति के प्रति रुचि बनी रही जो पन्द्रह शताब्दियों तक पाश्चात्य विज्ञान को प्रभावित करती रही। गैलिलियो पहला वैज्ञानिक था जिसने इन्द्रियानुभूत ज्ञान को गणित से जोड़ा जो नवजागरण काल में आधुनिक विज्ञान में परिलक्षित होता है।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्ड को यान्त्रिक न्यूटॉनिक मॉडल के रूप में माना जिसमें ईश्वर की मूर्ति सम्राट के रूप में मानी गयी और जिसके दैविक नियमों के अनुरूप यह जगत गतिशील था। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के सैद्धान्तिक नियमों का अन्वेषण किया जहाँ ईश्वरीय नियम परिवर्तनशून्य और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आन्तरिक थे जिससे जगत की पहचान थी। जीस कारटेस का यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—I think, therefore I exist मैं चिन्तन करता हूँ, इसीलिए मेरा अस्तित्व है। बहुत से व्यक्ति अपने शरीर से 'अहम्' को पृथक करते हैं। मस्तिष्क को शरीर से पृथक कर उसे निरर्थक कार्यों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। जहाँ चेतन इच्छा और अनैच्छिक रूप से सहज वृत्ति में संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है जो प्रत्येक व्यक्ति में कई संख्याओं में विभाजित होती रहती है। यह प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग बुद्धि, भावना और विश्वास पर निर्भर करती है। यह न समाप्त होने वाला संघर्ष साथ-साथ पारभौतिक भ्रान्ति और नैराश्य को भी निरन्तर बढ़ाने वाला होता है।

व्यक्ति के विचारों का खण्डीकरण जगत का बाह्य पक्ष है, उसका आन्तरिक पक्ष दर्पण की तरह अलग-अलग वस्तुओं और घटनाओं को दर्शाता है। खण्डों में बँटे यही विचार बाद में समाज, राष्ट्र, जाति, धर्म और राजनीतिक समूहों में बँट जाते हैं। माना जाता है कि ये सभी टुकड़े हमारे स्वयं में, वातावरण में, समाज में बँटे हैं जिन्हें पृथक कर देखा जा सकता है। यही नहीं, सामाजिक परिस्थिति, विज्ञान और संस्कृति के संकट काल के अनिवार्य कारणों को भी देखा जा सकता है जो प्रकृति और उसके अनुयायी मनुष्यों से सम्बद्ध हैं। यह प्राकृतिक सम्पदाओं का पूर्णतः न्यायविरुद्ध बँटवारा है जो आर्थिक और राजनीतिक अव्यवस्था और हिंसा को बढ़ाता है। दोनों ही स्वतः प्रवृत्त और संस्थाबद्ध कुरूप, गन्दे वातावरण से युक्त होते हैं जो जीवन को भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार से रुग्ण करते हैं।

पाश्चात्य चिन्तन की अपेक्षा पूर्वी जगत का चिन्तन संगठित माना जाता है। पूर्वी चिन्तन सभी वस्तुओं और घटनाओं को इन्द्रियों से जुड़ा हुआ मानते हैं, लेकिन विभिन्न धरातलों या प्रत्यक्षीकरण के स्तर पर अलग भी हो सकता है। हम प्रत्यक्षदर्शी हो जगत से वस्तुओं को अलग करते हैं और स्वयं को अहं से पृथक् कर संसार के प्रकाश को देखते हैं जो हमारी मानसिकता के आधार पर वर्गीकृत और मापे जा सकते हैं। इसी को अविद्या या अज्ञान की संज्ञा दी गयी। बौद्ध दर्शन इसे निराश मस्तिष्क की अवस्था के बाद की स्थिति मानता है। मस्तिष्क के अधिक चिन्तन से विभिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, लेकिन जब मस्तिष्क शान्त रहता है तब वस्तुओं की बहुल उत्पत्ति समाप्त हो जाती है।

पूर्वी चिन्तनों में बहुत से ऐसे सम्प्रदाय हैं जो अपने आपमें बहुत विशाल हैं और वे सभी ब्रह्माण्ड की मूल एकता को व्यक्त करते हैं। इनकी शिक्षा का केन्द्रीय लक्षण उच्च है, चाहे वे हिन्दू, बौद्ध और ताओ कोई भी क्यों न हों, सभी में वस्तुओं की परस्पर सम्बद्धता और व्यक्ति के मानवीय अनुभवों या तर्कों से परे का अनुमान अवश्य मिलता है। इससे बोध की अनुभूति होती है जो व्यक्ति को धार्मिक बनाती है। इसी कारण पूर्वी दर्शन में धार्मिक दर्शन की अधिकता है।

गति और परिवर्तन वस्तुओं के अनिवार्य गुण हैं। गति में जो बल लगता है वह पदार्थ के बाहर नहीं लगता। ग्रीकशास्त्रीय चिन्तन में भी पदार्थों को उसकी आन्तरिक प्रकृति के कारण माना जाता है। पूर्वी परिकल्पना के अनुसार दैवी शक्ति ऊपर से जगत पर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शासन करती है लेकिन सैद्धान्तिक रूप से वह प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही नियन्त्रित करती है। इस प्रकार पूर्वी चिन्तन से आधुनिक भौतिक विज्ञान दृष्टिगोचर होता है। पूर्वी चिन्तन का रहस्यात्मक चिन्तन समकालीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उसके अनुरूप और प्रासंगिक है जिसमें जगत की परिकल्पना और मनुष्य की वैज्ञानिक खोजें एक निश्चित समरसता लिए होती हैं, उसमें आध्यात्मिक उद्देश्य और धार्मिक विश्वास रहता है। इस चिन्तन के दो मूल आधार माने जा सकते हैं—एकता और सभी की परस्परता, जो वस्तुत: जगत के गति विज्ञान के गुण हैं। इसके पश्चात हम अतिसूक्ष्म जगत में अधिक गहराई से प्रवेश करते हैं। आधुनिक विज्ञान पूर्वी रहस्यवाद के साथ जुड़ी हुई संसार की एक व्यवस्था है जो आपस में क्रियान्वित है। मनुष्य उसी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है जिसका अस्तित्व सदैव गतिशील है।

पाश्चात्य संस्कृति जो अभी तक यान्त्रिक है उसके कारण संसार के खण्ड-खण्ड होने की चिन्ता है। लोगों की बढ़ती जनसंख्या से समाज असन्तुष्ट हो रहा है और पश्चिमी समाज पूर्वी रहस्यवाद की अवधारणा के प्रति आकर्षित हो रहा है। जो आइ-चिंग (I Ching) और योग का अभ्यास करते हैं या अन्य पद्धतियों से ध्यान करते हैं उन्हें विज्ञान के विरुद्ध माना जाता है। विशेषकर भौतिक विज्ञान जिसे इस विषय में अकल्पनीय और संकीर्ण मानता है, जो आधुनिक तकनीकी में निहित प्रदूषण के लिए भी जिम्मेदार है।

आधुनिक भौतिकी विज्ञान तकनीकी से परे है। यह ताओ के भौतिकी विज्ञान का वह पथ है जो हृदय से होकर जाता है, यह आध्यात्मिक ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार है।

प्राच्य रहस्यवाद और भौतिक विज्ञान

हिन्दू, बौद्ध और ताओ दर्शनों में अगणित आध्यात्मिक नियम और उनकी दार्शनिक व्यवस्था है। परन्तु संसार के प्रति उनके अनिवार्य तत्त्व एक से हैं। ये विचार केवल पूर्वी दर्शनों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि रहस्य से पूर्ण सभी दर्शनों में कुछ सीमा तक मिलते हैं। रहस्यात्मक परम्परा सभी धर्मों में मिलती है और पाश्चात्य दर्शन के कई सम्प्रदायों में भी रहस्य तत्त्व मिलते हैं। आधुनिक भौतिकशास्त्र के समानान्तर न केवल हिन्दू वेदों में, आइचिंग में या बौद्ध सूत्रों में ही मिलते हैं, बल्कि इब्न अरबी (Ibn Arabi) के सूफी सम्प्रदाय या डॉनजुआन (Don Juan) के सोर्सरर (Sorcerer) के याक्वी (Yaqui) की शिक्षाओं में भी मिलते हैं। पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवाद के मध्य भिन्नता का कारण यह है कि रहस्यात्मक सम्प्रदायों का सदैव से ही पश्चिम में एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है जहाँ वे पूर्वी दर्शन और धार्मिक चिन्तन के प्रमुख स्रोत के रूप में रहे हैं।

साधारण जीवन में हम इनकी एकता को नहीं जानते और संसार को पदार्थ और घटनाओं में विभक्त करते हैं। यह विभाजन भी प्रत्येक वातावरण में आवश्यक और लाभप्रद है लेकिन सत्यत: यह मौलिक रूपरेखा नहीं है। पदार्थ और घटना को प्रकृति का सत्य मानना नितान्त भ्रम है। हिन्दू और बौद्ध धर्म इसी भ्रम को अविद्या कहते हैं, यही अज्ञानता है, बुद्धि पर माया का आवरण है। पूर्वी रहस्यवाद में ध्यान द्वारा मस्तिष्क को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

केन्द्रित और शान्त कर उद्देश्य को पूर्ण किया जाता है। संस्कृत में समाधि का अर्थ 'मानसिक सन्तुलन' है जो मस्तिष्क की चेतना को ब्रह्माण्ड से जोड़ता है। आधुनिक भौतिकशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण दैवीय ज्ञान है। यह परमाणु के स्तर पर और पदार्थों के अतिसूक्ष्म आणविक अंशों में अभिव्यक्त हो, द्रष्टव्य होता है।

पारमाणविक भौतिक विज्ञान जो प्रकृति को दो उक्तियों के माध्यम से प्रकट करता है जिससे प्रकृति का रहस्यात्मक वर्णन मिलता है। प्रथम मौलिक अंशों में स्वतन्त्र रूप से उनके अनुपात की सत्ता नहीं रहती है, इसके सार अंश में सम्बन्धों का समूह होता है, जो बाहर से दूसरी वस्तुओं तक पहुँचता है।[1] संसार जटिल घटनाओं की कोशिकाएँ हैं जिनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार से एक के बाद एक या एक के ऊपर एक या जुड़ कर रहता है, पूरे बुने हुए से किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही जुड़ा रहता है।[2] सभी कार्य समय पर होते हैं, जो आपस में बुने हुए, प्रकृति के स्वभाव के अनुरूप होते हैं लेकिन स्वार्थवश मनुष्य अपना विवेक खो देता है और स्वयं को ही करनेवाला समझता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

यही अहं है जो उस ब्रह्म से मिला हुआ है। हिन्दू दर्शन इसको मोक्ष या स्वतन्त्र होना कहता है।

द्वितीय ब्रह्माण्डीय जाल जिससे आधुनिक पारमाणविक भौतिक विज्ञान का अन्तर्सम्बन्ध है। यह पूर्व से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है जो प्रकृति के रहस्यात्मक अनुभवों को संचारित करता है। जिसने आकाश, पृथ्वी और वातावरण को बुना है और वायु जिससे जीवन की साँस जुड़ी है परन्तु आत्मा अकेले उसी एक रूप में जानी जाती है।[3]

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमान्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ 5॥

बौद्ध धर्म में ब्रह्माण्डीय जाल एक महत्वपूर्ण क्रिया करता है। महायान बौद्ध धर्म के अन्तर्भाग अवतंसक सूत्र में वर्णित है कि संसार आपसी सम्बन्धों का जाल है जहाँ पदार्थ और घटनाएँ एक-दूसरे से अनन्त जटिल अन्तर्क्रियाओं में रत रहते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान के जाल-दर्शन (Web Philosophy) का बौद्ध धर्म के महायान का कई पक्षों से सम्बन्ध है। तान्त्रिक बौद्ध धर्म में ब्रह्माण्डीय जाल का केन्द्रीय स्थान है। यह महायान की एक शाखा है जो भारत में तीसरी शताब्दी के आस-पास विकसित हुई जो तिब्बत में आज भी विद्यमान है। इस सम्प्रदाय का नाम तन्त्र है जिसका संस्कृत में अर्थ है बुनना जो आन्तरिक बुनावट और अन्तर्आधार के रूप में सभी पदार्थों और घटनाओं में मिलता है।

पूर्वी रहस्यवाद में इस ब्रह्माण्ड की बुनावट सदैव ही मनुष्य के निरीक्षण और उसकी चेतना के साथ मिली होती है। परमाणु स्तर पर यह वस्तु की निर्मिति और अनुपात के अन्तर्सम्बन्ध पर निर्भर है। अनुपात वह अन्तर्क्रिया है जो हमारी चेतना में संवेदना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उत्पन्न करती है। यह संवेदना प्रकाश की चमक की तरह होती है जो फोटो की प्लेट पर गहरे दाग के समान दिखाई पड़ती है। परमाणविक भौतिक विज्ञान के नियम के अनुसार पदार्थ की योग्यता के अनुसार यदि उसके साथ अन्तर्क्रिया करे तो वह निश्चित ही संवेदना को ऊँचा करेगी। हेसेनबर्ग ने इसे प्राकृतिक विज्ञान कहा, यह प्रकृति को परिभाषित करता है, यह प्रकृति और हमारे बीच का खेल है।

आधुनिक भौतिक विज्ञान में निरीक्षण के स्थान पर सम्मिलित होकर रहस्यवाद को अच्छी तरह जाना जाता है। रहस्यात्मक ज्ञान केवल निरीक्षण से नहीं जाना जाता है बल्कि पूर्ण साथ देने पर ही होता है। इसे ही संक्षेप में बौद्ध धर्म के गुरु अंगारिक गोविन्द ने इस प्रकार कहा[4]—बौद्ध धर्म आत्मनिर्भर या पृथक रूप से बाह्य जगत के प्रति विश्वास नहीं करते जबकि उनकी गत्यात्मक शक्ति उनके अन्दर ही निहित है। बाह्य संसार और उसके अन्दर की दुनिया केवल एक वस्त्र के दो भाग की तरह हैं। जो अन्तहीन जाल की तरह परस्पर कुछ शर्तों में बँधे रहते हैं। सभी कर्म के द्वारा बँधे हैं। कर्म के बन्धन से अलग होने का अर्थ ही है व्यक्ति और प्रकृति की एकता को समझना। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि कर्म सृजन की शक्ति है जहाँ से सभी वस्तुएँ अपना जीवन प्राप्त करती हैं—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ 3.15॥

लाओ त्जे (Lao Tze) कहते हैं जब सम्पूर्ण संसार सुन्दर को सुन्दर समझता है, तब असुन्दर का अस्तित्व होता है और जब सम्पूर्ण संसार अच्छाई को समझता है तो अच्छाई होती है, तब बुराई का अस्तित्व होता है।[5]

रहस्य तर्क से परे के प्रान्त की परिकल्पना है। इसी कारण सम्बन्धों और ध्रुवों के विरोधी पक्षों को तर्क से परे माना गया है। अच्छा और बुरा, प्रसन्नता और पीड़ा, जीवन और मृत्यु ये विभिन्न वर्गों के अनुभवों से पूर्ण रूप से सम्बन्ध नहीं रखते लेकिन वास्तविकता के दोनों पक्ष कुछ अर्थों में एक हैं और एक सम्पूर्ण भाग के अति भाग हैं। अतः सभी विरोधी ध्रुव हैं लेकिन उनमें ऐक्य है।

प्राच्य आध्यात्मिक परम्परा का उद्देश्य उच्च रहा है। भगवद्गीता में कृष्ण समझाते हैं—पृथ्वी के दो विरोधी ध्रुवों से परे तुम अपने अन्दर के सत्य को पहचानो। बौद्ध धर्म पूर्णरूपेण प्राच्य रहस्यवाद से प्रभावित है। इसके अनुसार बौद्धिकता और संवेदनात्मकता दोनों की विशिष्टता को कलुषित करता है और जो आध्यात्मिक संसार को अपृथक् समझता है वह विचारों के निश्चित और सत्य बिन्दुओं को प्राप्त करता है। बौद्ध धर्म में पूर्वी रहस्यवाद के पूरे तथ्य हैं जो अचिन्त्य या अविचार हैं जहाँ सभी विरोधी एकता एक विस्तृत अनुभव में बदल जाते हैं।

चीनी यिन और येंग (Yin and Yang) विरोधी ध्रुवों के प्रतीक हैं। वे उनमें एकता के दर्शन करते हैं। ये भारतीय अर्धनारीश्वर के ही पर्याय हैं। जहाँ अँधेरा है वहीं प्रकाश प्रकट होता है, वही ताओ है।[6] चीनी सन्त और येंग के गत्यात्मक अन्तर्क्रिया के अन्तर्गत प्राकृतिक नियमों का सार और सभी मनुष्यों की स्थितियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। 1937 में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नील्स बोर (Niels Bohr) चीन गया था और तब तक क्वांटम सिद्धान्त पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था जो पूर्वी संस्कृति से विशेष प्रभावित था।

अन्तरिक्ष और काल (Space and Time)

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के अनुसार ईश्वर एक ज्यामितिज्ञ है। रेखागणित तर्क और सौन्दर्य का मेल है और इसी से दैवीय उत्पत्ति होती है।[7] ऐसा विश्वास है कि पूर्वी रहस्यवाद दूसरी अन्य बौद्धिक परिकल्पनाओं की तरह ही व्यवहृत किया जाता है—सम्बन्धित, सीमित और भ्रमित। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध यही शिक्षा देते हैं—हे भिक्षु! अतीत, भविष्य और भौतिक अन्तरिक्ष और व्यक्ति कुछ भी नहीं है, केवल नाम है, विचारों के रूप हैं, साधारण प्रयोगों के लिए शब्द है इसमें बाह्य वास्तविकता अधिक नहीं है।[8]

आइन्स्टाइन सिद्धान्त ने अन्तरिक्ष और काल की स्थिति को भौतिक सत्य के रूप में अलग से स्थापित किया। प्रत्येक गति सापेक्ष होती है, सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार अन्तरिक्ष और काल दोनों मिलकर भाषा तत्त्वों के विषय में निरीक्षण कर उसके वातावरण को वर्णित करते हैं।[9] आज इस सापेक्षवाद के सिद्धान्त में भी आधुनिक भौतिक विज्ञान में परिवर्धन हुए हैं और जो भी नयी गवेषणाएँ सामने आयी हैं उन्हें वैज्ञानिक रहस्यवाद कहा गया।

पूर्वी रहस्यवाद में अन्तरिक्ष काल की गहरी अन्तर्दृष्टि है। बौद्ध धर्म के 'अवतंसक सूत्र' के अन्तर्गत डी०टी० सुजुकी के शब्दों में मस्तिष्क और शरीर, विषय और वस्तु में अधिक अन्तर नहीं है, प्रत्येक वस्तु दूसरे प्रत्येक वस्तु से न केवल शून्य विस्तार के अनुसार बल्कि अस्थाई रूप से सम्बन्धित होती है। सत्य तथ्यों के आधार पर अन्तरिक्ष के बिना काल नहीं है, बिना काल के अन्तरिक्ष नहीं है। वे अन्तर्भेदी होते हैं।[10]

स्थूल में गुरुत्व का प्रभाव अन्तरिक्ष पर पड़ता है और काल बहुत ही छोटा बिलकुल ही निरर्थक और शून्य के समान होता है लेकिन खगोल भौतिकी में सूक्ष्म शरीरों, जैसे ग्रह, तारे और गेलेक्सी का बाहुल्य होता है। उसमें अन्तरिक्ष काल का घुमाव या वक्रता एक महत्वपूर्ण घटना होती है। खगोल भौतिकी के अनुसार प्रत्येक तारा उत्कर्षण द्वारा एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है जहाँ परस्पर गुरुत्वाकर्षण द्वारा उसके अंश टूट कर गिर जाते हैं, जितना अधिक वह टूटेगा उसी के अनुसार अन्तरिक्ष और काल भी उतने ही वक्र हो जाते हैं। तब तारे उस अवस्था में पहुँचते हैं जहाँ प्रकाश भी नहीं है जहाँ वह धरातल से छुटकारा पा सकते हैं। तब तारों के चारों ओर इवेन्ट हॉरीजन (Event Horizon) का रूप निर्मित हो जाता है, ऐसे तारे का प्रकाश हम तक कभी भी नहीं पहुँचता, इसी कारण उसे ब्लैक होल कहते हैं। इसको आधुनिक खगोल विज्ञान बहुत दुख:दायी और हृदयग्राही वस्तु मानते हैं। तारे का इस तरह इवेन्ट हॉरीजन (Event Horizon) के परे टूटना बहुत ही साधारण है परन्तु काल का यह प्रवाह अनुक्रम में रहता है, बस, वह कितना निश्चित रहता है, कितना अनिश्चित, यही प्रश्न है। सापेक्षवाद सिद्धान्त इस जगत् के प्रश्नों से कोई अर्थ नहीं रखता परन्तु अन्तरिक्ष और काल की पूरी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संरचना पदार्थ के विभक्तीकरण से जुड़ी हुई है। अलग-अलग अंशों पर अन्तरिक्ष वक्र है और काल ब्रह्माण्ड में अलग-अलग भागों में गतिमान है। तीन आयाम वाले ज्यामितीय अन्तरिक्ष और काल हमारे साधारण अनुभवों से परे हैं।

पूर्वी रहस्यवादी तीन आयामों से पूर्ण अन्तरिक्ष से परे की कल्पना करते हैं। डी०टी० सुजुकी के अनुसार आध्यात्मिक जगत में काल भूत, वर्तमान और भविष्य में नहीं विभक्त हैं, वे वर्तमान के एक क्षण से बँधे हैं जहाँ जीवन ज्ञानेन्द्रियों के सत्य रूप का स्पन्दन-मात्र है। भूत और भविष्य, प्रकाश और उजियाले के इन्हीं क्षणों में लिपटे रहते हैं और वर्तमान क्षण भी स्थिर नहीं है वह भी अनवरत गतिशील है।[11] स्वामी विवेकानन्द के अनुसार काल, अन्तरिक्ष और कारणत्व एक काँच की तरह है जिसके आर-पार पूर्ण रूप से देखा जा सकता है—उस परिशुद्धता में न तो काल है, न अन्तरिक्ष है और न ही कारणत्व। पूर्वी रहस्यवाद को काल से स्वतन्त्र होना कह सकते हैं जो सापेक्षतावादी भौतिकी से समानता रखती है।

गतिशील जगत

पूर्वी रहस्यवाद का केन्द्रीय उद्देश्य है ब्रह्माण्ड की वास्तविकता को समझना जिसे हम वस्तुओं और घटनाओं के निरीक्षण द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दू उसे ही ब्रह्म, बौद्ध धर्मकाय और तथता (Suchness) और ताओवादी ताओ कहते हैं। महायानी बौद्ध धर्म के केयॉन (Keyon) सम्प्रदाय के विषय में डी०टी०. सुजुकी कहते हैं—केयॉन का केन्द्रीय चिन्तन ब्रह्माण्ड का गतिविज्ञान है। यह मत प्रतिपादित करता है कि मन या पदार्थ के बल द्वारा ही शक्तियों में क्रिया की उपज होती है जिसके अनुसार ग्रहण करने और सदैव चलने की शैली से जीवन का विकास होता है।[12]

गति, प्रवाह और परिवर्तन पूर्वी रहस्यवाद की ही परम्परा नहीं है, संसार के सभी रहस्य चिन्तकों ने सभी युगों में इसको आवश्यक माना है। प्राचीन ग्रीक विद्वान हेराक्लीट्स ने कहा कि प्रत्येक वस्तु बहती है और इसकी तुलना सदैव जीवित रहनेवाली आग से की। मैक्सिकन याक्वी रहस्य के डॉन जुआन ने इसे Fleeting world कहा और मनुष्य के लिए ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रकाश और तरल पदार्थ को आवश्यक समझा।[13]

हिन्दू और बौद्धों ने 'ब्रह्म' का प्रयोग किया है जो संस्कृत के बृह अर्थात उगने (Brish) से है जो गतिशीलता और जीवन्तता का अर्थ रखती है। एस० राधाकृष्णन् के शब्दों में ब्रह्म का अर्थ बढ़ने और उगने से है जो जीवन की गति और उन्नति का प्रतीक है।[14]

ऋग्वेद श्लोक में 'ऋत्' शब्द ब्रह्माण्ड की गतिवादी प्रकृति को स्पष्ट करता है। ऋ का अर्थ है चलना, सभी वस्तुओं का विषय प्रकृति के नियमों के अनुसार है। वेद से सभी वैदिक देवता जुड़े हैं। वैदिक मन्त्र प्रकृति के नियम धारण करते हैं। वैदिक नियम स्थिर नहीं बल्कि गतिशील ब्रह्माण्ड के सिद्धान्त हैं।

चीनी सन्त संसार को प्रवाह और परिवर्तन शब्दों से व्यक्त करते हैं। ब्रह्माण्डीय नियमों के मत गत्यात्मकता के संकेत को आवश्यक मानते हैं। ऋत् और ताओ ब्रह्माण्डीय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्तर से मनुष्य के स्तर को जोड़ते हैं और नैतिक मूल्यों को स्थान देते हैं। ऋत् ब्रह्माण्ड का नियम है जिसमें देवता और मनुष्य दोनों की आज्ञा को माना जाता है और वहीं ताओ जीवन का सही पथ कहलाता है।

वैदिक परिकल्पना में ऋत् का अर्थ 'कर्म' से था जो बाद में 'क्रिया' या 'गति' से सम्बन्धित सिद्धान्त बना। भगवद्गीता में कहा गया है, प्रकृति में परस्पर बुनी हुई अपनी शक्ति से सभी क्रियाएँ समय से अपना कार्य करती हैं। कर्म कभी न खत्म होने वाले मनुष्य-जीवन के कारण और प्रभाव की कड़ी है। बुद्ध ने इसे ही तोड़ा। कृष्ण गीता में कहते हैं यदि मैं कर्म से नहीं बँधूँगा तो संसार विलुप्त हो जाएगा। ब्रह्माण्ड गतिशीलता का सबसे अधिक मानवीकरण रूप शिव का है जो ब्रह्माण्डीय नर्तक है जो नृत्य, लय और ब्रह्माण्ड की गति का प्रतीक है।[15]

हिन्दू धर्म ब्रह्माण्ड का एक बढ़ता हुआ संगठन लयात्मक गतिशील विश्व-व्यवस्था (Cosmos) हैं जिसमें सभी वस्तुएँ द्रवीय रूप में और सतत परिवर्तनशील हैं और सभी अचल रूप माया के हैं जो भ्रमात्मक परिकल्पना है। इस विचार से सभी रूप अचल स्थिति में मिलते हैं, यही बौद्ध धर्म का आरम्भिक बिन्दु है। बुद्ध शिक्षा के अनुसार सभी यौगिक वस्तुएँ अस्थायी हैं और संसार में उत्पन्न होती हैं। यह बात सत्य है कि संसार गतिशील और परिवर्तनशील है।

राधाकृष्णन् के शब्दों में बुद्ध ने 2500 साल पहले गतिवाद के ही अद्भुत दर्शन को क्रमबद्ध किया था। बुद्ध की शिक्षा परिवर्तन का दर्शन है। उन्होंने पदार्थ, आत्मा, इकाई, वस्तुओं का बल, गति, क्रम, नियम मानने में कमी की और वास्तव में गतिशीलता की परिकल्पना को प्रदत्त किया।[16] बौद्ध धर्म में बोधि या ज्ञान वह है जो जीवन के प्रवाह में बाधा नहीं देते बल्कि उनके साथ गतिशील रहते हैं। जब संत चान यूँ मेन (Chan Yun-Men) से पूछा गया कि ताओ क्या है? उसने सरलता से उत्तर दिया 'चलते रहो'। बुद्ध को तथागत भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है जो आता है और इसी प्रकार जाता है।

चीनी दर्शन प्रवाहशील और सतत परिवर्तन को ताओ कहता है। इसमें ब्रह्माण्डीय नियम, जिसमें वस्तुएँ जुड़ी देखी जा सकती हैं। बौद्धों के समान ही ताओ भी प्रवाह के साथ कोई बाधा नहीं मानते और किसी न किसी अन्य क्रिया को प्रदत्त करते हैं।

ब्रह्माण्डीय जाल जीवन्त है, गतिशील है, बढ़ता है, निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान ब्रह्माण्डीय सम्बन्धों के जाल को उसी प्रकार धारण करता है जैसे पूर्वी रहस्यवाद इस जाल को गतिशील मानता है। वस्तुतः यह जाल गतिशील है। क्वांटम सिद्धान्त पदार्थों के गतिशील दृष्टिकोण हैं, उपपरमाणविक अंशों की तरंग-प्रकृति के परिणामस्वरूप सापेक्षवाद का सिद्धान्त और भी आवश्यक है।

हिन्दू सन्त इस लयात्मक दैवीय क्रीड़ा को व्यक्त करने से नहीं डरते थे। ब्रह्माण्ड के परिक्रम काल को कल्प नाम दिया जो अकल्पनीय काल का विस्तार था, जो आदि और सृजन के अन्त के बीच का समय था।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वर्तमान में हम लगभग दो सौ अणुओं के विषय में जानते हैं जो घर्षण पद्धति द्वारा कृत्रिम रूप से निर्मित किए जाते हैं और बहुत ही अल्प समय करोड़ के सेकेंड समय तक ही अवधि तक रहते हैं। इस अल्पजीवित अणुओं की गति क्षणभंगुर नियम को प्रदर्शित करती है। इनका आकार-प्रकार, लक्षण क्या है, क्या ये संघटक हैं और यदि हैं तो किन-किन से बनते हैं और किन पद्धतियों से जुड़े हैं, एक-दूसरे से कैसे अन्तर्क्रिया करते हैं, इनमें कौन-सी शक्ति है, इन अणुओं में किस प्रकार की विधि कार्य करती है आदि प्रश्न उठते हैं। ये पूर्वी रहस्यवाद के साथ किस तरह दार्शनिक स्तर पर जुड़ते हैं इसका विवेचन महत्वपूर्ण बिन्दुओं द्वारा उद्घाटित किया जा सकता है।

रिक्तता और आकार—आधुनिक भौतिकी विज्ञान साक्षात प्रदर्शन में विश्वास करता है, वस्तु के तत्त्व पृथक नहीं किए जा सकते, वे वातावरण के साथ अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं। उनके गुण जगत की अन्तर्क्रिया द्वारा समझे जा सकते हैं। वातावरण के साथ भौतिक वस्तु का एकात्म और अन्तर्सम्बन्ध, 'सम्बन्धों के सिद्धान्त', दूरस्थ पदार्थों के पैमाने पर जुड़ा होता है जो अधिपरमाणु पर अधिक प्रहार करता है। यह आइंसटाइन का 'गुरुत्व सिद्धान्त' क्वांटम सिद्धान्त के विद्युतीय गतिवाद से सम्बन्धित है जिसे क्वांटम विद्युतीय गतिवाद कहते हैं जो आणविक अंशों के बीच वैद्युतिक चुम्बकीय अन्तर्क्रिया को वर्णित करता है। यही सिद्धान्त क्वांटम सिद्धान्त और सापेक्षवाद सिद्धान्त दोनों को जोड़ता है।

पूर्वी चिन्तन सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं से वास्तविकता को परे मानता है और उसे अरूप, रिक्त या शून्य मानता है लेकिन इस रिक्तता का कोई अर्थ नहीं है, यह सभी रूपों और स्रोतों का सार जीवन है तभी तो उपनिषद् कहता है—ब्रह्म जीवन है, आनन्द है, शून्य है। आनन्द का ही रूप शून्य है, शून्य ही आनन्द के समान है।[17]

बौद्ध इसे रिक्त, खाली या शून्य कहते हैं और इसी शून्य द्वारा सभी जीवित रूपों का जन्म इस जगत में होता है। ताओ इसी तरह के अनिश्चित और अन्तहीन सृजन को ताओ कहते हैं। इसे ही रिक्त कहते हैं। क्वान-जू इसे 'ताओ का स्वर्ग' कहते हैं—जो रिक्त और रूपहीन है।[18]

यह रहस्यात्मक शून्य सभी परमाणविक अणुओं की तरह अचल और स्थायी नहीं है। ये गतिशील और क्षणभंगुर हैं, निरन्तर नृत्यशील हैं, जो लोप भी होते रहते हैं। इसी को भौतिक विज्ञान पदार्थों का भ्रम कहता है, जो गतिशील अणुओं द्वारा होता है।

चीनी दर्शन इस रिक्तता और रूपहीनता को कई रूपों में व्यक्त करता है जैसे 'ची' (Chi) की परिकल्पना द्वारा इसका नवकन्फ्युशियसवाद में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। कन्फ्युशियसवाद बौद्ध और ताओ का मिलाजुला रूप है। 'ची' का शाब्दिक अर्थ है गैस या ईथर। प्राचीन चीनी इसका उपयोग ब्रह्म, लम्बी श्वास या ऊर्जा के लिए करते थे। पारम्परिक चीनी दवा का आधार और साथ ही पारम्परिक ताओ नृत्य में भी इसका उपयोग होता है। 'ची' घनीभूत और बिखरा हुआ लयात्मक रूप है जिसमें शून्यता घुली हुई है। चैंग शाई (Chang Tṣai) कहता है, ची महाशून्य नहीं है लेकिन 'ची' भी नहीं है, सभी वस्तुओं का घना रूप है और ये वस्तुएँ नहीं हैं, लेकिन फिर भी महाशून्य में इसके रूप बिखर जाते हैं।[19]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'ची' तरंगों की तरह या कम्पित रूपों में होती है और ब्रह्म सभी स्तरों पर एक के बाद एक कम्पन लिए होते हैं। मूलतः इसमें दो बल कार्य करते हैं—यिन और येंग। अतः वैयक्तिक वस्तुओं में उनका सहज लय रहता है जिससे वे एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसी रूप का कारण जगत के साथ एकात्मकता है।[20] चार्ल्स ब्राक्स ने मस्तिष्क से निकली ऊर्जा में सम्पूर्ण विश्व को नियन्त्रित करने की शक्ति मानी है। वे कहते हैं—People who live in their heads always thinking and scheming show a great deal of Psychic energy in the area of the forehead. Actually, the energy often extends out in front of the brow as the forces of the interlace reach out to control the world.[21] एक स्थान पर बौद्धिक ज्ञान और अन्तर्ज्ञान को एक-दूसरे का पूरक बताया है—Intellect and intuition complement each other.[22]

ब्रह्माण्डीय नृत्य (Cosmic Dance)—पूर्वी रहस्यवाद का जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के साथ गत्यात्मक सम्बन्ध है उसी प्रकार आधुनिक भौतिक विज्ञान से भी है जिसे वह अन्तर्ज्ञानीय स्वभाव के कारण नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित करते हैं। 'टिबेटन जर्नी' में ऐलेक्जेंडर डेविड नील को लामा स्वयं का परिचय 'ध्वनि का गुरु' कहकर देता है। उसके विचार में सभी वस्तुएँ परमाणुओं का संग्रह हैं जो नृत्य करती रहती हैं और उनकी गति से ध्वनि उत्पन्न होती है। जब नृत्य लय में परिवर्तित होता है तो उत्पन्न ध्वनि भी परिवर्तित होती है। प्रत्येक परमाणु शाश्वत गतिरत है और प्रत्येक क्षण ध्वनि घनीभूत हो सृजन करती है और रूप बदलती रहती है।[23] फील्ड सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अणु निरन्तर अपना गीत गा रहा है और लयात्मक प्रकार से ऊर्जा उत्पन्न कर रहा है।

हिन्दू मान्यता में ब्रह्माण्डीय नृत्य भगवान् शिव की नृत्य मुद्रा के रूपकालंकार में मिलता है। शिव एक प्राचीन वैदिक ईश्वर हैं और नर्तकों के राजा के रूप में जाने जाते हैं। हिन्दू विश्वास के अनुसार सम्पूर्ण जीवन पद्धति लयात्मक है जिसमें सृजन और संहार, मृत्यु और पुनर्जन्म है, शिव-नृत्य ही जीवन-मृत्यु के आन्तरिक लय की गति का प्रतीक है जो अन्तहीन चक्र है। आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में ब्रह्मरात्रि में प्रकृति निष्क्रिय होती है और शिव की इच्छा के बिना नृत्य नहीं कर सकती। वह अपने द्वारा ही उदित होती है और नृत्य के द्वारा पदार्थों के प्रकम्पित तरंगों को ध्वनि में जाग्रत कर निष्क्रिय करती है और पदार्थ चारों ओर प्रकाश व चमक फैलाते हुए नृत्य करते प्रकट होते हैं। नृत्य उसकी विविध ध्वनियों को जारी रखता है। काल की पूर्णावस्था में नृत्यरत उन सभी रूपों और नामों को अग्नि द्वारा नष्ट कर देता है और नया विश्राम लेता है। यह कविता विज्ञान से कम नहीं है।[24]

शिव का नृत्य न केवल ब्रह्माण्डीय चक्र में सृजन और संहार को ही दर्शाता है बल्कि भारतीय रहस्यवाद में जन्म और मृत्यु की लय को सभी के अस्तित्व का आधार माना गया है। शिव-पत्नी के रूप में शक्ति प्रकट होती है, दोनों को 'युगनद्ध' प्रेम-मुद्रा में मन्दिरों की मूर्तियों में अंकित किया जाता है। उस अज्ञात पूर्णता की ऐसी परिकल्पना किसी भी पाश्चात्य दर्शन में नहीं मिलती। पाश्चात्य की तुलना में हिन्दू मान्यता में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्द्रिय आनन्द को कभी भी दमित नहीं किया गया है क्योंकि शरीर को सदैव ही मनुष्य का अभिन्न हिस्सा माना गया। हिन्दू अपनी इच्छाओं को अनिच्छा से नियन्त्रित करने की कोशिश नहीं करते बल्कि स्वयं को समझना प्रमुख उद्देश्य रहा है तभी हम अपनी सम्पूर्णता को, शरीर और मस्तिष्क द्वारा समझ सकेंगे। मध्ययुगीन हिन्दू तान्त्रिक शाखा में इन्द्रिय-प्रेम में दोनों को एक माना गया। उपनिषद्कार कहते हैं कि पुरुष की तरह जब वह नारी को अपनी बाँहों में समेट लेता है, उस समय वह बाहर-भीतर के विषय में कुछ नहीं जानता, तब वह व्यक्ति श्रेष्ठ ज्ञानी आत्मा के साथ मिलता है। उसी समय शिव जगत के विविध रूपों में माया को भी दर्शाते हैं जो कि मूलभूत न होकर सन्देह या भ्रम से भरा और सतत परिवर्तनशील है। वह सृजन को बनाये रखता है और अपने नृत्य को निरन्तर प्रवाह में रखता है।

हेनरिच जीमर के अनुसार उसकी बनावट जंगली आकर्षण से पूर्ण ब्रह्माण्डीय रश्मियों की वर्षा की तरह होती है। वस्तुत: उसकी उड़ती भुजाएँ और पैर, मानवीय धड़ उत्पन्न हो ब्रह्माण्ड में सृजन और संहार करते हैं, जन्म-मृत्यु का संतुलन और अन्त में ध्वंस या विनाश का कारण बनते हैं।

10वीं-12वीं शताब्दी में शिव की नृत्य मुद्रा मिश्र धातु से बनाई गयी थी। चार भुजाएँ जो ईश्वरीय सन्तुलन को दर्शाती हैं, इसकी गतिशील मुद्रा जीवन की लय और एकता को स्पष्ट करती है। नृत्य की विभिन्न मुद्राओं का विस्तार में इस प्रकार वर्णन है—भगवान के ऊपरी दाहिने हाथ में पकड़ा हुआ डमरू सृजन की प्राथमिक ध्वनि का प्रतीक, ऊपरी बाँयें हाथ में जलती हुई ज्वाला विनाश का तत्व है। दोनों हाथों का सन्तुलन जगत के सृजन और संहार के गत्यात्मक संतुलन को प्रदर्शित करता है। नर्तन में शान्ति का स्वरांकन है और चेहरे को दो हाथ अलग करते हैं, ध्रुव सृजन और विनाश को निगल जाता है जो तर्क से परे होता है। दूसरा दायाँ हाथ 'भय मत करो' को प्रदर्शित करता है, जो प्रतिपालन, रक्षा और शान्ति का प्रतीक है और बायाँ हाथ नीचे से उठते हुए पैरों की ओर होता है जो माया के आकर्षण से दूर रहने के भाव को दर्शाता है। भगवान का दैत्य के शरीर पर नृत्य करने का तात्पर्य मनुष्य का अज्ञान पर विजय प्राप्त करना है।

शिव का नर्तन ब्रह्माण्ड में निरन्तर ऊर्जा का निरन्तर प्रवाह है जो अनिश्चित प्रकार से एक-दूसरे में पिघलता जाता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान शिव के नृत्य को सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु पदार्थों से निर्मित मानता है। प्राच्य मान्यताओं में 'दैविक इच्छा' और 'ब्रह्म' की अवधारणा को कुछ-कुछ सामूहिक अवचेतन के रूप में माना है—

The Parallels between Schopen's Hquer's Cosmic will and the concepts of Brahman or the absolute unity, in eastern religions are particularly striking (Parrinder, 1964, p. 27) Schopen Hquer's ideas were later embraced, to some extent by Carl Jung in his theories of individuation (Self fulfilment of one's own nature as it is related to the world) and the collective unconscious (Rahani, 1991)[25]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समानुपात का सिद्धान्त—भौतिक विज्ञान में अणु समानुपातिक रूप में प्रतिबिम्ब और घूर्णन से जुड़े होते हैं। ये अन्तरिक्ष और काल दोनों में मिलते हैं। संघारण के नियम (जिसके अनुसार किसी भी वस्तु में निहित ऊर्जा का परिणाम नित्य है) के कारण ये घनिष्ठता से जुड़े होते हैं। इनमें सभी अणु समानुपातिक प्रकार से अन्तरिक्ष में स्थानान्तरित होते हैं और सभी अणुओं में संवेग होता है तथा जिनकी सम्पूर्ण ऊर्जा अन्तर्सम्बन्धित होती है। अन्त में संघारण के फलस्वरूप वैद्युतिक परिवर्तन होता है। जिन अणुओं में परिवर्तन होते हैं वे उनसे मिलकर स्थिर रहते हैं।

अणु जगत में समानुपातिक इकाई द्वारा भौतिक वैज्ञानिक प्रकृति के मूलभूत नियमों को प्रतिबिम्बित करते हैं जो मूलभूत समानुपातिक पदार्थ की बनावट को परिभाषित कर सकता है। ग्रीक विज्ञान में समानुपातिकता का ज्यामिती में महत्वपूर्ण स्थान है, दर्शन और कला की पहचान सौन्दर्य, एकता और सम्पूर्णता से होती है। पाइथागोरस समानुपातिक इकाई को सभी वस्तुओं का सार मानता है। प्लेटो ने भी चार परमाणु के तत्वों का आकार उसी के अनुरूप ठोस माना है। बहुत से ग्रीक खगोलवेत्ताओं के विचार से अतिमानवीय या आकाशीय गोल घेरे जो शरीर में गतिशील होते हैं वे गोल आकार ज्यामिति के सबसे श्रेष्ठ समानुपातिक अंश होते हैं।

पूर्वी रहस्यात्मक परम्परा में कभी-कभी समानुपातिक पद्धति का उपयोग ध्यान भावना या प्रतीक के रूप में होता है। परन्तु समानुपात की परिकल्पना उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखती है। चीन और जापान में जेन से प्रेरित पेण्टिग में एक कोनीय शैली या जापानी उद्यानों में पत्थरों के फुटपाथों की अनियमित व्यवस्था पूर्वी संस्कृति को ही दर्शाती है।

परिवर्तन का नियम—अणुओं के नियम की गतिमय व्याख्या हेतु एस-मैट्रिक्स का महत्वपूर्ण स्थान है। एस-मैट्रिक्स के आकार-प्रकार हाड्रेन्स (Hadrens) का निर्माण करता है। यह वह बल है जिसके द्वारा वे परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं और उनकी गणितीय बुनावट इस प्रकार की है कि तत्त्व केवल संघारण द्वारा प्रतिक्रिया करते हैं। हाड्रेन्स में अणुओं का सृजन हो सकता है। अतः एस-मैट्रिक्स शीशे की ऐकिक और हेड्रास (Hadrass) के नमूने समानुपाती हैं। इसमें तीन साधारण सिद्धान्त कार्य करते हैं—सापेक्षवाद का सिद्धान्त जो अन्तरिक्ष और काल से बँधा है जिसमें अणु स्वतन्त्र रूप से प्रतिक्रिया करते हैं, अन्तरिक्ष और काल के अनुस्थापन और स्थानान्तरण में परिवर्तन कर सापेक्ष क्रिया द्वारा अनुस्थापन, संवेग और ऊर्जा को क्रिया में लगाती है।

दूसरा क्वांटम सिद्धान्त है। इसमें एक अणु दूसरे अणु से अन्तर्क्रिया करता है या नहीं, इस बात का पता चलता है। यह बहुत ही शक्तिशाली सिद्धान्त है जो ऐकिक (Unitarity) नाम से जाना जाता है जिसमें एस-मैट्रिक्स तत्वों के निर्माण की सम्भावना को बहुत कुछ नियन्त्रित किया जाता है।

तीसरा सिद्धान्त है कार्य-कारण का। इसमें ऊर्जा और संवेग आकाशीय दूरी से स्थान्तरित होते हैं, और इनके अणु प्रतिक्रिया द्वारा निर्माण भी कर सकते हैं और दूसरे में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मिलकर नष्ट भी कर सकते हैं, यह तभी होता है जब बाद वाली प्रतिक्रिया पहली प्रतिक्रिया के बाद होती है।

पूर्वी रहस्यवाद की यही धारणा है कि वस्तुएँ और घटनाएँ जिन्हें हम ग्रहण करते हैं वे हमारे मस्तिष्क का सृजन हैं और यह एक निश्चित स्थिति की चेतना से उत्पन्न होती है और पुनः उसी में मिल जाती है, यही स्थिति मानवीय अनुभवों से परे की स्थिति है।

हिन्दू मान्यताओं के अनुसार हमारे चारों ओर का आकार-प्रकार और बनावट मस्तिष्क द्वारा निर्मित माया के अधीन है। और यही हमें उनसे गहराई से जोड़ती है जो अनिवार्यतः मनुष्य का भ्रम है। बौद्ध इसी भ्रम को अविद्या या अज्ञानता कहते हैं और यह मस्तिष्क को भ्रष्ट करने वाली स्थिति है। अश्वघोष ने कहा संसार में कुछ भी नहीं है, केवल मस्तिष्क की भ्रमात्मक अभिव्यक्ति है और उनकी अपनी कोई वास्तविकता नहीं है।[26]

चीनी चिन्तन के अनुसार हमारे चारों ओर सभी वस्तुएँ और घटनाएँ परिवर्तन से उत्पन्न नमूना होती हैं। इन्हें ट्राइग्राम्स और हेक्साग्राम्स की विभिन्न रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।[27] यह परिवर्तन हेक्साग्राम की रेखाओं से होकर गुजरता है।

परिवर्तन है बिना गति विश्राम छह रिक्त स्थानों से हो गुजरना
बिना किसी नियम के उग जाना और अस्त हो जाना।[28]

यही मात्र परिवर्तन है, जिसका यहाँ कार्य है। वैज्ञानिकों ने एक ओर प्रकृति के बूटस्ट्रैप (Bootstrap) दर्शन का विकास किया और दूसरी ओर एस-मैट्रिक्स (S-matrix) के रूप में अणुओं का मॉडल निर्मित किया।[29] आधुनिक भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत बूटस्ट्रैप के दर्शन में यान्त्रिकी जगत के चिन्तन के प्रति अन्तिम अस्वीकृति होती है। न्यूटन ने ब्रह्माण्ड की रचना को कुछ निश्चित मौलिक गुणों से युक्त अनिवार्य सत्ता के समूहों से निर्मित माना जो ईश्वर का विधान है। इसका पुनः विश्लेषण कर संशोधन सम्भव न था। नया चिन्तन जगत ब्रह्माण्ड को अन्तर्सम्बन्धित घटनाओं का गतिशील जाल मानता है जिनमें एक-दूसरे के गुणों का अनुकरण होता है और वे पूरे जाल के हिस्से हैं। बूटस्ट्रैप का दर्शन प्रकृति चिन्तन की पराकाष्ठा है जो पारस्परिक अनुरूपता लिए हुए है, जो पूर्वी चिन्तन के बहुत ही समीप है। ब्रह्माण्ड अविभाज्य है जहाँ सभी वस्तुएँ और घटनाएँ अन्तर्संबन्धित हैं अतः वे स्वस्पष्टता के बिना कोई अर्थ नहीं रखती। ताओवादी सन्तों के लिए जगत के सभी सिद्धान्त ब्रह्माण्डीय पथ या ताओ के ही हिस्से हैं और सभी नियम उसी के अन्तर्गत माने जाते हैं। ताओ की शिक्षा के अनुसार मनुष्य, पृथ्वी, स्वर्ग सभी ताओ के नियमों का और प्रकृति के यथार्थतः नियमों का अनुसरण करते हैं। अश्वघोष कहते हैं, सभी वस्तुएँ उनकी मूलभूत प्रकृति के अनुसार व्याख्यायित नहीं की जा सकतीं। वे भाषा के किसी भी क्षेत्र में पूर्णतः परिभाषित नहीं की जा सकतीं।[30]

बौद्ध और ताओ दोनों ही उसे शब्दों का जाल या परिकल्पनाओं का जाल कहते हैं। वह वस्तुओं और अर्थ की व्याख्या के बन्धन को तोड़ स्वतन्त्र रूप से सिद्ध करता है। जैन धर्म में परमाणु का अर्थ अधिक स्पष्ट है, वेदों ने इसे स्वीकार नहीं किया है। बौद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दर्शन में परमाणविक सिद्धान्तों में पहले हीनयान शाखा बाद में महायान शाखा में अविद्या के भ्रमात्मक वस्तु के रूप में अधिक व्यवहृत किया गया।

श्रीअरविन्द ने कहा है—प्रत्येक में सभी की भावनाएँ और सभी में प्रत्येक की भावनाएँ निहित होती हैं।[31] यह चिन्तन All in each and each in all महायान बौद्ध धर्म के 'अवात्मसक सम्प्रदाय' से बहुत मेल खाता है। 'अवात्मसक सूत्र' द्वारा यह स्पष्ट होता है जब बुद्ध ध्यान के पश्चात् जाग्रत अवस्था में आए तब उन्होंने जाना कि सांसारिक चेतना को बोधि अवस्था आत्मसात् कर अहं का विनाश करती है और सीमाबद्ध भावना का दमन होता है। इसका अन्तिम हिस्सा 'गण्डव्यूह' है जो युवा तीर्थयात्री सुधना और ब्रह्माण्ड के अनुभवों का विस्तार से वर्णन करता है।

यह ब्रह्माण्डीय जाल वस्तुओं और घटनाओं की अन्तर्भेदीय अवस्था है, वही अवतंसक सूत्र में इन्द्रजाल के रूपक द्वारा वर्णित हुआ है। सर चार्ल्स इलियट के शब्दों में इन्द्र के स्वर्ग में मोतियों का जाल है, वह ऐसे तरीके से सजाया गया है कि सारे प्रतिबिम्ब उसी में से दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक धूल के अंशों में भी अनगिनत बुद्ध उपस्थित हैं।[32] पहला बूटस्ट्रैप का नमूना इन्द्रजाल के रूपक को कह सकते हैं जो 2500 वर्ष पहले पूर्वी सन्तों द्वारा निर्मित हुआ था।

हेड्रान बूटस्ट्रैप में क्वांटम और सापेक्षता दोनों नियमों का मिश्रण होता है, जिस बल से अणु एक दूसरे से बँधे रहते हैं, यही मूल परिकल्पना है जहाँ आपस में विपरीत स्रोतों से विनिमित होते रहते हैं। यह कल्पना करना कठिन है कि किस प्रकार एक अणु सभी अणुओं को रखता है और एक ही समय में उनमें प्रत्येक का हिस्सा भी है। यह पूर्वी रहस्यवाद में ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य चिन्तन में भी पाया जाता है। विलियम ब्लेक की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ यही भाव दर्शाती हैं—

बालू के एक कण में सम्पूर्ण संसार को देखना
और स्वर्ग में जंगली फूल को
तुम्हारे हाथ की हथेली से असीम को पकड़ना
और एक घण्टे में आन्तरिक हो जाना

यहाँ कवि पूरे विश्व को बालू के एक कण में देखता है और आधुनिक भौतिक वैज्ञानिक एक हेड्रोन में पूरे विश्व को देखता है। यह पद्धति एक चेन से जुड़ी समझनी चाहिए जिसका अन्तिम सिरा मनुष्य की चेतना पर टिका है। यही ब्रह्माण्ड के रहस्यात्मक अनुभवों का आरम्भिक बिन्दु है। यह दृष्टिज्ञान है जो पूर्ण है जिन्हें शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यह लाओ त्जे (Lao Tze) के मस्तिष्क में 2000 वर्ष पहले से था, जब वह कहता है—

वह जो जानता है कह नहीं सकता
वह जो कहता है, जानता नहीं।

This new spirituality will be tolerant of both variety and change and will work together with the emerging new science to promote a vision of human wholeness and responsibility.[33]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्वी धर्मदर्शन कालहीन रहस्यात्मक ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जो कारणों से परे है और शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। इस ज्ञान का सम्बन्ध आधुनिक भौतिक विज्ञान से है लेकिन इसके कई दृष्टिकोण हैं, अन्य की तरह इसको निष्कर्षत: नहीं कहा जा सकता लेकिन असीमता के सन्दर्भ में इसका अनुभव किया जा सकता है।

बोधिप्राप्त व्यक्ति, जिसकी चेतना ब्रह्माण्ड को अंगीकार करती है—उनके लिए ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है जबकि उसका भौतिक शरीर ब्रह्माण्डीय मस्तिष्क का प्रदर्शन होता है, उसकी आन्तरिक दृष्टि उच्च सत्यता का एक भाव है और उसकी वाणी आन्तरिक सत्य और मन्त्रों के बल का एक अनुभव है।

रहस्य के परिप्रेक्ष्य में भौतिक विज्ञान ने इस भौतिक संसार में प्रकृति की आवश्यक वस्तुओं के विषय में जानकारी लेना प्रारम्भ कर दिया है। आवश्यक हो गया है वस्तुओं को और गहराई से समझना और सभी वस्तुओं और घटनाओं की एकता को जानना एवं यह स्वीकारना कि वह स्वयं और उसकी चेतना इस एकता का अभिन्न हिस्सा है। इस कारण रहस्यविद और भौतिक वैज्ञानिक एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक आन्तरिक पक्ष से आरम्भ होता है दूसरा बाहरी जगत से। उनके विचारों की एकता प्राचीन भारतीय चिन्तन से है जो ब्रह्म एवं आत्मा द्वारा पहचाने जाते हैं।

हम देखते हैं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान और पूर्वी रहस्य पहले से ही पूर्णत: सम्बद्ध नहीं लगते, जो बहुत कुछ सही है। यह जगत को विशिष्ट प्रकार से (Rational) अनुभव करते हैं और रहस्यविद विशिष्ट अन्तर्प्रज्ञा (Intuitive) से। ये दोनों ही पूर्णत: भिन्न हैं और भौतिक संसार में दूर या कुछ हद तक जुड़े हैं। जैसा कि चीनी कहते हैं, रहस्यविद ताओ की जड़ों को जानते हैं, लेकिन उनकी शाखाओं को नहीं और वैज्ञानिक उसकी शाखाओं को जानते हैं, जड़ों को नहीं।

विज्ञान को रहस्यवाद की आवश्यकता नहीं है और रहस्यवाद को विज्ञान की आवश्यकता नहीं है। रहस्यात्मक अनुभव हमें प्रकृति का गहराई से अध्ययन कराता है और विज्ञान आधुनिक जीवन के लिए अनिवार्य है। हमें संरचना की नहीं बल्कि रहस्यात्मक अन्तर्प्रज्ञा और वैज्ञानिक विश्लेषण में गत्यात्मक अन्तक्रियाओं के दिग्दर्शन की आवश्यकता है।

गतिशील सन्तुलन के लिए विशिष्ट भिन्नता सामाजिक और आर्थिक निर्माण हेतु आवश्यक होगी। सही अर्थों में सांस्कृतिक विद्रोह ही यह कर सकता है। हमारी सम्पूर्ण सभ्यता को बचाने के लिए इस परिवर्तन की परम आवश्यकता है। यिन और पूर्वी रहस्यवाद दोनों के संयोग से प्रकृति की पूर्णता और जीने की कला दोनों में एकता स्थापित हो सकती है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं में प्रचुर परिवर्तन हो रहे हैं, जिनमें रहस्यवाद और अध्यात्मवाद के साथ-साथ विज्ञान और धार्मिक परम्पराओं में साम्य स्पष्ट है। प्रसिद्ध विद्वान स्क्रोडिंजर ने अपने ग्रन्थ What is life में चेतना के जिस स्वरूप को स्पष्ट किया है उसे प्रतिपादित करता है। इसी प्रकार Toa of

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Physics के प्रसिद्ध लेखक ने भी इसी का प्रवर्तन किया है। आज जैसे कि ब्लूम अनेक वैज्ञानिक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ Spritual Dyanamic में यही स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध में पॉल डेविस और रॉबर्ट बेरी के ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पॉल डेविस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ The Mind of God में आध्यात्मिक विषयों को वर्णित किया है। हम माने या न माने पर यह कोरी कल्पना नहीं है कि समस्त ब्रह्माण्ड में सारे पदार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और कहीं न कहीं ब्रह्म के अस्तित्व को बरबस स्वीकार करना पड़ता है। रॉबर्ट बेरी ने इसी को और स्पष्ट किया है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि आज समूची वैज्ञानिक प्रक्रिया में एक विशेष परिवर्तन हो रहा है। और यह परिवर्तन प्राच्य रहस्यवाद के निकट है। उपर्युक्त लेखकों ने इसे सप्रमाण स्वीकार भी किया है।

मेरा मानना है कि भविष्य में भौतिक विज्ञान और प्राच्य रहस्यवाद में तदनुरूप मान्यताएँ और स्पष्ट होंगी, जिसे आज वैज्ञानिक रहस्यवाद कहा जाता है। अन्त में हम कह सकते हैं—

Like the water of a river
That in the swift flow of the stream great rock divides
Though our ways seem to have parted
I know that in the end we shall meet.

(Twelth century Japanese verse—Robert Berry, p. 158)

सन्दर्भ ग्रन्थ

दि ताओ ऑफ फिजिक्स

1. H.P. Stapp, op. cit, p. 1310 देखें पृ० 142—*Tao Physics*.
2. W. Heisenberg, *Physics and Philosophy* (Allen and Unwin, London, 1963, p. 96.
3. मुण्डक उपनिषद्, 2.2.5.
4. Lama Anagarika Govinda. *Foundation of Tibetan Mysticism* (Riden, London, 1973) See Modern Physics and Eastern Mysticism, p. 93.
5. *Lao Tze, Tao Teaching, Trans*, Ch'u Ta Koo (Allen And Unwin, London, 1970, ch. 1.
6. R. Wilhelm, *The I Ching or Book.*
7. *The Tao of Physics*, p. 168.
8. माध्यमिक कारिका वृत्ति quoted in T.R.V. Murti, The Central Philosophy of Buddhism (Allen and Unwin, London, 1955, p. 198, See Modern Physics and Eastern Mysticism.
9. M. Sacks *Space time and elementary Interactions in Relativity, Physics Today*, Vol. 22, February, 1969, p. 53.
10. D.T. Suzuki, Preface by B.L. Suzuki, *Mahayan Buddhism* (Allen & Unwin, London, 1959) p. 33.
11. Ibid, p. 149.

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

12. D.T. Suzuki, *The Essence of Buddhism*, Hozokan Kyoto, Japan, 1968, p. 53.
13. *Modern Physics and Eastrn Mysticism*, p. 199.
14. S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy* (Allen and Unwin, London, 1951.
15. *Tao Physics*, p. 199.
16. S. Radhakrishnan, P. cit, p. 367.
17. छान्दोग्य उपनिषद् 4.10.4
18. *Kuan-Tzu, trans*, W.A.Rickett (Hong-Kong University Press) XIII, 36.
19. Ibid, p. 280.
20. I Needham, *Science and Civilization in China*, Cambridge University Press, London, 1956, Vol. IV, p. 8-9.
21. Journey into Consciousness the Chakras, *Tantra and Jungian Psycology*, Charles Breaux, p. 161
22. Charles Breaux, p. 161.
23. A. David Neel, *Tibetan Journey* (John Lane, The Bodley Head, London, 1963) p. 186-7.
24. A.K. Coomarswamy, *The Dance of Shiva* (The Noonday Press, NewYork, 1969) p. 78.
25. *A Theory of Almost Everything*, A scientific and Religious quest for ultimate answers, Robert. p. 157.
26. *Tao Physics*, p. 293.
27. वही, पृ० 299 (Ibid, p. 352).
28. वही, पृ० 299 (R.Wilhelm, op.er. p. 348).
29. *Tao Physics*, p. 302.
30. Ashvaghosh, *The Awakening of faith*, Trans. D.T. Suzuki (open court, Chicago, 1900), p. 56.
31. S. Aurobindo, *The Synthesis of Yoga*, Aurobindo Ashram, Pondicherry, India,1957, p. 989.
32. C Elliot, *Japanese Buddhism* (Routiedge and Kegan Paul, London, 1959) p. 109-10
33. This new spirituality will be tolerant of both variety and change and will work together with the emerging new science to promote a vision of human wholeness and responsibility, *A Theory of Almost Everything*, A scientific and Religions quest of ultimate answers—Robert Barry, Ibid, p. 118.

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक-परिचय

प्रकाश परिमल—कवि, चित्रकार, कलाविद्, समालोचक, लोकसंस्कृतिमर्मज्ञ तथा प्राच्यविद्। राजस्थान विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम०ए०। परामनोविज्ञान विभाग (राज०वि०वि०) में अनुसन्धान अधिकारी एवं सम्पादक (पैरासाइकोलोजी) का कार्य (1964-65)। 50 से ऊपर शोधकर्ताओं को पी-एच०डी० व डी० लिट्० हेतु निर्देशन। 'मानदण्ड' (हिन्दी पाक्षिक), 'स्वायत्त-शासन' (हिन्दी द्वैमासिक), 'वातायन' (हिन्दी साहित्य मासिक) व अन्य पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन-परामर्श मण्डल के सदस्य। प्रकाशित ग्रन्थों में—'छूटी हुई एक स्मृतिगन्ध' (काव्य, 1970), 'फिर उपस्थित रंग' (काव्य), 'लोक-संस्कृति : रूप और दर्शन', 'अनीता' (उपन्यास) तथा काव्य संकलन, साहित्य समालोचना आदि कई पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त शीघ्र प्रकाश्य रचनाएँ—'वैदिक सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका', 'वेद के देवता स्वरूप और विज्ञान', 'वेदों में दार्शनिक धारणाओं का उत्कर्ष', 'वेद विज्ञान व्यवहार-विधि' आदि प्रमुख। धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय, विश्वम्भरा, युग-प्रभात आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 200 से अधिक रचनाएँ प्रकाशित।

डॉ० शीतलाप्रसाद पाण्डेय—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से धर्म तथा आगम-तन्त्र में स्वर्णपदक प्राप्त आचार्य एवं पी-एच०डी०। राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संगोष्ठी, सेमिनार में भागीदारी। 'आगम-तन्त्र' विषय पर दर्जनों अनुसन्धान पत्र प्रकाशित। सम्प्रति कालिदास अकादमी, उज्जैन द्वारा संचालित नाट्यशास्त्र सम्पादन योजना के अन्तर्गत अनुसन्धान सहायक पद पर वाराणसी कार्यालय में कार्यरत।

डॉ० एलरिक बारलो शिवाजी—15 अक्तूबर, 1932 में जन्म। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से 1968 में दर्शनशास्त्र में पी-एच०डी०। 'उज्जैन में वैष्णव धर्म', 'मालवा को ख्रिष्टिय मिशनों की देन', 'दर्शन', 'मानव और समाज', 'उज्जैन में कुम्भ', 'दर्शन की समस्याएँ', 'सद्गुण—एक अनुशीलन', आदि प्रकाशित पुस्तकें हैं। यू०जी०सी० द्वारा स्वीकृत प्रोजेक्ट 'स्वातन्त्र्योत्तर युग के दार्शनिक और उनका चिन्तन' (अप्रकाशित) पर कार्य। माधव महाविद्यालय, उज्जैन (म०प्र०) से आचार्य पद से सेवानिवृत्त। 80 से अधिक लेख प्रकाशित, 100 से अधिक धार्मिक उपदेश, विभिन्न चर्चों के आयोजनों में शामिल।

मौलाना मोबारक करीम जावहर—जन्म 12 जुलाई सन् 1945। दिल्ली, देववन, अलीगढ़ आदि प्रसिद्ध संस्थानों में विभिन्न धर्मों का अध्ययन। सन् 1974 ई० में कुरान शरीफ का अनुवाद, 40 के लगभग पुस्तकों का प्रकाशन। सूफी धर्म के विशेषज्ञ, 'इण्डियन सूफी समाज' नामक संस्था के स्थापक। सन् 2000 ई० में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जनसेवा और साहित्य-सेवा के लिए 'मिलेनियम अवार्ड' से सम्मानित। सर्वधर्म समन्वय से सम्बन्धित इनकी रचना 'धर्मग्रन्थ-सार' का शीघ्र प्रकाशन।

प्राणगोपाल मुखोपाध्याय (1869-1951)—महायोगी बालानन्द ब्रह्मचारी (वैद्यनाथधाम) के शिष्य। नदिया, कृष्णनगर, नवद्वीप, पश्चिमबंगाल के अधिनिवासी। बंगाल और असम के डेपुटी पोस्टमास्टर जनरल पद पर सुशोभित थे। अध्यात्मवाद तथा शोधधर्मी कार्य से सम्बन्धित कई पुस्तकों के रचयिता।

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'—गम्भीर अध्येता और साधक तथा विद्वान्। 'वैष्णव साधना और सिद्धान्त : हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' उनका मौलिक ग्रन्थ है। बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने उक्त ग्रन्थ उनकी मृत्यु-पश्चात् प्रकाशित किया।

जयशंकर त्रिपाठी—जन्म संवत् 1985 वि०, इलाहाबाद जनपद के वदौली गाँव में हुआ। जाने-माने संस्कृत के विद्वान्, लेखक, काव्य, नाटक, निबन्ध, इतिहास तथा साहित्यालोचन पर मर्मस्पर्शी और मौलिक पुस्तकों की रचना की है। इतिहास, पुरातत्त्व, वन-पर्वत की यात्राओं और साहित्यिक कृतियों का सूक्ष्म अनुशीलन। 'आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास दर्शन', 'कवि का रचना-व्यापार और साहित्यशास्त्र', 'गाता हुआ पहाड़' (नाटक), 'कुरुक्षेत्र का सवेरा' (नाटक), काव्य में 'आंजनेय', 'मिट्टी के मानव', 'मातृभूमि के लिए'। निबन्ध में 'माताभूमि', 'पर्वत से झाँकता वक्रनयन', 'आठवाँ अमृत', 'विस्मय के विकल्प' आदि उल्लेखनीय हैं।

डॉ० लखबीर सिंह 'निर्दोष'—3 जुलाई, 1939 में अमृतसर में जन्म। पंजाब में प्रमुख हिन्दी स्नातकोत्तर कॉलेजों में अध्यापन एवं अनेक साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध। अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन, चार काव्य-संकलन, पंजाबी साहित्य की अनेक विधाओं का हिन्दी में अनुवाद। आध्यात्मिक एवं रहस्यवाद से सम्बन्धित अनेक शोध-आलेखों का प्रकाशन। हिन्दी जगत के विशिष्ट कवि एवं साहित्यकार। कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'बीसवीं शताब्दी के हिन्दी एवं पंजाबी रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन'—विषय पर शोध करने वालों में से प्रथम अनुसन्धित्सु।

आचार्य कल्याणमल लोढ़ा—पूर्व कुलपति, जोधपुर विश्वविद्यालय एवं वरिष्ठ आचार्य, हिन्दी विभाग एवं अध्यक्ष बोर्ड ऑफ संस्कृत स्टडीज़ (सेवानिवृत्त)। जाने-माने चिन्तक, आलोचक व विद्वान, प्रभावी एवं ओजस्वी वक्ता, जिन्हें वाणी का जादूगर कहा जाता है। भारतीय हिन्दी परिषद्, बिहारी पुरस्कार समिति, मदनमोहन अग्रवाल सम्मान समिति, भारतीय लेखक संघ व अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थाओं के अध्यक्ष। भारतीय विद्या भवन, पी०ई०एन०, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (आगरा) आदि से सक्रिय सम्बन्ध। विद्यासागर, साहित्य वाचस्पति, आचार्य कलाश्री, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वारा हिन्दी विद्वान सेवा-सम्मान आदि अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। अनेकानेक शोध निबन्ध व शोध योजनाओं एवं ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक। कई पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न निबन्ध प्रकाशित। वाग्मिता, वाक्पथ, इतस्ततः वाक्तत्त्व, वाग्दोह, वाक्सिद्धि, प्रणवतत्त्व, आधुनिक हिन्दी कविता के विभिन्न पात्र, प्रसाद : सृष्टि और दृष्टि, आदि मौलिक ग्रन्थों का सम्पादन। सन् 2002 में वाग्द्वार के लिए बिहारी पुरस्कार से सम्मानित। वर्तमान पता—2ए देशप्रिय पार्क, कलकत्ता-29

डॉ० वसुन्धरा मिश्र—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शोध-कार्य, पुस्तक 'भगवान् बुद्ध से सम्बद्ध हिन्दी काव्य : एक अध्ययन'; कविता, कहानी, निबन्ध आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित, कई सम्पादन-कार्य। अनुवाद—'रविन्द्रनाथ के संगीत में प्रयुक्त उद्‌भिद् और फूल' प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं की सदस्या, साहित्यिक गतिविधियों, हिन्दी तथा बौद्ध सेमिनारों तथा गोष्ठियों में सक्रिय भाग। कोलकाता में सेठ आनन्धराम जयपुरिया कालेज में अध्यापन। वर्तमान पता—110सी, श्री एपार्टमेंट, 138 जी.टी. रोड हावड़ा (दक्षिण)-2

डॉ० पुष्पलता जैन—जैन धर्म और दर्शन की प्रसिद्ध विदुषी 'मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्य भावना' की लेखक। निवास—तुलसी भवन, न्यू एक्सटेंशन एरिया सदर, नागपुर-440001

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी—काव्य शास्त्र एवं दर्शन के अप्रतिम विद्वान्। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद से सेवानिवृत। आपेक प्रमुख ग्रंथ—'रसविमश', 'साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष', 'काव्य तत्त्व विमर्श', 'भारतीय साहित्य दर्शन', 'तुलनात्मक काव्य शास्त्र', 'आधुनिक कला और दर्शन'। वर्तमान पता—डी 4, देवास रोड, उज्जैन।

डॉ० शुकदेव सिंह—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राचीन हिन्दी साहित्य के पूर्व प्रोफेसर। साहित्य और संस्कृति के लिए देश-देशान्तर में विख्यात। कबीर पर अनेक कृतियाँ देश-विदेश में प्रकाशित। आधुनिक साहित्य में भुवनेश्वर के कृतित्व का सम्पादन तथा आधुनिक साहित्य और काशी के धर्म-दर्शन इतिहास और संस्कृति के लिए विशेष रूप से ज्ञातः। इस समय रैदास अकादमी के निदेशक। वर्तमान पता—कबीर विवेक, 171-बी, ब्रिज इन्क्लेव, सुन्दरपुर, वाराणसी-221005

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संत-महात्मा जीवन चरित

प्रमुख ग्रन्थ

साधना और सिद्धि	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद	*सं० प्रो० कल्याणमल लोढ़ा व डॉ० वसुन्धरा मिश्र*
सनातन हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म	*श्यामसुन्दर उपाध्याय*
एक विश्व : एक संस्कृति	*डॉ० व्रजवल्लभ द्विवेदी*
बृहत श्लोक संग्रह	*सं० प्रो० कल्याणमल लोढ़ा व अवधेशप्रसाद सिंह*
भारतीय संस्कृति और परिवर्तन की चुनौती	*सं० सत्यप्रकाश मित्तल*
प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक	*डॉ० विमलमोहिनी श्रीवास्तव*
भारतीय धर्म साधना	*पं० गोपीनाथ कविराज*
सृष्टि और उसका प्रयोजन	*मेहेर बाबा*
स्वामी दयानन्द जीवनगाथा	*भवानीलाल भारतीय*
शिवस्वरूप बाबा हैड़ाखान	*सद्गुरुप्रसाद श्रीवास्तव*
करुणामूर्ति बुद्ध	*डॉ० गुणवन्त शाह*
महामानव महावीर	*डॉ० गुणवन्त शाह*
मारण पात्र (योगी, साधकों तथा तांत्रिकों के चमत्कार)	*अरुणकुमार शर्मा*
उत्तराखण्ड की सन्त परम्परा	*डॉ० गिरिराज शाह*
सोमबारी महाराज (उत्तराखण्ड की अनन्य विभूति)	*हरिश्चन्द्र मिश्र*
सन्त रैदास	*श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला*
मनीषी की लोकयात्रा	*डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
साधुदर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2-3)	*पं० गोपीनाथ कविराज*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन	*नन्दलाल गुप्त*
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
ज्ञानगंज	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
क्रम-साधना	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
अखण्ड महायोग	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
श्रीकृष्ण प्रसंग	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
दीक्षा	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
सनातन-साधना की गुप्तधारा	*म०म०पं० गोपीनाथ कविराज*
पुराण पुरुष योगिराज श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी	*सत्यचरण लाहिड़ी*
योग एवं एक गृहस्थ योगी : योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी	*शिवनारायण लाल*
योगिराज तैलंग स्वामी	*विश्वनाथ मुखर्जी*

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ब्रह्मर्षि देवराहा-दर्शन	डॉ० अर्जुन तिवारी
भारत के महान योगी (भाग 1-10)	विश्वनाथ मुखर्जी
भारत की महान साधिकाएँ	विश्वनाथ मुखर्जी
महाराष्ट्र के संत-महात्मा	ना०वि० सप्रे
पूर्वांचल के संत महात्मा	परागकुमार मोदी
कथा त्रिदेव की	रामनगीना सिंह
उत्तिष्ठ कौन्तेय	डॉ० डेविड् फ्राली, अनु० केशवप्रसाद कायाँ
वाग्विभव	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
वाग्दोह	प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
गुप्त भारत की खोज	पॉल ब्रंटन
जपसूत्रम (प्रथम खण्ड व द्वितीय खण्ड)	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
सोमतत्त्व	सं० प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
वेद व विज्ञान	स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
श्रीकृष्ण : कर्म दर्शन	शारदाप्रसाद सिंह
रावण की सत्यकथा	रामनगीना सिंह
कृष्ण और मानव सम्बन्ध (गीता)	हरीन्द्र दवे
कृष्ण का जीवन संगीत (गीता)	डॉ० गुणवंत शाह
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	अनु० ना० वि० सप्रे
श्रीमद्भगवद्गीता (3 खण्डों में)	श्री श्यामाचरण लाहिड़ी
संत कबीर और भगताही पंथ	डॉ० शुकदेव सिंह
कथा राम कै गूढ़ (तुलसी)	डॉ० रामचन्द्र तिवारी
संतो राह दुओ हम दीठा (कबीर)	सं० डॉ० भगवानदेव पाण्डेय
कृष्णायन	रामबदन राय
श्यामाचरण क्रियायोग व अद्वैतवाद	अशोककुमार चट्टोपाध्याय
रामायण-मीमांसा	करपात्रीजी महाराज
भक्ति-सुधा	करपात्रीजी महाराज
श्रीभागवत-सुधा	करपात्रीजी महाराज
श्रीराधा-सुधा	करपात्रीजी महाराज
भ्रमर-गीत	करपात्रीजी महाराज
गोपी-गीत	करपात्रीजी महाराज
श्रीविद्या-रत्नाकर	करपात्रीजी महाराज
श्रीविद्या वरिवस्या	करपात्रीजी महाराज
श्रीभुवनेश्वरी वरिवस्या	श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ
श्रीमहागणपति वरिवस्या	श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

पूर्व कुलपति, जोधपुर विश्वविद्यालय एवं वरिष्ठ आचार्य, हिन्दी विभाग एवं अध्यक्ष बोर्ड ऑफ संस्कृत स्टडीज़ (सेवानिवृत्त)। जाने-माने चिन्तक, आलोचक व विद्वान, प्रभावी एवं ओजस्वी वक्ता, जिन्हें वाणी का जादूगर कहा जाता है। भारतीय हिन्दी परिषद्, बिहारी पुरस्कार समिति, मदनमोहन अग्रवाल सम्मान समिति, भारतीय लेखक संघ व अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक-शैक्षणिक संस्थाओं के अध्यक्ष। भारतीय विद्या भवन, पी०ई०एन०, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (आगरा) आदि से सक्रिय सम्बन्ध। विद्यासागर, साहित्य वाचस्पति, आचार्य कलाश्री, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान द्वारा हिन्दी विद्वान सेवा-सम्मान आदि अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। अनेकानेक शोध निबन्ध व शोध योजनाओं एवं ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक। कई पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न निबन्ध प्रकाशित। वाग्मिता, वाक्पथ, इतस्ततः वाक्तत्त्व, प्रणवतत्त्व, आधुनिक हिन्दी कविता के विभिन्न पात्र, प्रसाद : सृष्टि और दृष्टि, आदि मौलिक ग्रन्थों का सम्पादन। सन् 2002 में 'वाग्द्वार' के लिए बिहारी पुरस्कार से सम्मानित।

डॉ० वसुन्धरा मिश्र

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से शोध-कार्य, पुस्तक 'भगवान् बुद्ध से सम्बद्ध हिन्दी काव्य : एक अध्ययन'; कविता, कहानी, निबन्ध आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित, कई सम्पादन-कार्य। प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं की सदस्या, साहित्यिक गतिविधियों, हिन्दी तथा बौद्ध सेमिनारों तथा गोष्ठियों में सक्रिय भाग। कोलकाता में सेठ आनन्दराम जयपुरिया कालेज में अध्यापन।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

A453

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal